प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास

(प्रारम्भ से ६०० ई. तक)

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत नवीन पाठ्यक्रम के अनुरूप)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ग्रन्थांक - ३०५

प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास

(प्रारम्भ से ६०० ई. तक)

लेखक
डॉ० विशुद्धानन्द पाठक
पूर्व प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६-महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - २२६००१

दो शब्द

उत्तर प्रदेश ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से विराट संगम भूमि होने के कारण उदारता, सर्वग्राहिता के साथ-साथ लोक तथा राष्ट्र की साधना का प्रदेश रहा है। यह भारत का हृदय प्रदेश है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति प्रदेश ने एक विशेष दायित्व का निर्वाह किया है। हिन्दी भारतीय अस्मिता और चेतना की संवाहक बनकर राष्ट्र के सुन्दर भविष्य के निर्माण का स्वप्न जन-जन में जगाती है। भारत के कोटि-कोटि स्वरों में गुंजित राष्ट्रभाषा हिन्दी के वाङ्मय की श्रीवृद्धि के चतुर्दिक विकास के प्रति उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान पूर्णतः कटिबद्ध है।

संस्थान की विविध प्रकाशन योजनाओं के अन्तर्गत साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, कला, संगीत, मानवशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, संस्कृति, पत्रकारिता, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, समाजशास्त्र, तकनीकी, बाल साहित्य आदि विषयों की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के ग्रन्थ अकादमी प्रभाग द्वारा 'प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास' पुस्तक का प्रकाशन नवीन पुष्प के रूप में हो रहा है। प्राचीन भारतवर्ष वर्तमान भारत से बहुत बड़ा था। यह क्षेत्र ८° अक्षांश से ३७° अक्षांश तथा ६१° तथा ७३° देशान्तर दक्षिण के बीच स्थित था। प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से यह सारा क्षेत्र उत्तर में सिन्धु और गंगा के दो मैदानों तथा विन्ध्याचल के दक्षिण तीनों और समुद्रों से घिरे हुए एक प्रायद्वीपी भाग द्वारा मुख्यतः तीन भागों में बँटा हुआ था। प्राचीन काल से भारत मूलतः कृषि प्रधान देश है इसलिए प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन की प्रासंगिकता और उपयोगिता आज भी है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के इस नवीन प्रकाशन पर बधाई। पुस्तक के विद्वान लेखक डॉ. विशुद्धानन्द पाठक के प्रति आभार। आशा है पुस्तक प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के विद्वानों, विद्यार्थियों और सुधी समीक्षकों के मध्य अपनी उपादेयता सिद्ध करेगी।

सोम ठाकुर
कार्यकारी उपाध्यक्ष

आमुख

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन को विषयगत दृष्टि से कई कालक्रमों में विकसित हुआ देखा जा सकता है। स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व जहाँ राजनीतिक इतिहास मात्र तक विभिन्न अध्ययन सीमित थे, वहीं उसके बाद, विशेषतः १६५०-१६६० के बाद, उस अध्ययन के आयाम सांस्कृतिक जीवन, विशेषतः भौतिक संस्कृति, के विभिन्न पक्षों के वृत्त की ओर विस्तृत होते गये। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के अतिरिक्त क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों ने भी जबसे पुरातात्त्विक महत्त्व के स्थानों की खुदाइयों का काम अपने हाथों में लिया तबसे नयी पुरातात्त्विक प्राप्तियों की एक बाढ़ सी आ गयी, जिनसे ऐतिहासिक शोध का विषयगत विस्तार बहुत बढ़ गया। फलतः प्राचीन भारतीय जीवन के आर्थिक पक्षों पर बहुविध कृतियाँ प्रकाशित हुईं। प्रकाशित अथवा अप्रकाशित शोधग्रंथों की गणना असंभव है और उनके दृष्टिभेद को देखते हुए सिद्धान्तवादिओं की भी संख्या कम नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि सिद्धान्तवादिओं ने अपना दबाव बनाये रखने में कोई कोरकसर भी नहीं उठा रखी है। तथापि ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है कि अपनी विभिन्न गुणवत्ताओं के बावजूद अभी भी ऐसी कृतियों का अभाव ही है जो समग्र रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रमुख आर्थिक पक्षों को कालक्रमानुसार सुबोध और अपेक्षया भी, पूर्णरूप से, उपस्थित करती हों। प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास विषयक अधिकांश कृतियाँ या तो विषय-विशेष के अध्ययनों तक सीमित हैं अथवा विषय विशेष कालखण्डों तक सीमित हैं। उनकी एक बहुत बड़ी संख्या तो क्षेत्र विशेषों के अध्ययनों मात्र को अपना विषय बनाती है। ऐसा नहीं है कि समग्र प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास पर पुस्तकों का बिल्कुल ही अभाव है। किन्तु एक तो उनकी संख्या बहुत सीमित है और दूसरे यह भी है कि उनकी स्रोतसामग्री प्रायः साहित्यिक ग्रंथों तक ही सीमित है। यह भी सत्य है कि वे अनेक दशकों पूर्व लिखी गयी थीं, अतः वे नितनूतन शोध ों के अभाव से भी ग्रस्त हैं। और अब वे पूरी तरह अव्यवहार्य ही प्रतीत होती हैं। इस स्थिति के लिए उनके रचयिता दोषी नहीं हैं। उनमें से बहुत तो आधुनिक पुरातात्त्विक खोजों की जानकारी से ही वंचित थे और उनके सम्मुख साक्ष्यों की मात्रा भी बहुत सीमित थी। किन्तु इधर उत्खननों से जुड़े हुए अनेक पुरातत्त्वज्ञों ने इस विषय से सम्बद्ध बहुत अधिक सामग्री उपस्थित की है और दिनोंदिन उसका क्षितिज बढ़ता ही जा रहा है। तथापि इन पुरातत्त्वज्ञों की स्वनिर्मित रचनाएँ अपने संकुचित विषय की ओर इतनी अधिक उन्मुख हैं कि शुद्ध ऐतिहासिक अध्ययनार्थिओं को उनके भीतर के मोती निकाल पाना कठिन हो जाता है। प्रायः उन्हें ये कृतियाँ या तो अत्यंत तकनीकी प्रतीत होती हैं या सीमित भूगोल क्षेत्र वाली और चुनिन्दे विषय मात्रों तक घूमती हुई प्रतीत होती हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के सामान्य पाठकों के सम्मुख उनका उपयोग अत्यन्त सीमित और संकुचित सा हो

जाता है। फिर भी प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास की संरचना में पुरातत्त्वज्ञों के योगदान की अनदेखी नहीं की जा सकती। विषय से सम्बद्ध उनके निष्कर्षों और निष्पत्तियों से उस इतिहास के अध्ययन को एक नयी दिशा मिली है। चित्रित धूसर भृद्भाण्डों और उत्तरी कृष्णमार्जित भृद्भाण्डों के युग के अनेक स्थानों पर होने वाली खुदाइयों से जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनके आधार पर नये ऐतिहासिक निष्कर्षों के निर्धारण किये गये हैं। वैदिक और बौद्ध साहित्य से ज्ञात आर्थिक सूचनाओं का इस उत्खनित सामग्री से तालमेल बैठाते हुए कुछ मूर्धन्य इतिहासकारों ने कृषि और निवेशन के क्षेत्र में कुछ नयी निष्पत्तियाँ निकाली हैं जो अपनी एक विशेष सिद्धान्तपरकता के बावजूद ऐतिहासिक अध्ययन की गति और दिशा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

पुरातत्त्व और साहित्य के गठबन्धन सहित, उनकी अन्याश्रयिता और परस्पर भेद को दर्शाते हुए दोनों के समवेत साक्ष्यों के आधार पर एक सुगठित, संक्षिप्त होते हुए भी विषयसम्पन्न और सुपठ पुस्तकाकार चित्रण की अब भी एक महती आवश्यकता है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अध्ययन करने वालों की संख्या तो प्रभूत है और उसमें लिखने वालों के लिए बाजार भी विश्वव्यापी है, किन्तु हिन्दी भाषा का उपयोग करने वालों की उपेक्षा उचित नहीं है। उनकी संख्या भी रोज रोज बढ़ती ही जा रही है। किन्तु उनके सामने ज्ञान सामग्री का प्रायः बिल्कुल ही अभाव है। प्रस्तुत प्रयत्न इन दोनों भाषाओं को समान रूप से समझने और प्रयोग करने वाले अध्यापकों और अध्यापितों को ध्यान में रखकर ही उपस्थित है। यह विषय प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए संस्तुत है, किन्तु भारतीय भाषाओं, विशेषतः हिन्दी, में तो पाठ्यसामग्री प्रायः नदारद है। इस कमी को दूर करने में यह कृति कुछ सीमा तक सहायक होगी, ऐसा विश्वास है। किन्तु यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उपर्युक्त उद्देश्य की सम्पन्नता हेतु विषय को सम्पूर्ण रूप से उपस्थित करने वाली कोई सुपठ रचना किसी एक जिल्द में उपस्थित करना बहुत ही श्रमसाध्य और कठिन है। यदि प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास की परिधि को १२०० ई० तक विस्तृत मान लिया जाए तो यह कार्य तो और भी गुरुतर और भारी भरकम हो जाता है। अतः इसे दो जिल्दों (भागों) में सम्पन्न करना ही यहाँ संकल्पित है। इस दृष्टि से इस प्रथम भाग की काल सीमा ६०० ई० तक ही सीमित रखी गयी है।

इस प्रथम भाग में कुल नव अध्याय हैं। प्रथम अध्याय प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास की भौगोलिक और पारिस्थितिकीय पृष्ठभूमि को उपस्थित करता है। अगले दो अध्यायों में उन सभी देशी और विदेशी स्रोतों के समीक्षात्मक विवेचन हैं, जिनके आधार पर प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के भवन की भित्ति खड़ी है। साहित्यिक, पुरातात्त्विक, अर्थशास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय साक्ष्यों को 'देशी' की संज्ञा दी गयी है और विदेशी लेखकों, साधारण विदेशी यात्रिओं अथवा धर्मयात्रिओं के विवरणों को 'विदेशी' साक्ष्यों में समाहित किया गया है। इन सबकी आर्थिक विषयवस्तुओं, उनके लेखन की पृष्ठभूमि, उनकी गुणवत्ता

अथवा छिछलेपन, स्वीकार्यता अथवा अस्वीकार्यता तथा साक्ष्यरूपों में उनका महत्त्व क्या है, इन सबकी व्यापक और विश्लेषणात्मक चर्चाएँ अध्यापकों और अध्यापितों को उनसे परिचित कराने की ओर अभिप्रेत हैं। चौथे अध्याय में पुरातात्त्विक पृष्ठभूमि का विवेचन है। पाँचवें अध्याय का विषय है ग्राम, उसकी संरचना, संगठन, सन्निवेश और विभिन्न प्रकार की भूमिसम्पदा। छठें और सातवें अध्याय प्राचीन भारतीय कृषि के प्रारम्भ, विकास तथा विस्तार के विवरणों को समर्पित हैं, जो एक ऐतिहासिक और तैथिक क्रम में पुरातत्त्व और साहित्य के गठबन्धन से निःसृत निष्पत्तियों द्वारा विषय को एक व्यापक आयाम देते हैं। वहीं यह भी वर्णित है कि प्राचीन भारत में कृषि के विभिन्न साधक तत्त्व क्या क्या थे- यथा खाद, बीज, पानी और सिंचाई, भूमि एवं कृषि श्रमिक। दुर्भिक्ष जैसी अनेक प्राकृतिक आपदाओं के भी विवरण है, इन विषयों से सम्बद्ध सभी विवेचन यहाँ प्राप्त होंगे। आठवें अध्याय में राजकीय राजस्व संवंधी एक विशद चर्चा है जिसमें ऐसा कोई भी राजस्वस्रोत नहीं है, जिसका ब्यौरेवार, ऐतिहासिक, तैथिक तथा क्रमागत विवरण न तो, चाहे वह स्रोत कृषिपरक हो अथवा व्यावसायिक, व्यापारिक और वाणिज्यिक हो। विभिन्न करों के स्वरूप, उनकी मात्राएँ, यथासंभव उनकी परिभाषाएँ, उनके क्रमिक प्रयोग अथवा अप्रयोग, करभार की सह्यता अथवा अधिकता, करारोपण और करमुक्ति के सिद्धान्त तथा प्राप्त राजस्व के विभिन्न राजकीय मदों में व्यय एवं आय-व्यय के सिद्धान्तों की समीक्षात्मक उपस्थिति ही इन विवरणों के उद्देश्य हैं। पुस्तक का नवाँ अध्याय व्यापार और वाणिज्य से सम्बद्ध है। इसमें भारत के विदेशों से होने वाले व्यापार के विस्तृत विवेचन हैं, जहाँ पश्चिम और पश्चिमोत्तर भारत सहित अन्यान्य क्षेत्रों से विभिन्न देशों को जाने वाले व्यापारपथों का सिलसिलेवार विवरण है। इसी प्रकार, आन्तरिक व्यापारपथों की भी चर्चाएँ उपस्थित हैं। व्यापार (आन्तरिक और बाह्य दोनों) की विभिन्न वस्तुएँ क्या थीं, व्यापार में उपस्थित होने वाली कौन-कौन सी बाधाएँ थीं, राज्य का व्यापार पर कितना नियंत्रण था तथा विभिन्न प्रकार के कौन कौन से व्यावसायिक संघ थे, इन सबके बोधगम्य विवेचन इस अध्याय में उपस्थित हैं।

इस कृति के प्रणयन का श्रेय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली को है। अवकाश प्राप्त अध्यापकों की सेवाओं को उच्चस्तरीय पुस्तकलेखन की योजना के तहत आयोग ने मुझे दो वर्षों तक एक अध्ययनवृत्ति की स्वीकृति दी थी, जिसके उपयोग द्वारा यह कृति उपस्थित हो सकी। किन्तु इस बात का मुझे खेद है कि पाण्डुलिपि के प्रणयन और अब इसके प्रकाशन के बीच में लगभग दस वर्षों का अमूल्य समय कई कारणों से व्यर्थ चला गया। इसे संयोग ही कहा जा सकता है। इस बीच पाण्डुलिपि हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश के दफ्तरों में धूल चाटती रही। अन्ततः संस्थान ने इसके प्रकाशन को हाथ में लिया है। एतदर्थ मैं उसका आभारी हूँ।

४७ए, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५ विशुद्धानन्द पाठक

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

संकेत सारिणी

अं.नि.	-	अंगुत्तर निकाय
अथर्व.	-	अथर्ववेद
इ.ऐ. या इऐ.	-	इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी
इहिक़ा.	-	इण्डियन् हिस्टारिकल् क़ार्टर्ली
ए.इ.	-	एपिग्राफिया इण्डिका
अर्थ. या कौ. अर्थ.	-	कौटिलीय अर्थशास्त्र
गौतम.	-	गौतम धर्मसूत्र
जबिओरिसो.	-	जर्नल ऑफ बिहार ओरिसा रिसर्च सोसायटी, पटना
जबिरिसो.	-	जर्नब, ऑफ् बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना
जराएसो.	-	जर्नल् ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लण्दन
जएसो. बेगाल	-	जर्नल ऑफ् एशियाटिक सोसायटी ऑफ् बेंगाल
डिपापाने	-	डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स - जी.पी. गलोलशेकर
नारद.	-	नारद स्मृति
पाटेसो.	-	पार्लिटेक्ट्स सोसायटी
पेरिप्लस्	-	पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी
म.नि.	-	मज्झिम निकाय
मनु.	-	मनुस्मृति
महा.	-	महाभारत
याज्ञ.	-	याज्ञवल्क्य स्मृति
रघु.	-	रघुवंश-कालिदास
वा.रा.	-	वाल्मीकि रामायण
विष्णु.	-	विष्णु स्मृति

पहला अध्याय

भौगोलिक और पारिस्थितिकीय पृष्ठभूमि

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था और भौगोलिक पृष्ठभूमि

भारतीय आर्थिक इतिहास का अध्ययन इस उपमहाद्वीप की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किये बिना असम्भव और अपूर्ण होगा। देश की बनावट – यहाँ के पर्वतों, नदियों, मैदानों, पठारों, जंगलों और दलदलों ने उस इतिहास को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित किया। विभिन्न युगों में होने वाले अनेकानेक भौगोलिक परिवर्तनों-विशेषतः विभिन्न नदियों के या तो सूख जाने अथवा उनके मार्ग-परिवर्तनों, जंगलों के विनाश और पर्यावरण सम्बन्धी विभिन्न उलटफेरों के कारण देश के आर्थिक स्वरूपों में कभी तो बड़े त्वरित और कभी बड़ी धीमी गति वाले परिवर्तन प्रायः सर्वदा ही होते रहे। साथ ही प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक परिवर्तनों के कारण अथवा भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि के कारण भी आर्थिक विकास की गति में तेजी आयी। इन दृष्टियों से प्राचीन भारतीय भूगोल की मुख्य-मुख्य बातों पर एक मोटी दृष्टि फेरना आवश्यक है।

प्राकृतिक परिधि

प्राचीन भारतवर्ष वर्तमान भारत से बहुत बड़ा था। उसकी सीमा में आज के पाकिस्तान, भारत और बांग्लादेश जैसे तीन स्वतंत्र राज्य पूरी तरह समाहित थे। वह, कई बार इस विशाल भूक्षेत्र की अनेकानेक स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों के होते हुए भी, प्राकृतिक दृष्टि से एक स्वतंत्र इकाई था। उत्तर में हिमालय[1] इसे पश्चिम एशिया और उत्तर एशिया से अलग करते हुए एक स्वतंत्र रूप प्रदान करता था[2] और उसकी दो बाहुएँ पूर्व और पश्चिम की दिशाओं में नीचे समुद्रों में कुछ तिरछे घुसती हुई उसके स्वतंत्र आकार को पूर्णता प्रदान करती थीं। ठीक इसी प्रकार पश्चिम में अरब सागर तथा दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में हिन्द महासागर ने भी पश्चिम एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया से उसे स्वतंत्र बनाये रखा था। हिमालय और उससे निकलने वाली सैकड़ों छोटी-बड़ी नदियों, उनकी प्राकृतिक सम्पदा तथा मानसूनी हवाओं द्वारा प्रदत्त प्रभूत वर्षाजन्य समुन्नत खेती के कारण इस विशाल भूखण्ड में अनेक नदी घाटी-सभ्यताओं का विस्तार हुआ।

---

(१) यूनानी लेखकों ने हिमालय के विभिन्न भागों को अलग-अलग नाम दिये हैं। यथा काकेशश को पेरोपनिसस् अथवा पैरोपभिसस् (एरियन्, दि ऐनेबैसिस् ऑफ अलेक्जैण्डर, भाग ५, अध्याय ५ : स्ट्रैबो, ज्यॉग्राफी (अंग्रेजी अनुवाद, लोयेब क्लासिकल् सीरिज, पन्द्रहवाँ, १.११), जो आजकल का मध्य हिन्दुकुश है। पूरे हिमालय अथवा हिमवन्त को वे इमाओस या इमोडस कहते थे। यूनानी लेखकों के अनुसार भारतीय पर्वतमालाएँ अनगिनत थीं। दे, डायोडोरस्, ग्यारहवाँ, ३५.२।

(२) अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधिंऽवगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः।। (कुमारसम्भव)

मोटे रूप में यह क्षेत्र ८° अक्षांश से ३७° अक्षांश तथा ६१° और ७३° देशान्तरों दक्षिण के बीच में स्थित है। प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से यह सारा क्षेत्र उत्तर में सिन्धु और गंगा के दो मैदानों तथा विन्ध्याचल के दक्षिण तीनों ओर समुद्रों से घिरे हुए एक प्रायद्वीपी भाग द्वारा मुख्यतः तीन भागों में बँटा हुआ है। किन्तु ऐसा नहीं है कि ईसा सन् के प्रारम्भ होने के पूर्व लगभग तीन-चार हजार वर्षों से चली आ रही सिन्धु संस्कृति के समय से प्रारम्भ कर ६०० ई. पश्चात् तक भारतीय इतिहास के लगभग ४ हजार वर्षों की विशाल अवधि में इस सारे प्राकृतिक भूखण्ड की पूरी जानकारी सब समय सब लोगों को थी ही। सैन्धव और वैदिक सभ्यताओं के युग में भारतीय लोग मुख्य रूप से ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान और उत्तर भारतवर्ष मात्र के क्षेत्रों को जानते थे। उत्तरवैदिक युग में यह भौगोलिक ज्ञान यद्यपि दक्षिण, पश्चिम और पूर्व की दिशाओं में दूर-दूर तक के क्षेत्रों तक विस्तृत हो गया, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के पूरे प्राकृतिक स्वरूप की जानकारी तब भी उस युग के लोगों को अपूर्ण ही थी।

ऋग्वेद में अफगानिस्तान और पंजाब की नदियों और क्षेत्रों-विशेषतः सिन्धु अथवा सप्तसिन्धु की ही चर्चाएँ हैं। सिन्धु शब्द का प्रयोग वहाँ एकवचन अथवा बहुवचन (सिन्धवः या सप्तसिन्धून) दोनों ही रूपों में हुआ है, जिससे सिन्धु नदी अथवा उसके क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का बोध होता है।[1] सप्तसिन्धु से उसकी सहायक नदियों और/अथवा उसके सात मुहानों अथवा मुख्य धाराओं[2] का तात्पर्य है। उत्तरवैदिक काल में गंगा-यमुना, सरयू और सदानीरा (बड़ी गण्डक) तक के क्षेत्रों की जानकारी स्पष्ट हो चुकी थी।[3] राजनीतिक क्षेत्र में जनराज्यों के युग से आगे बढ़ते हुए युग में अनेक क्षेत्रीय राज्य स्थापित हो चुके थे। देश के विशाल भूखण्ड पर बड़े-बड़े राज्यों की कल्पना करने वाले समन्तपर्यायी और एकराट् जैसे राज्यों के स्वरूप की भी अवधारणा हो चुकी थी। तथापि छठी शताब्दी ई.पू. के पहले मगध साम्राज्य जैसे किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नहीं हो सकी थी। उस समय के इतिहास की जानकारी देने वाले बौद्ध साहित्य के **अंगुत्तरनिकाय** में, राजनीतिक दृष्टि से, भारतवर्ष के सोलह भागों का उल्लेख है, जिन्हें षोडसमहाजनपद कहा गया है।[4] बौद्ध साहित्य के विकास के परवर्ती काल में लिखे गये जातकों में कोसल और मगध के साम्राज्यों-विशेषतः मगध साम्राज्य के उभरते हुए स्वरूप, की ओर स्पष्ट निर्देश प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक अखिल राजनीतिक सत्ता के अधीन एकसूत्र करने का प्रथम श्रेय मौर्य साम्राज्य को ही जाता है। सार्वभौम अथवा चक्रवर्ती क्षेत्र[5] का यह ऐतिहासिक

---

(१) ऋग्वेद, प्रथम ३२.१२; द्वितीय, १२.१२, चतुर्थ २८.१; दशम, ४३.३।

(२) देखिए, पा.वा. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हि.अनु.), जिल्द ५, पृ. २८७; सिन्धु के सात मुखों का उल्लेख पेरिप्लस् (स्कॉफ का अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ३७) तथा मेहरौली लौहस्तम्भ लेख में भी हुआ है।

(३) ऐतरेयब्राह्मण, अष्टम, १४; देखिए, दे.रा. भण्डारकार, सम् ऐस्पेक्ट्स् ऑफ हिन्दू पॉलिसी, पृ. ६० और आगे।

(४) अं.नि., पाटेसो., जिल्द १, पृ. २१३।

(५) दीघनिकाय (पाटेसो., जिल्द २, पृ. १४१-१४२) में तथागत बुद्ध की तुलना चक्रवर्ती से की गयी है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में (शामशास्त्री का पाठ, पृ. २५६ और ३४०) चातुरन्त चक्रवर्ती सम्राट् के क्षेत्र को हिमालय और समुद्र के बीच ९ हजार योजन विस्तृत बताया गया है जो तिरछे रूप में फैला हुआ था - देशः पृथिवीः; तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरं उदीचीनं नवयोजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम्। मूल के लिए देखिए, नवाँ, १.१७।

स्वरूप आगे चलकर सभी भारतीय राजाओं के लिए आदर्श बन गया। मौर्यपश्चात् और गुप्तपूर्व युग में भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थिति के होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारतवर्ष पूरी तरह एक इकाई बना हुआ था। उसका एक अत्यन्त प्रस्फुटित और समुन्नत स्वरूप हमें गुप्त साम्राज्य के युग में दिखायी देता है।

वैदिक साहित्य में कहीं भी भारत शब्द का प्रयोग देशवाची अर्थ में नहीं प्राप्त होता। किन्तु भारत जाति के बहुशः उल्लेख मिलते हैं, जो गंगा-यमुना के क्षेत्र में निवास करती थी।[१] देशवाची अर्थ में भारतवर्ष नाम सर्वप्रथम पुराणों में ही प्रयुक्त मिलता है।[२] इस नाम का सबसे पहला आभिलेखिक उल्लेख खारवेल के हाथिगुम्फा अभिलेख से प्राप्त होता है[३], जिसकी तिथि का प्रश्न मतभेदों से भरा हुआ है। साधारणतया इस अभिलेख की तिथि ईसापूर्व दूसरी शती से ईसा पश्चात् प्रथम शती के बीच स्वीकार की जाती है।[४] अशोक के एक अभिलेख और पालि निकायो[५] में सम्भवतः इसी क्षेत्र को जम्बूद्वीप कहा गया है।

ईरानियों और यूनानियों का भारतवर्ष सम्बन्धी ज्ञान प्रायः सिन्धु नदी के क्षेत्रों तक ही सीमित था। ईरानी शासक दारा (दारय-उश् अथवा डेरियस् - ५२२-४८६ ई.पू.) के नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख तथा क्षया (जेर्विसस्) के पर्सिपोलिस् अभिलेख में सिन्धु नदी के प्रदेशों को हिन्दू (हिदु) कहा गया है।[६] अन्य पारसीक स्रोतों में हस्तहिन्दु (सप्तसिन्धु) का भी उल्लेख प्राप्त है। यूनानियों ने इसी क्षेत्र को इण्डोई कहा, जिससे इण्डिया नाम निकला। सिकन्दर अपने भारतीय अभियान के सिलसिले में झेलम नदी के बायें किनारे से आगे नहीं बढ़ सका था। किन्तु लौटते समय उसने स्वयं जहाँ पश्चिमी भारतवर्ष, बलूचिस्तान और ईरान के स्थलीय क्षेत्रों का एक विस्तृत भौगोलिक विवरण अपने साथ आये हुए विद्वानों और सेनापतिओं के माध्यम से तैयार कराया, वहीं उसके जल-सेनापति नियार्कस् ने सिन्धु के मुहाने से फारस की खाड़ी तक के समुद्री मार्गों का सर्वेक्षण उपस्थित किया। उसके बाद के अनेक यूनानी तथा रोमक लेखकों ने भारतीय भूगोल तथा भारत और यूनान, भारत और ईरान, भारत और अदन, भारत और मिस्र तथा भारत और रोम के बीच के प्रमुख स्थलीय और जलीय मार्गों, खाड़ियों, बन्दरगाहों, प्रमुख बाजारों-हाटों और व्यापारिक वस्तुओं के विविध विवरण तैयार किये।[७] इन लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है। ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दियों से ईसा सन् की पहली-दूसरी शताब्दियों का भारतवर्ष सम्बन्धी सारा भारतीय

---

(१) वेदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृ. ६४ और आगे।

(२) उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।। (विष्णुपुराण)

(३) दसमे च वसे दंड संधी सा (ममयो) भरदवस पठानं। देखिए, श्रीराम गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-१, पृ. ३६३; दि.च. सरकार, सेलेक्ट इंस्कृप्शनस्, भाग १, पृ. २१३, टि.।

(४) श्रीराम गोयल उपरिनिर्दिष्ट, पृ. ३५१; वा.वि.मिराशी ने उसका समय १५० से १३५ ई.पू. के बीच निश्चित किया है। देखिए – सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रयों का इतिहास और अभिलेख, पृ. ७७।

(५) अंगुत्तरनिकाय, हिन्दी अनुवार, भाग-१, पृ. ३६; भाग-४, पृ. ५३ : एक स्थान पर बुद्ध कहते हैं – भिक्षुओ। जैसे इस जम्बूद्वीप में रमणीय उद्यान, रमणीय भूमि, रमणीय वन और रमणीय पोक्खरिणियाँ थोड़ी ही है, अधिकता तो ऊँची-नीची, नदी से कटी हुई झाड़-झंखाड वाली भूमि तथा विषम पर्वत प्रदेशों की ही हैं। आदि।

(६) दि.चं. सरकार, सेलेक्ट इन्स्कृप्शनस्, भाग २ पृ. १०-१२।

(७) देखिये. मजूमदार, र.च., क्लासिकल् राइटर्स्।

भौगोलिक ज्ञान तथा दुनियाँ के विभिन्न देशों से भारत के व्यापारिक सम्बन्धों का परिचय हमें प्रायः इन विदेशी लेखकों से ही प्राप्त होता है। इन विदेशी लेखकों में समय की दृष्टि से केट्सियस् (५वीं-४थीं शती ई.पू.) सर्वप्रथम था। किन्तु उसके विवरण बहुत प्रामाणिक नहीं हैं। भौगोलिक विवरणों की प्रामाणिकता और बहुलता की दृष्टि से सिकन्दर के नाविक सेनापति नियार्कस् (४थीं शती ई.पू.) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने सिकन्दर के भारतवर्ष से वापसी के दौरान सिन्धु के मुहाने से प्रारम्भ कर फारस की खाड़ी तक की समुद्री यात्रा की थी और रास्ते में पड़ने वाले बन्दरगाहों, बाजारों, द्वीपों, खाड़ियों और विभिन्न समुद्री क्षेत्रों और किनारों का एक विस्तृत विवरण तैयार किया था।[1] मिस्र के टॉलेमी शासकों के सिकन्दरिया में स्थित पुस्तकालय के अध्यक्ष इरैयेस्थेनीज़ ने भी सिकन्दर के समकालीन लेखकों और मेगास्थनीज़ के आधार पर एक भौगोलिक विवरण तैयार किया, जो कई दृष्टियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया गया है। टॉलेमी के भारतीय भूगोल सम्बन्धी विवरण बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक होते हुए भी बहुधा निश्चयात्मक रूप से स्वीकार नहीं किये जा सकते क्योंकि उसके द्वारा वर्णित अधिकांश स्थानों की कोई पहचान नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में विद्वानों के मतभेद के बीच इतना मात्र निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय भूगोल के बारे में अक्षांश और देशान्तरों के आधार पर की गयी उसकी अनेक स्थान-चर्चाओं में गंगा और पाटलिपुत्र की प्रमुखता के साथ, भारतवर्ष के पश्चिम में पैरोपनिसडेई, अराकोशिया, जेड्रोशिया, उत्तर में हिमालय (इमाओस) पर्वत, पूर्व में गंगा नदी, दक्षिण-पूर्व में ताम्रलिप्ति (तमल अथवा तमाल) बन्दरगाह तथा दक्षिण और पश्चिम में हिन्द महासागर के उल्लेख सरसरी तौर से भारतीय भौगोलिक सीमाओं के उल्लेखों में सही उतरते हैं।[2]

तथापि विभिन्न यूनानी लेखकों की स्पष्ट सूचनाएँ हैं कि मिस्र सहित अफ्रीका के अन्यान्य देशों, अदन की खाड़ी, सिकन्दरिया, ओमान की खाड़ी तथा फारस की खाड़ी वाले मार्गों से होकर पश्चिमी एशिया, अरब जगत और उत्तरी अफ्रीका से भारतवर्ष का उपर्युक्त अवधि में एक बहुत ही विकसित व्यापारिक सम्बन्ध था। स्पष्ट है कि उपर्युक्त अन्यान्य स्थानों तक भारतीय व्यापारी जाते रहे होंगे। बाद में हिन्दुकुश से होते हुए भारतीय धर्मप्रचारक भी गये। किन्तु यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि यूनानी और रोमक यात्रिओं, व्यापारिओं और लेखकों की भाँति किसी भी भारतीय व्यापारी, यात्री अथवा लेखक ने ऐसा कोई लिखित विवरण नहीं छोड़ा, जिससे या तो विदेशी लेखकों के विवरणों की हम तुलना कर सकते अथवा प्राचीन भारतीय इतिहास लिखते समय जिसका हम किसी अन्य प्रकार से ही कोई लाभदायी उपयोग कर पाते। इस सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य का **बावेरुजातक** सम्भवतः अकेला अपवाद है, जो बावेरु अर्थात् बाबुल से होने वाले भारतीय जहाजी व्यापार की ओर

---

(१) देखिए, मजूमदार, र.च., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ३१३-३३६।

(२) वहीं, पृ. ३६०, ३६४; भारतवर्ष की पश्चिमी सीमाओं के बारे में प्लिनी कहता है, "भारत की पश्चिमी सीमा को अनेक लेखक सिन्धु नदी मात्र तक सीमित नहीं करते, अपितु उसमें जेड्रोशी, अराकोशई (कन्दहार), अरी (हेरात) और पैरोपनिसडेइ (काबुल) नामक चार क्षत्रप-क्षेत्रों को सम्मिलित करते हुए कोफेस् (कुभा अर्थात काबल नदी) तक के क्षेत्रों तक उसे विस्तृत करते हैं।" प्लिनी, नेचुरल हिस्ट्री, षष्ठ, २३।

इंगित मात्र करता है। अपनी अतीतकथा में विवरण सम्बन्धी अपूर्णताओं के कारण वह एक अच्छा मार्गदर्शक नहीं स्वीकार किया जा सकता। पोज़ीडोनियस् नामक एक यूनानी अवश्य इस बात का उल्लेख करता है कि कुछ भारतीयों ने एक जहाज में मिस्र तक की यात्रा की थी। किन्तु मार्ग की कठिनाइयों के कारण उनमें से एक को छोड़कर अन्य सभी मर गये। उस बचे हुए नाविक ने मिस्रियों के एक दल को लौटते हुए भारतवर्ष का रास्ता दिखाया था।[१]

ईसा की शताब्दियों में सम्पूर्ण भारतवर्ष दिशाक्रम से प्रायः पाँच भागों में बाँटा जाने लगा था -- उत्तरापथ, मध्यदेश, प्राची, प्रतीची और दक्षिणापथ। ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही प्रकार के साहित्य में, उनके पारस्परिक विवरणों में अनेक अन्तरों के बावजूद, भारतवर्ष के ये दिशायी विभाजन समान रूप से प्राप्त होते हैं। हर्ष के समय प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष की लगभग १५ वर्षों तक की यात्रा करने वाला चीनी यात्री श्वान्-च्वाङ्ग् इस देश को 'ब्राह्मणों का देश' कहते हुए इसे इन्-टु, इन-टो अथवा इन्दु की संज्ञा देता है। पुनः वह इसे पञ्चभारतों के रूप में दिशाक्रम की दृष्टि से ही 'फाइव इण्डीज' के पाँच भागों में बाँटता है। ये पञ्चभारत निश्चयतः ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य के उत्तरापथ, मध्यदेश, प्राची, प्रतीची और दक्षिणापथ से समीकृत किये जाने चाहिए।[२] मध्यदेश को वह बार-बार 'मिडिल कन्ट्री' अथवा 'मिड-इडिया' कहता है।

ईसा की पहली शताब्दी में मिस्र से चलकर भारत के समुद्र तटों की जहाजी यात्रा करने वाले **पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी** के अज्ञातनामा यूनानी लेखक ने दक्खिनाबदेश[३] (दक्षिण प्रदेश अथवा दक्षिणापथ) का उल्लेख किया है। **पेरिप्लस्** के लेखक तथा उसके समवर्ती और बाद के यूनानी और रोमक लेखकों को सम्पूर्ण पश्चिमी भारत, पश्चिमी समुद्रतट के सभी प्रमुख बन्दरगाहों, नगरों, हाटों, ताम्रपर्णी (लंका), भारतवर्ष के पूर्वी तट के मुख्य बन्दरगाहों, बंगाल की खाड़ी, गंगासागर द्वीपसमूह और गंगानदी के मुहाने तक का ज्ञान बड़ा विस्तृत और परिपक्व था।[४] उत्तर-पूर्व में चीन से लोहबान और रेशम का जो व्यापार तिब्बत और भारतवर्ष के पहाड़ी मार्गों से होते हुए हिन्दुकुश के क्षेत्रों और उसके आगे फारस तथा अरब तक होता था, वे उसका भी उल्लेख करते हैं।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि पश्चिमी जगत ईसा शताब्दी के प्रारम्भ के कुछ पूर्व से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष की चौहद्दी से पूरी प्रकार परिचित था।

सिन्धु का मैदान

आगे हम भारतवर्ष के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की कुछ मूलभूत विशेषताओं, स्वरूपों तथा ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास के प्राकृतिक उपादानों पर विचार करेंगे। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार विन्ध्याचल

(१) वहीं, पृ. २८३-२८४।

(२) वि. पाठक, जर्नल् ऑफ इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्दी ४५, भाग-१, पृ. २५५-२५६।

(३) पेरिप्लस्, स्कॉफ का अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ४३।

(४) वहीं, पृ. ४७-४८।

(५) वहीं, पृ. २८४-२८८।

के उत्तर का भारतीय क्षेत्र मुख्यरूप से सिन्धु और गंगा के दो मैदानों के रूप में उपस्थित होता है। सिन्धु और उसकी सभी सहायक नदियाँ हिमालय के ऊपरी भागों से निकलकर बर्फ की चट्टानों के बीच बहती हुई पंजाब के मैदानों में गिरती हैं तथा सिन्धु के महानद के रूप में दक्षिण-पश्चिम दिशा में अरब के सागर में विलीन हो जाती हैं। प्राचीन यूनानी लेखक इनकी चर्चा करते हुए इस बात का विशेष उल्लेख करते हैं कि किस प्रकार सालों-साल इन नदियों में, विशेषतः सिन्धु के उद्‌गम स्थलों से आगे के बहुत दूर तक के क्षेत्रों तक हिमालय पर्वत पर बर्फ गलने से, वर्ष भर अपार जल भरा रहता था। आजकल सिन्धु के कांठों का ऊपरी भाग जिस प्रकार हरियाली और वृक्षावलियों से शून्य है, वैसी स्थिति प्राचीन काल में नहीं थी। सिकन्दर के उत्तरी-पश्चिमी भारत पर आक्रमण के समय पेशावर के पास दलदली पानी लगे हुए जंगलों वाले अनेक चौड़े क्षेत्र थे, जहाँ हाथियों और गैंडों का निवास था। उस समय सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के किनारे कम से कम इतने घने जंगल तो थे ही, जिनसे लकड़ी काटकर सिकन्दर को अपनी सेनाओं को नदियों को पार कराने हेतु नौका-बेड़ों के निर्माण में पूरी सुविधा प्राप्त हुई थी। अतः यह निश्चित है कि पंजाब की तत्कालीन जलवायु आजकल की गर्मियों के भयंकर अग्निज्वाल और वर्षाॠतु की अल्पवर्षा वाली स्थिति से भिन्न थी। इसका परिचय इस बात से भी मिलता है कि ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं शताब्दियों के फारस के शासक दारा के समय (५२२-४८६ ई.पू.) कदाचित् उसके एक क्षत्रप द्वारा शासित सिन्ध का प्रदेश उसके साम्राज्य का सर्वाधिक धनी प्रान्त था। वहाँ से उसे प्रतिवर्ष ६५० टैलेण्ट सोना कर के रूप में प्राप्त होता था।[१] **पेरिप्लस्** का लेखक सिन्धु को सिन्थस् कहते हुए इसे इरीथ्रियन् अर्थात हिन्द महासागर में गिरने वाली सबसे बड़ी नदी बताता है।[२] वह कहता है कि इसके ऊपरी भागों में दलदल थे तथा वह समुद्र में इतना अधिक जल गिराती थी कि समुद्र भी उसके प्रभूत बहाव के कारण ताजे पानी वाला बन जाता था।[३] तद्नुसार[४], इस नदी के सात बड़े छिछले और दलदली मुख थे। उनमें केवल बीच वाला मुख (धारा) ही नौकायन के योग्य था, जिसके किनारे बारबेरिकम्[५] नामक नगर बसा हुआ था। उसी के पास एक छोटा सा द्वीप था, जिसके आगे (सिन्धु के मुहाने के पास) मिन्नगर[६] नामक सिथियायी (शकक्षत्रप) राज्य का हाट था। इसमें आने वाली तेज बाढ़ों के कारण एक ओर कटाव से भारी भूखण्डों की मिट्टी बाढ़ के बहाव के साथ समुद्र में चली

---

(१) पा.वा. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, (हिन्दी), भाग-५, पृ. ३८७ पर उदघृत।

(२) पेरिप्लस्, अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ३७, १६५।

(३) वहीं, पृ. ३७।

(४) वहीं, पृ. ४३।

(५) पेरिप्लस् के अनूदक स्कॉफ् के मत में बारबेरिकम् या तो बन्दर = बन्दरगाह का यूनानी रूपान्तर है अथवा सिन्धु के डेल्टा पर स्थित आधुनिक बहर्दिपुर का रूपान्तर है। वहीं, पृ. १६५।

(६) शक-युद्-वी काल में भारत के अनेक नगरों को मिन्नगर नाम दिया गया था। पेरिप्लस् का मिन्नगर कदाचित् सिकन्दर के समय का सिन्धु के मुहाने पर स्थित पटल (पाटलन् अथवा पटलन्) नामक नगर था और उसी नाम के राज्य की राजधानी था। विण्सेण्ट स्मिथ के मत में वह आजकल के मन्सूराव नामक नगर के लगभग छह मील पश्चिम में स्थित था तथा सिकन्दर अथवा पेरिप्लस् के लेखक के भारतवर्ष आगमन के समय की तुलना में वह आकार में अब बहुत विस्तृत हो गया है। अनेक तर्कों के आधार पर वे कहते हैं कि समुद्रीतट उस समय की अपेक्षा २० से ४० मील तक आगे बढ़ गया है। वहीं, पृ० १६६।

जाती थी, समुद्र क्रमशः छिछला होता जाता था, मुहानों पर नये टापू बन जाते थे, पुराने बन्दरगाह समाप्त होते जाते थे और नये-नये बन जाते थे। इसी के साथ इसके किनारों पर बसे हुए व्यापारिक नगरों के निर्माण और विनाश की प्रक्रियाएँ भी चलती रहती थीं। भारतीय सभ्यता के इतिहास में अनेक प्रकार से प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले प्रायः सभी बड़े नगर-पुष्कलावती, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, मथुरा, प्रयाग, कौशाम्बी, अयोध्या, वाराणसी, चम्पा, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, ताम्रलिप्ति, भृगुकच्छ, तगर, प्रतिष्ठान, नासिक, काञ्ची, मदुरै आदि सभी किसी न किसी नदी के किनारे ही बसे हुए थे।

नदियों के बहावमार्गों में परिवर्तनों के कारण ही हड़प्पा और मोहजूजोदाड़ों की सभ्यताओं-संस्कृतियों के क्रमिक स्वरूपों में बार-बार बदलाव आये। नगर एक अथवा कई बार समाप्त होकर प्रायः बार-बार या तो पुनः अपनी पुरानी जगहों पर बसे अथवा वहाँ से हटकर कुछ दूर बस गये। जहाँ पहले घनी बस्तियाँ थीं, वहाँ दलदल बन गये और जहाँ घने जंगल थे, उनके बहकर समुद्र में चले जाने के कारण अथवा काट लिये जाने के कारण वहाँ वीरान बन गये। वर्षा की क्रमशः कमी अथवा अभाव के कारण रेगिस्तान भी बनते और बढ़ते गये।

यहाँ संक्षेप में कुछ मतों की ओर ध्यान दिया जा सकता है। स्टाइन् का मत था[1] कि निरन्तर बढ़ती हुई शुष्कता के कारण ही सिन्धु सभ्यता का अन्त हो गया, जिसका पिगॉट और ह्वीलर ने अनुमोदन किया। उनके मतानुसार इस सभ्यता के उत्खननों से प्राप्त होने वाली मुहरों में अकिंत गैंडा, हाथी और दरियायी घोड़े जैसे जानवरों की उन क्षेत्रों में स्थिति केवल तत्कालीन आर्द्रता के कारण ही सम्भव थी, जो वहाँ के विशाल जंगलों के कारण थी। किन्तु इस मत के विरुद्ध फेयरसर्विस् ने यह कहा कि सिन्धु घाटी में बहुत बड़ी मात्रा में प्रयुक्त होने वाली ईंटों तथा उनसे निर्मित नालियों और चबूतरों से यह नहीं साबित होता कि उन ईंटों को पकाने के लिए जंगली लकड़ियों की ही आवश्यकता हुई होगी। वे तो नदियों के किनारे उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे पेड़ों - बबूल, झाऊ, कुण्डी, बेहन और शीशम से आसानी से प्राप्त होने वाली लकड़ी से सुविधापूर्वक पकायी जा सकती थीं और इन पेड़ों की उत्पत्ति के लिए न बहुत घने और विशाल जंगलों की आवश्यकता होती है और न बहुत बरसात की। ये रेगिस्तानी प्रदेशों में भी उत्पन्न हो सकते हैं। इन पेड़ों के छोटे जंगल बाढ़ के साधारण पानी से भी सिंचित होकर जीवित रह सकते थे। वास्तव में आज से ३०० वर्षों पूर्व तक गैंडे इस क्षेत्र में प्राप्त होते थे और १६०८ ई. तक यहाँ से लकड़ी बाहर के क्षेत्रों को निर्यात की जाती थी।

हड़प्पा और मोहज्जोदाड़ों की नगरीय संस्कृतियों के अन्त का कारण चाहे जो भी रहा हो, इतना निश्चित है कि उनकी स्थिति और उन्नत आर्थिक अवस्थाओं के पीछे उन क्षेत्रों की तत्कालीन पारिस्थितिकी, उनका समुन्नत तकनीकी ज्ञान, शीघ्रगमन हेतु पहियों वाली सवारियों का प्रयोग और प्राकृतिक शक्ति से संचालित साधनों के विकास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी।

---

(१) इस विवेचन के लिये देखिए, अग्रवाल ऐण्ड अग्रवाल, भारतीय ऐतिहासिक पुरातत्त्व, पृ. ६ और आगे।

आर्थिक इतिहास के विकास में पारिस्थितिकी के परिवर्तनों के परिणाम कई बार तो युगान्तरकारी सावित हुए। अतः उस पर विचार करते समय इन परिवर्तनों को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता।

गंगा का मैदान

गंगा का मैदान सिन्धु के मैदान से अपेक्षाकृत बहुत बड़ा है। गंगा हिमालय में गंगोत्री से निकलकर उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और बंगलादेश से दक्षिण-पूर्व की दिशा में बहती हुई बंगाल की खाड़ी में मिल जाती है। पूर्व में ब्रह्मपुत्र नद भी आकर उसमें समाहित हो जाता है। इस प्रकार गंगा-यमुना का मैदान पूर्व में ब्रह्मपुत्र के मैदान तक फैला हुआ है और छोटी-बड़ी सैकड़ों नदियों के जल से वह सिंचित है। वे नदियाँ या तो उत्तर से दक्षिण-पूर्व की ओर अथवा पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं और क्रमशः यमुना, गंगा और ब्रह्मपुत्र में मिलकर गंगा के विशाल मुहाने का निर्माण करती हैं। सोन और चम्बल को छोड़कर ये सभी नदियाँ हिमालय से ही निकलती हैं। आजकल की ही तरह प्राचीन युग में भी उनमें वर्षाऋतु में पहाड़ों और मैदानों का अपार जल जहाँ एक ओर भयंकर बाढ़ों का कारण बनता था, वहीं उनके द्वारा लायी हुई महीन, खादभरी, उर्वरक मिट्टी से उनके भागों में पड़ने वाले सभी क्षेत्र उपजाऊ बनकर, प्रभूत हरियाली से सम्पन्न, वन्य उपजों से परिपूर्ण, चरागाहों से भरपूर और धनधान्य सम्पन्न हो जाते थे। यूनानी लेखक[1] गंगा को भारतवर्ष की सबसे बड़ी नदी बताते हैं तथा सिन्धु को, विशालता में, उससे दूसरे स्थान पर रखते हैं। इन दोनों में पाये जाने वाले जल-जन्तुओं, उनकी नौकायन क्षमता, उनके दोनों किनारों के बीच की चौड़ाई, उनकी तीव्र धाराओं और उनके किनारों पर बसे हुए नगरों आदि के बारे में उनकी सूचनाएँ आश्चर्य भरे विवरणों वाली हैं और कहीं-कहीं तो बड़ी अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप, उनकी विशालता के सम्बन्ध में एरियन् का कथन है – 'हमें सिन्धु और गंगा के बारे में इन सूचनाओं पर अविश्वास नहीं करना चाहिए कि उनकी तुलना में ईस्टर और नील नदियाँ कुछ भी नहीं हैं और वे (सिन्धु, गंगा) उनकी अपेक्षा बहुत बड़ी हैं।'[2] गंगा और उसकी प्रमुख सहायक नदियों का प्राचीनकालीन महत्त्व इस बात में था कि वे मानसूनी हवाओं से प्राप्त वर्षा की प्रभूत जलजन्य बाढ़ों द्वारा लायी गयी मिट्टी के कारण समुन्नत खेती का कारक तो थी हीं, वर्ष के बारहों महीने वे नौकायन के लिए भी उपयुक्त थीं। उनके माध्यम से देश के भीतर का बहुत बड़ा व्यापार उनके किनारों पर बसे हुए नगरों के बीच होता था, जो क्रमशः आगे बढ़ते हुए समुद्रतट पर स्थित बन्दरगाहों तक विस्तृत था।[3] इन बन्दरगाह नगरों से भारतीय वस्तुओं का बाहर के देशों को निर्यात और बाहरी देशों की वस्तुओं का देश के भीतर आयात होता था। गंगा और चम्पा नदी के संगमस्थल पर बसा

---

(१) डायोडोरस्, ग्यारहवाँ (३५-३७ और सत्रहवाँ, ८५) अपवादस्वरूप सिन्धु को ही भारतवर्ष की सबसे बड़ी नदी बताता है। किन्तु उसके विपरीत एरियन् और कर्टियस् आदि सिन्धु के मुकाबले गंगा को प्रमुख स्थान देते हैं। देखिए, नरेन्द्रनाथ खेर, ऐग्रेरियन् एण्ड फिस्कल्, एकॉनॉमी, पृ. ६, पादटिप्पणी १६।

(२) एरियन्, चतुर्थ; र.च. मजूमदार, क्लासिकल् एकाउण्ट्स्, पृ. २७।

(३) डिपापाने., जिल्द १, पृ. ४८२।

हुआ चम्पा नामक नगर देश के भीतरी व्यापारमुखों में प्रमुख था। गंगा के मुहाने पर स्थित गंगासागर[१] (बाद का ताम्रलिप्ति) चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से व्यापार के आमुख और निर्मुख दोनों का काम करता था।

सिन्धु और गंगा घाटियों के ऊपरी और हिमालय पर्वत के उत्तुंग शिखरों की निचली पहाड़ियों अथवा तराइयों वाले क्षेत्रों का प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में एक महत्त्व यह था कि हिमालय से टकराकर दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी मानसूनी हवाओं से होने वाली प्रभूत वर्षा से ये सारे क्षेत्र वनों और उद्यानों से आच्छादित हो जाते थे। फलतः वर्षा और जंगलों तथा जंगलों और वर्षा का एक अटूट पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता था।[२] इसकी अभिव्यक्ति हमें बौद्ध **त्रिपिटक** के अनेक अंशों में प्राप्त होती है। निकायों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन उत्तरपूर्वी भारत का कदाचित् ही कोई ऐसा गाँव था जो किसी न किसी वृक्ष विशेष के वन से घिरा हुआ न हो - जैसे सिंसपावन, वेणुवन, केतकीवन, आम्रवन, शाकवन, मधूकवन इत्यादि।[३] बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि वर्षाजन्य सम्पन्नता के कारण ही इन क्षेत्रों में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्रायः बहुत ही घनी आबादी थी तथा उस समय के अधिकांश व्यापारिक नगर और बाजार भी इन्हीं क्षेत्रों में स्थित थे। ५०० ई.पू. से २०० ई.पू. की अवधि के उत्तरी कृष्णमार्जितमृद्भाण्डों की प्राप्ति के जो लगभग ७३० स्थान हैं, वे प्रायः सभी या तो आज के पूर्वी उत्तर प्रदेश में अथवा उत्तरी, मध्य और पूर्वी बिहार में स्थित हैं – विशेषतः पूर्वी उत्तर प्रदेश में।[४] ये क्षेत्र बौद्ध साहित्य में कोसल, भग्ग, शाक्य, कोलिय, मोरिय, मल्ल, वज्जि, अंग, मगध, काशी और विदेह नाम से या तो राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में अत्यन्त अधिक उल्लिखित हैं।

तत्कालीन गंगा घाटी के निचले भागों में स्थित आबादी वर्षा की प्रचुरता और भूमि के उपजाऊपन के कारण जितनी आसानी से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कर लेती थी, वह सिन्ध, राजस्थान और निचले पंजाब के सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लोगों के लिए सम्भव नहीं था। **अर्थशास्त्र**[५] में देश के विभिन्न भागों में होने वाली वर्षा के द्रोणपरिमाण का एक विवरण प्राप्त होता है, जो तत्कालीन ऋतुविज्ञान की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों के आपेक्षिक सूखे अथवा आर्द्रता का परिचायक है।

---

(१) पेरिप्लस् का लेखक इसे भी गंगा ही कहता है। इस सम्बन्ध में और देखिए, महाजनक जातक, फॉसबॉल, जिल्द ६, पृ. ३२-३३।

(२) इम्पीरियल् गजेटियर, जिल्द १, पृ. २२-२७; और देखिए, स्वेटिंग, भारत के जंगल, उद्धृत ध.प्र. अग्रवाल ऐण्ड अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. २२।

(३) बौद्ध साहित्य में छोटे-छोटे अनेक वनों की चर्चाएँ हैं, यथा – अञ्जनवन, अन्धवन, आम्रवन, कण्टकीवन, जेतवन, जातियवन, लट्ठिवन, लुम्बिनीवन और महावन आदि। महावन एक प्राकृतिक वन था जो, बुद्धघोष के अनुसार, वैशाली से प्रारम्भकर हिमालयपर्वत की तलहटियों तक के एक विशाल क्षेत्र में फैला हुआ था। दे. सुमंगलविलासिनी (पाटेसो.), जिल्द १, पृ. ३०९; संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग-१, पृ. २८। इस सम्बन्ध में और देखिए, प्रभा त्रिपाठी, प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. ३९-४५।

(४) देखिए, रामशरण शर्मा, मैटिरियल कल्चर ऐण्ड सोशल फार्मेशन् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ३९-४५।

(५) अर्थ., द्वितीय, ४१।

पुरातात्त्विकों के अनुसार ४०००-२००० ई.पू. के बीच तक दोआब घने जंगलों से आच्छादित था और वहाँ बस्तियाँ कम थीं। उनमें साल, शीशम, कुर्ची और जंगली धान (नीवाड़) के होने के पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त होते हैं। किन्तु अत्यन्त प्रारम्भिक काल में लकड़ी के फालों वाले हलों से इन जंगलों कें बीच खेती नहीं की जा सकती थी। वहाँ कृषि तभी सम्भव हुई जब लोहे का ज्ञान हो गया और लोहे के फालों वाले हलों में कई-कई बैल जोते जाने लगे। यह युग हस्तिनापुर और अत्रञ्जिखेड़ा से प्राप्त उत्खनन सामग्री द्वारा सामने उपस्थित होता है तथा चित्रित धूसरमृदभाण्ड युग के नाम से जाना जाता है। दोआब में अब कृषि और आबादी बढ़ने लगी थी और अनेक नये-नये नगरों का विकास हुआ।

दक्षिण का प्रायद्वीपी भाग

नर्मदा और गोदावरी (विशेषतः) नदी के दक्षिण का भाग दक्षिणापथ नाम से अभिज्ञात था। भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से यह प्रदेश अपेक्षाकृत बाद में ही प्रकाश में आया। ईसा शताब्दी के प्रारम्भ और उससे थोड़े पूर्व के आस-पास रचित प्राचीन संगम (तमिल) साहित्य से आन्ध्र, चोड़, पल्लव और पाण्ड्य क्षेत्रों में आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक बहुत ही विकसित सभ्यता का ज्ञान प्राप्त होता है। ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दियों से ईसा की पहली शताब्दी के बीच गुजरात काठियावाड़ और महाराष्ट्र सहित पश्चिमी भारत तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ भाग व्यापारिक दृष्टि से बड़े समुन्नत थे। **पेरिप्लस्**, स्ट्रैबो के भूगोल और प्लिनी के विवरणों से ज्ञात होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में भारतवर्ष के पश्चिमी बन्दरगाहों से फारस और अरब की खाड़ियों, ओमान की खाड़ी, अदन और सिकन्दरिया होते हुए मिस्र और रोम तक भारतीय माल जाते थे और उन देशों से भी अनेक व्यापारिक वस्तुएँ भारतवर्ष आती थीं। उस समय के दक्षिणी भारत में प्राप्त होने वाले रोमक सिक्के विशाल भारतीय निर्यात के प्रमाण हैं। **पेरिप्लस्** के लेखक ने भारत के पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तट के बन्दरगाहों और बाजारों की एक लम्बी और ब्यौरेवार सूची दी है।[१] वह देश के भीतर के भी अनेक नगरों, हाटों और बाजारों का उल्लेख करता है।[२] इन विदेशी विवरणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि इस युग में उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत व्यापारिक दृष्टि से अधिक समुन्नत और सम्पन्न था। जिस प्रकार बुद्ध-युग और कुछ बुद्धपश्चात्-युग में मध्यदेश और प्राची अपनी कृषि और व्यापारिक सम्पन्नता के कारण घनी आबादी वाले क्षेत्र बन गये थे, उसी प्रकार विदेशी व्यापार के माध्यम से दक्षिणी और दक्षिणी-पश्चिमी भारत भी कुछ आगे के युग में (ई.पू. दूसरी शताब्दी से ई. पश्चात् दूसरी शताब्दी तक) आर्थिक संस्कृति के क्षेत्र में अगुआ हो गये थे। अपने इस आर्थिक आधार के कारण वहाँ की आबादी भी अपेक्षाकृत अधिक ही रही होगी।

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप (मध्य भारत, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण) पहाड़ियों, ढलानों, पठारों और घाटियों से बहुत अधिक मात्रा में आच्छादित है। बीच-बीच में गुजरात के मैदानी भागों, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश के तटीय

(१) देखिए, स्कॉफ् का अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ३७ और आगे।

(२) वहीं, पृ. ३७-४५।

भागों, तमिलनाडु और केरल के तटीय भागों में भूमि बड़ी ही उपजाऊ है। वहाँ की हरियालियाँ – विशेषतः पहाड़ियों के नीचे समुद्र की ओर झुकती हुई पूर्वी और पश्चिमी घाटों की ढलानें-सर्वदा ही मनमोहक रही हैं। उनकी आबादी आस-पास के पठारी भागों की अपेक्षा हमेशा ही अधिक घनी रही। इस प्राकृतिक बनावट के कारण दक्षिणी भारत में उत्तर भारत की अपेक्षा भौगोलिक विभाजन अथवा इकाइयाँ संख्या में अधिक रहीं। पूर्व में महानदी की घाटी अपनी प्राकृतिक बनावट में प्रायः गंगा की घाटी से मिलती-जुलती है, जहाँ प्रभूत वर्षा से अश्मक, कलिंग, ओड्र और महाकोसल के समुद्री तटों तक के क्षेत्र कृषि के लिए बड़े अनुकूल सिद्ध हुए और स्थानीय सम्पन्नता के कारण बने। ठीक इसी प्रकार पश्चिम में नर्मदा और ताप्ती से सिंचित अवन्ति अथवा मालवा की भूमि भी बड़ी उपजाऊ थी, जहाँ की कपास की खेती के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त काली मिट्टी की बहुत ही प्रशंसात्मक चर्चा **पेरिप्लस्** के लेखक ने की है।[1] इन नदियों के क्षेत्रों के नीचे विन्ध्याचल के दक्षिण, गोदावरी के उत्तर और पश्चिमी तथा पूर्वी घाटों के बीच का पठारी क्षेत्र दण्डक[2] नामक उन विशाल वन्य प्रदेशों का था, जो प्राचीन काल में उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच में एक बड़ी भारी रुकावट का काम करते थे। श्वान्-च्वाङ्ग् ने बादामी के शासक द्वितीय पुलकेशिन् के शासित-क्षेत्र महाराष्ट्र की चर्चा करते हुए लिखा है कि वहाँ के लोग पठारी और पथरीली भूमि पर खेती करते हुए बड़ी कठिनाई से कुछ उत्पन्न कर अपनी जीविका चलाते थे और प्रकृति के साथ इस प्रकार संघर्ष करते रहने के कारण उनके स्वभाव में भी कुछ संघर्ष और बदले की भावना तथा झगड़ालू प्रकृति का स्वरूप पाया जाता था।[3]

ऋतुविज्ञान, पावस और पारिस्थितिकी

भारतीय उपमहाद्वीप के ऋतुविज्ञान, उसकी जलवायु और वर्षा सम्बन्धी स्थितियों में भी विभिन्न युगों में परिवर्तन होते रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि देश की जो जलवायु और पावस सम्बन्धी स्थिति आज है, वही अतीत में भी सर्वदा थी। यद्यपि **अर्थशास्त्र**[4] जैसे कुछ ग्रन्थों में इस बात की एक अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा है कि विभिन्न स्थानों में कितना पानी गिरता था, ऐसे विवरण साधारणतया प्राप्त नहीं होते। तथापि प्राचीन भारतीय विभिन्न उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन परिस्थितियों की कुछ तुलनाएँ आज की परिस्थितियों से की जा सकती हैं और परिवर्तनों का एक मोटा स्वरूप प्रदर्शित किया जा सकता है। आज असम के चेरापूँजी के अधिकतम वर्षा वाले क्षेत्रों से प्रारम्भकर यदि पश्चिम की ओर बढ़ते हुए, क्रमशः बंगलादेश, बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, सिन्ध

---

(१) वहीं, पृ. ४१।

(२) वाल्मीकि रामायण में दण्डकारण्य की सीमाएँ उत्तर में अवन्ति, विदर्भ, मत्स्य और कलिंग तथा दक्षिण में आन्ध्र, पुलिन्द, चोड और पाण्ड्य तक बतायी गयी हैं। देखिए, चतुर्थ काण्ड, ४१वाँ सर्ग।

(३) वाटर्स्।

(४) पूर्वी उत्तर प्रदेश बरसात में बाढ़ों की चपेट में बना रहता था। दे. धम्मपद अट्ठकथा (पाटेसो. जिल्द ३, पृ. ११७); धम्मपद, हिन्दी अनुवाद (मोतीलाल बनारसीदास), पृ. २८; दीघनिकाय (पाटेसो.), जिल्द १, पृ. २४४-२४५। एक जातक (फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ. ११७) में श्रावस्ती के धनी सेठ अनाथपिण्डिक की दस करोड़ की धनराशि का राप्ती (अचिरवती) की एक भयंकर बाढ़ में बह जाने का उल्लेख है।

और गुजरात की ओर आगे चलते जाया जाय तो क्रमशः वर्षा की मात्रा इतनी कम होती जाती है कि सुदूर पश्चिम में सिन्ध, गुजरात, राजस्थान और थार के मरुस्थल पानी की बूँदों के लिए कभी-कभी वर्षों तक तरसते हुए दिखायी देते हैं। इस समय सिन्ध के क्षेत्रों में प्रति वर्ष लगभग ६ इञ्च मात्र वर्षा होती है। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में गोवा-गुजरात के तटों से प्रारम्भ कर उत्तर में पंजाब, हरियाणा और हिमांचल प्रदेश तक फैली हुई एक विशाल भूक्षेत्र वाली सिन्धु-संस्कृति का रहस्य उसकी आर्थिक सम्पन्नता ही थी। उसका प्रमुख कारण काफी मात्रा में होने वाली वर्षा और तज्जन्य जंगल तथा कृषिपरक पारिस्थितिकी थी।[1] तथापि सिकन्दर के समय अरिष्टोबुलस् को सिन्धु के मुहाने पर स्थित पटल नामक नगर और झेलम नदी के बीच के क्षेत्रों में वर्षा का कोई भी प्रमाण नहीं मिला था। आगे चलकर ओनेसिक्राइटस्, इरोटोस्थेनीज़, नियार्कस् और मेगास्थेनीज़ उसके विवरण से सहमत दिखायी देते हैं।

गंगाघाटी के पश्चिम और दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिमोत्तर में पड़ने वाला लगभग ४-५ लाख वर्गमीलों में फैला हुआ राजपूताने का आधुनिक रेगिस्तान आज एक बालुकामय क्षेत्र है, जहाँ जीवन अत्यन्त कठिन और चुनौतीपूर्ण है। यहाँ की मिट्टी में नमक और कुँओं के पानी में भी नमक होने के कारण प्रायः यह माना जाता है कि अत्यन्त भूगर्भीय प्राचीन काल में यह क्षेत्र समुद्र के नीचे रहा होगा। किन्तु जब अमलानन्द घोष ने दृषद्वती नदी (वर्तमान चौटांग) और सरस्वती नदी (वर्तमान घग्घर) के किनारों को ढूँढ़ निकाला, उपर्युक्त मत कमजोर पड़ गया है। आज ये नदियाँ लुप्त हो चुकी हैं। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में ये राजपूताने से होकर या तो अरबसागर में स्वयं गिरती थीं अथवा सिन्धु की सहायक बन जाती थीं। हड़प्पा संस्कृति की बस्तियाँ दृषद्वती नदी के किनारे पायी गयी हैं। पुनः सरस्वती के काँठों में चित्रित धूसरमृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई है जो लगभग ७००-८०० ई.पू. के माने जाते हैं। इन मृद्भाण्डों के इस युग के लगभग १००० वर्ष बाद वहाँ ई.स. ३००-४०० के आसपास रंगमहल की संस्कृति पनपी। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में राजस्थानी मरुस्थल न तो संस्कृतिविहीन था और न जल के लिए तरसने वाला क्षेत्र। निष्कर्ष रूप में घोष ने यह निश्चित किया कि लगभग २०० ई. पश्चात् तक राजस्थान रेगिस्तानी प्रदेश में परिवर्तित हो चुका था। किन्तु थार के क्षेत्र उसके बहुत पूर्व लगभग १००० ई.पू. में ही मरुस्थल में परिवर्तित हो चुके थे। आज राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी भाग ही अपेक्षाकृत अधिक मरुस्थली हैं और उसकें पूर्वी-दक्षिणी भाग कुछ कम मरुस्थली हैं जहाँ हरियाली का न तो एकदम अभाव है और न तो जीवन ही बहुत अधिक दूभर है। वास्तव में आगरा-मथुरा से होकर पश्चिमी समुद्र के किनारों में गुजरात तक अत्यन्त प्राचीन काल से मध्यकाल के अन्त तक पूरी तरह प्रयुक्त व्यापारपथ विद्यमान थे, जो बड़े ही आर्थिक महत्त्व के समझे जाते थे। ये पश्चिम में सिन्धु-सौवीर तक तथा मालवा-उज्जयिनी होते हुए कच्छ-काठियावाड़ एवं भरुच-कल्याण तक जाते थे और विदेशी व्यापार की नलिकाओं का काम करते थे। यही कारण था कि मौर्यों के समय से प्रारम्भ कर मुगलों के समय तक इन

---

(१) अग्रवाल ऐण्ड अग्रवाल, भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, पृ. ६, १८।

व्यापारिक पंथों के नियन्त्रण हेतु दक्षिणी राजस्थान, मालवा और गुजरात को सभी बड़ी शक्तियों-मौर्यों, सातवाहनों, गुप्तों, हर्ष और द्वितीय पुलकेशी, प्रतीहारों, राष्ट्रकूटों, प्रमुख सुल्तानों और मुगल साम्राज्यभोगिओं – ने अपने अधिकार में बनाये रखने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने दिया।

अनेक विद्वानों का मत है कि राजस्थान का मरुस्थल मानवकृत है और प्रकृति तथा पारिस्थितिकी के साथ छेड़छाड़ जंगलों की अत्यधिक कटाई, उनको जलाना तथा उस कारण जमीन का संरक्षण आदि इसके मुख्य कारण थे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी कारण वहाँ मरुस्थलों की वृद्धि के लिये उत्तरदायी हुए। सम्भवतः सतलज नदी ने अपना मार्ग परिवर्तित कर दिया, चरागाह, उजड़ गये, जंगलों के वीरान हो जाने से वर्षा कम होती गयी और सरस्वती नदी सूख गयी। उन सबके फलस्वरूप उपजाऊ मिट्टी समाप्त होकर असिञ्चित बालुका क्षेत्रों में बदल गयी।

भारतीय महाद्वीप का पूर्वी, उत्तरपूर्वी और दक्षिणपूर्वी भाग वर्षाजन्य सम्पदाओं से अत्यन्त अधिक सम्पन्न था। **अंगुत्तरनिकाय** में हेमन्तऋतु[१] (अगहन-पूस = दिसम्बर-जनवरी) की कँपा देने वाली ठण्डक, उस समय चलने वाली तेज पछुआ हवाओं, पर्वतों पर होने वाले भयंकर हिमपात, वर्षाऋतु में प्रलयंकारी बाढ़ों को उत्पन्न करने वाली प्रभूत जलवृष्टि और इन सबके कारण अस्त-व्यस्त हो जाने वाले जीवन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऊफान मारती हुई राप्ती (अचिरावती) की एक ऐसी ही बाढ़ में कोसलराज विडूडभ की सारी सेना के बह जाने तथा सरयू नदी (सरभू) की एक बाढ़ में गाँवों, नगरवासिओं एवं पशु-पक्षियों आदि सभी के बह जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[२] किन्तु वर्षा के अभाव और घोर सूखे (प्रकृतिक्रम के कारण) से उत्पन्न भीषण अकालों की भी जानकारी प्राप्त होती है। यह स्थिति दक्षिण-पूर्व तथा पूर्ववाहिनी गंगा और उसकी सभी सहायक नदियों के कांठों की थी। साधारणतया इन जंगलों और चरागाहों का प्रायः एक अविच्छिन्न वितान सा बना रहता था। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के प्रायः सभी क्षेत्रों में आज भी या तो फसलों के नाम पर अथवा विभिन्न गाँवों में बसी हुई प्रमुख जातियों के नाम पर अथवा वहाँ के पेड़ों के नाम पर सैकड़ों-हजारों गाँवों के नाम प्राप्त होते हैं। हमारे विवेच्य विषय की दृष्टि से यहाँ पेड़ों के नाम वाले गाँव प्राचीन स्थिति और आर्थिक इतिहास की ओर हमारी दृष्टि बरबस ले जाते हैं और अपनी व्यञ्जना से हमें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उदाहरणस्वरूप अमवाँ, सिसवाँ, महुअवाँ, पिपरिया-पिपरा, बेलवा-बेलही, जमुनही, तरकुलवा, बबुरी, पकड़ी, गुलरिहवा, कनइल, परासी-परसिया, करौंदा-करौंदी, बाँसी, बकुलहा-बकुलही जैसे नामों की गिनती की जा सकती है। इस समय इनमें से प्रायः सबके पास कदाचित् ही इन पेड़ों के जंगल बचे हैं। किन्तु प्राचीन काल में ये गाँव मूलतः अपने नाम के व्यंजक पेड़ों के बीच में ही बसे होंगे,

---

(१) महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग-१, पृ. १३६।

(२) धम्मपद, हिन्दी अनुवाद, महाबोधि प्रकाशन, पृ. २८; धम्मपद अट्ठकथा में उल्लेख है कि अचिरावती में आयी एक बाढ़ में अनाथपिण्डिक की १८ करोड़ की धनराशि बह गयी थी। पोटेसो. प्रकाशन, जिल्द ३, पृ. ११०; जातक, फॉसबाल, जिन्द ४, पृ. १६७; थेरगाथा अट्ठकथा, पोटेसो., जिल्द १, पृ. १०३। वहाँ कथित है कि नदी के किनारे सोये हुए भिक्षुओं में उस बाढ़ के अचानक आ जाने से खलबली मच गयी।

इसकी कल्पना विवादरहित ही होनी चाहिए। ये नाम हमें बौद्ध साहित्य में वर्णित विभिन्न वनीय ग्रामनामों अथवा नगरनामों (जेतवन जैसे) का स्मरण कराते हैं।[1]

दोआब का क्षेत्र २५''-४०'' वर्षा के मध्य में आता है। पुरानी जलोढ़ भूमि कंकरीली थी। अतः भारी हलों के बिना लोहे वाले फालों से उस भूमि को जोतना असम्भव था। प्रारम्भ में यह सारा क्षेत्र साल के जंगलों से आच्छादित था, जो अब केवल पहाड़ी ढालों और तराइयों मात्र में थोड़े बहुत बचे हैं। स्वेटिंग् ने इस क्षेत्र में प्राचीन घने जंगलों के होने का उल्लेख अपने प्रामाणिक ग्रन्थ **भारत के जंगल** में किया है। ४०००-२००० ई.पू. के बीच दोआब के किनारे मानसूनी जंगल और दलदल फैले हुए थे। पणिक्कर महोदय के मत में रामायण काल में इन मैदानों का उपनिवेशन पूर्णरूप से नहीं हुआ था और दोआब के घने जंगल ऋषि-मुनियों के आश्रमों से भरे पड़े थे।[2]

आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त नये कृषि उपकरणों, अधिक उपज देने वाले समुन्नत बीजों, रासायनिक खादों और भूमि सुधारों-विशेषतः चकबन्दी के कारण खेती में होने वाले त्वरित, दूरगामी और बहुत हद तक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विकसित युग में रीढ़तोड़क जनसंख्या वृद्धि के बावजूद भी भारतवर्ष प्रायः अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर है और अकालों की स्थिति अब शायद ही आती है। किन्तु प्राचीन काल में विश्व के अन्यान्य देशों से आवश्यकतानुसार अन्न आयात करने की बात तो दूर रही, देश के भीतर भी अन्नों का यातायात बड़ा कठिन था। उस समय जहाँ एक ओर उचित वर्षा के द्वारा उत्पन्न खेतीबारी से साधारणजनों को खाने-पीने की कोई कठिनाई नहीं होती थी, वहीं बाढ़, कीड़ों-मकोड़ों, चूहों, टिड्डियों और तोतों जैसी चिड़ियों तथा वृष्टि के अभाव के कारण कभी-कभी छोटे अथवा बड़े अकाल पड़ते रहते थे। एक बात यह भी स्पष्ट सी है कि वर्षा की प्रचुरता के बावजूद भी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में चावल तैयार करने वाली मुख्य फसलों सहित ऐसी अनेक फसलें बोयी जाती थीं, जो कम से कम दिनों में, कम पानी प्राप्त करके भी, जल्दी ही तैयार हो जाती थीं। बौद्ध साहित्य[3] में इनके बहुधा उल्लेख प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप, साँवा (श्यामक), कोदो (कोद्रव), चीना (चिनक), जौ (यव), केराव या मटर (कलाय), मुग्ग-मास (मूँग और उड़द), अलसी या तीसी (अतसी), तिल-सरसो (सिद्धष्ठक) आदि की खेती बहुत बड़े पैमानों पर की जाती थी। केवल साठ दिनों में पककर तैयार हो जाने वाले साठा और साठी जैसे मोटे अथवा महीन धान का भी इन फसलों में एक प्रमुख स्थान था। इन सबके लिए पानी की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम ही हुआ करती थी और अनेक तो कुछ-कुछ सूखे अथवा हल्की-फुल्की बरसात की दशा में भी तैयार हो जाते थे। आजकल की दशा के विपरीत उन दिनों खेती को या तो अंशतः या पूर्णतः आकाश के पानी पर निर्भर रहना पड़ता था। कुओं, छोटे-मोटे बंधों,[4] तटाकों, पोखरियों, गहरी नालियों, कुल्याओं

(१) पीछे देखिए, पृ. ६।

(२) अग्रवाल ऐण्ड अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. २२-२३।

(३) देखिए महाउमग्ग जातक, संख्या ५४६; महावेसन्तर जातक, संख्या ५४७; अं.नि., हिन्दी अनुवाद, भाग-१, पृ. २०६।

(४) सांवां, कोदो, चीना आदि प्राचीन अन्नों को अधिकांश लोग अब पहचान भी नहीं सकते और उनके लिए अन्न उत्पादों के अजायबघरों की व्यवस्था होनी चाहिए।

कुणालजातक (सं. ५३६) में सिंचाई हेतु रोहिणी नदी पर एक बाँध के निर्माण का उल्लेख है।

अथवा तालों से ढेंकुली, पुरवट, दौरा और दोन (द्रोणी) और रहट (अरघट्ट) द्वारा ही खेतों में पानी दिया जाता था, जो काफी कष्टसाध्य और समयसाध्य था। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने इन सभी फसलों की उपर्युक्त प्रदेशों में बहुत बड़ी मात्रा में खेती होते हुए आज से लगभग २०-३५ वर्षों पूर्व तक देखा था। किन्तु उनमें से अधिकांश की खेती या तो अब पूर्णतः समाप्त हो गयी है अथवा समाप्त होती जा रही है अथवा अनेक की खेती-मात्रा में बहुत कम हो गयी है। निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि भगवान बुद्ध के समय से लगभग भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक एकाएक उत्पन्न होने वाली कृषि क्रान्ति के पूर्व तक (बीच के लगभग ढाई हजार वर्षों तक) कम से कम उत्तर पूर्वी भारत में तो कृषि उत्पादों की समानता और कृषि सम्बन्धी पृष्ठभूमि प्रायः एक जैसी बनी रही। यह नहीं कहा जा सकता कि वर्षा पहले से अधिक हो रही है। वह तो निश्चित रूप से अनुपात में कम है। किन्तु तकनीक और विज्ञान की प्रगति ने हमें भूमिगत और नदियों तथा पहाड़ों के पानी को खींच लेने अथवा इकट्ठा कर लेने की जो सुविधा दे दी है, उससे अब हम ज्यादे दिनों में तैयार होने तथा पकने वाली और अधिक उत्पाद देने वाली गेहूँ और धान जैसी प्रायः दो फसलों की ही खेती अधिक करने लगे हैं। किन्तु इनसे पर्यावरण और पारिस्थितिकियों में अनेक विषमताएँ भी उत्पन्न होती जा रही हैं और तीन-चार दशकों के भीतर ही प्रकृति अधिकांशतः सूनी-सूनी सी दिखायी देने लगी है। उद्यानों, बगीचों और जंगलों का तेजी से अन्त; तालाबों, पुष्करिणियों, नालों और नीची भूमियों को पाटकर और बाँधकर अथवा अन्य प्रकार से खेती के लिए किये जाने वाले उपयोग; चारागाहों के अन्त और फलतः पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं की तेजी से कमी; कस्बों और नगरों के आकार में वृद्धि; गाँवों के छीजते हुए स्वरूप और अनगिनत प्रकार की मशीनों-उद्योगों की वृद्धि वरदान और अभिशाप का एक द्वैध मिश्रण उपस्थित करती हुई प्राचीन भारतीय प्राकृतिक परिस्थितियों की तुलना में आधुनिक परिस्थितियों में अत्यन्त भिन्नता उत्पन्न कर चुकी हैं।

दूसरा अध्याय

अध्ययन के स्रोत : देशी साक्ष्य

गुप्तपूर्व प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन के स्रोत मुख्यतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं – साहित्यिक और पुरातात्त्विक। साहित्यिक भाग में वैदिक साहित्य, महाकाव्य साहित्य, बौद्ध साहित्य, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ग्रन्थ आते हैं एवं पुरातात्त्विक भाग में अभिलेखों और सिक्कों के अतिरिक्त विभिन्न प्राचीन संस्कृति-सभ्यताओं के अवशेषों, स्मारकों-स्थानों-नगरों-टीलों की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री आदि अग्रणी हैं। खुदाइयों से प्राप्त मृद्भाण्डों के आधार पर ऐतिहासिक कालक्रमों का निर्धारण देश में धातुओं-विशेषतः लोहे के प्रयोग के क्रम, खेती और व्यापार के विकासक्रम और नगरीकरण जैसे अनेक विषयों पर इधर कुछ दशकों में बड़े व्यापक और विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु अब भी अनेक पुरातात्त्विक निष्कर्षों का साहित्यिक ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से कोई विशेष मेल नहीं बैठाया जा सका है। विभिन्न खुदाइयों की अनेकानेक रिपोतार्ज़ और निष्कर्षों के बारे में भी पुरातत्त्व विषयक विद्वानों में ही गहरे और कभी-कभी तो तीखे मतभेद हैं। खुदाइयों में अपनायी गयी तकनीक सम्बन्धी भी मतभेद कम नहीं हैं। तथापि प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन में इन प्रयत्नों का महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। आगे हम क्रमशः इनकी ओर इंगित करेंगे।

वैदिक साहित्य : पश्चिमोत्तर और उत्तर भारत का प्रारम्भिक आर्थिक स्वरूप

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम अंश वैदिक साहित्य है और उनमें सबसे पहला है **ऋग्वेद**। **ऋग्वेद** की भौगोलिक पृष्ठभूमि काबुल के आस-पास के प्रदेशों से लेकर उत्तरी-पश्चिमी पाकिस्तान सहित भारतीय पंजाब तक, सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के प्रदेशों तथा सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच के क्षेत्रों तक सीमित थी। किन्तु उत्तरवैदिक साहित्य की रचनाओं के अन्तिम युग में आर्यों का भौगोलिक आयत्त पूर्व और दक्षिण में काफी दूर तक बढ़ चुका था। **ऐतरेयब्राह्मण** में उत्तर के कुरु-पञ्चाल जनपदों के वसों और उशीनरों, मध्यदेश में कोसलों, दक्षिण में सात्त्वतों और हिमालय के पार उत्तर कुरुओं और उत्तर मद्रों का उल्लेख आता है। अन्य स्थलों से कोसल (आजकल का अवध) और विदेह (उत्तर बिहार = तिरहुत), मगध (मध्य पश्चिमी और दक्षिणी बिहार), अंग (उत्तर पूर्वी बिहार) तथा दक्षिण में आन्ध्र, पुलिन्द, मुतिब, शबर, पुण्ड्र और नैषदों की जानकारी होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों से यह भी स्पष्ट है कि **ऋग्वेद** की ग्रामीण संस्कृति के समानान्तर उस समय नये नगरों के निर्माण के साथ एक नागर संस्कृति का भी विस्तार हो रहा था। स्वाभाविक था कि इन प्रक्रियाओं के पीछे आर्थिक विकास की गति प्रधान कारण वनी हो। कुरु की राजधानी असक्तिवन्त, पञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य, वत्स की राजधानी कौशाम्बी और काशी जैसे

स्वतंत्र नगर इस युग में स्थापित हो चुके थे।

ऋग्वेद में आर्यसभ्यता की पशुपालक और गोचारक अवस्था की स्मृतियाँ कई स्थलों से प्राप्त होती हैं।[1] कृषि पर आधृत जीवन उस युग की प्रमुख विशेषता थी। आर्य के अर्थ में कृष, कृषि, चर्षण (कर्षण) जैसे शब्दों के प्रयोग, फाल वाले हलों, बैलों द्वारा खेतों को जोते जाने, खेतों में हराइयों के बनने, यवों (विभिन्न फसलों) के वपन, हँसुओं द्वारा फसलों के काटे जाने, उन्हें बाँधने, मणंनी (दँवरी), लवनी (ओसवनी) आदि क्रियाओं के उल्लेख अनगिनत[2] हैं। यव (ऋ., अष्टम. २२.६) के साथ ही शालि, धान्य, मुद्ग (मूँग) और इक्षु (ईख) के उल्लेख हैं। सिंचाई के साधनों में पानी की नालियों (ऋ. दशम. ६८.१), कदाचित् नहरों[3] तथा कुओं से पानी निकालने की ओर निर्देश करते हैं। सन्तोष कुमार दास ने पानी निकालने के लिए चक्कों वाले यन्त्रों (घाटी चक्र) और रहटों (अरघट्ट) जैसी विधियों के **ऋग्वेद** से जानकारी की बात कहीं है,[4] किन्तु उनके द्वारा निर्दिष्ट सन्दर्भों में इनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। तथापि यह स्पष्ट है कि अगली लगभग तीन शताब्दियों तक प्रचलित भारतीय खेती का मुख्य स्वरूप और आधार ऋग्वैदिक युग में निश्चित हो चुका था।[5]

उत्तरवैदिक युग में कृषि का और भी अधिक विकास हुआ। हल अब बड़े और भारी होने लगे थे, जिनमें कभी छह, आठ, बारह या चौबीस-चौबीस बैल जोते जाने लगे थे। उनके फालों की नोक अब काफी पतली (पवीरवत्) और परिहथों को मुठिया चिकनी होने लगी थी। सिंचाई के साधन अब और विकसित हो गये और खाद (शकृत अथवा करीष) का उपयोग व्यापक हो चुका था। विभिन्न प्रकार के अनाजों के विवरण एक ही साथ यज्ञों के सम्पादन के सिलसिले में प्राप्त होते हैं जिनमें नीवार, मसूर, श्यामक, प्रियङ्गु और धान की कुछ नयी किस्मों के उल्लेख[6] आर्यों के क्षेत्रविस्तार के द्योतक हैं। विभिन्न प्रकार के अन्नों के ये उत्पाद बौद्ध साहित्य में भी उत्तरपूर्वी भारत के प्रमुख उत्पादों के रूप में प्राप्त होते हैं। **शतपथ ब्राह्मण** खेती के विभिन्न चरणों, जोताई-बोआई-कटाई-दँवाई का उल्लेख करता है।[7] कीड़ों-मकोड़ों द्वारा बोये हुए खेतों के नष्ट किये जाने, कृषकों द्वारा उनसे मुक्ति

---

(१) ऋ., प्रथम, ४२.१-१०; दशम, ८६.१४; दशम, ६१.१४।

(२) दे., मजूमदार और पुसालकर, वेदिक एज, पृ. ३६५; र.च. दत्त, हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ३५; ऋ., प्रथम, १७.२१; दशम, ५७वाँ सूक्त।

(३) स यह्वयो वनीर्गो चर्वा जुहोतिप्रथन्यासु सस्रिः।
अपादो यत्र युज्यासो रथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः।। ऋ. दशम ६६.७

(४) दि इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ ऐंशियेण्ट इण्डिया (१६८०), पृ. २४।

(५) कृष्णमोहन श्रीमाली ने ऋग्वेद के उन स्थलों को बाद का क्षेपक माना है जहाँ कृषि सम्बन्धी उल्लेख हैं। उनके मत में ऋग्वेदीय अर्थव्यवस्था का आधार कृषि नहीं अपितु गोचारणमात्र था जो कबायली और पितृप्रधान आदिम संस्कृति का द्योतक है। देखें - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. १२३-१३०।

(६) शुक्लयजुर्वेद, अठारहवाँ १२।
व्रीहयश्च मे यवाश्च मे मासाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

(७) वेदिक एज, पृ. ४६०।

पाने हेतु मन्त्रों-तन्त्रों का प्रयोग तथा सूखों और अधिक वर्षा से भी बचने के लिए इन उपायों का सहारा लिये जाने आदि का ज्ञान **अथर्ववेद** के मन्त्रों से होता है।[१] हलों में जोते जाने योग्य बछड़ों-बैलों की आयु, उनकी बधिया-क्रिया, दूध देने वाली गायों की विशेष संज्ञायें तथा अलग-अलग आयु वाली गायों की अलग-अलग संज्ञायें **तैत्तिरीय, वाजसनेयी** और **मैत्रायणी** संहिताओं में प्राप्त होती हैं। इस प्रकार उनसे खेती के विकसित होते हुए क्रम का ज्ञान प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक युग के आते-आते कृषि सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ किये जाने के समय किसी न किसी यज्ञीय अथवा पूजा की विधि के सम्पादन के विधान निश्चित हो चुके थे। गृह्यसूत्रों में पुशओं - विशेषतः गायों को रोगमुक्त रखने के लिए अनेक प्रकार की पूजाओं के विधान प्राप्त होते हैं। गायों तथा अन्य पशुओं सम्बन्धी वैदिक विवरणों की बहुलता एवं उद्योगों में सूत अथवा रथकार का महत्त्व हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि वैदिक युग की आर्थिक पृष्ठभूमि का मेरुदण्ड पशुसम्पदा और कृषि कार्यों की धुरी पर ही स्थित था। गाय धीरे-धीरे खेती का मूल, सभी प्रकार के गोरसों की प्रदाता, दक्षिणा की प्रतीक और विनिमय का प्रमुख माध्यम बन चुकी थी। **ऋग्वेद** आर्यों के सर्वप्रिय[२] पशु और अघन्य के रूप में गाय सम्बन्धी विवरणों से भरपूर है।

ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय उद्योग और व्यापार का भी एक मोटा ढाँचा उस समय तक तैयार हो चुका था। कपड़ों के बुनने की कला, अच्छे-अच्छे कपड़ों[३] (ऋ., पञ्चम २९.१५) और भेड़ों के ऊन को साफकर उनसे बने हुए गृहदासियों के कपड़ों के उल्लेख वस्त्र-उद्योग के प्रारम्भिक स्वरूप की ओर इंगित करते हैं। रथकार अथवा सूत समाज के औद्योगिक वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में **ग्रामणी, राजन्य** और **महिषी** जैसे प्रमुख व्यक्तिओं अथवा जनप्रतिनिधिओं के साथ राजा के राज्याभिषेक में भाग लेता था। लकड़ी के शिल्पों में उनके वैशिष्ट्य की ओर प्रायः निर्देश मिलते हैं। **हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र** (प्रथम १५.१) में व्यापारिक सफलता हेतु प्रार्थना प्राप्त होती है, जिसमें पण्यसिद्धि एक संस्कार अथवा पूजा का विधान बन चुका था। **ऋग्वेद** से ज्ञात निष्क एक आभूषण होने के अतिरिक्त वस्तुओं के विनियम में एक मूल्यनियामक के रूप में भी व्यवहृत होता था। **ऋग्वेद** के एक मन्त्र में दक्षिणारूप में प्रदत्त १०० निष्कों और १०० घोड़ों का प्रशंसात्मक उल्लेख है।[४] मैकडॉनेल और कीथ महोदयों ने निष्क के एक सिक्के रूप में प्रयोग वाले सन्दर्भ उत्तरवैदिक साहित्य से उपस्थित किये हैं।[५] निश्चय ही ये उल्लेख एक बढ़ते हुए बाजार और आदान-प्रदान की व्यापारिक क्रियाओं का चित्र उपस्थित करते हैं। **अष्टाध्यायी** के प्रणेता पाणिनि उत्तरवैदिक युग के एक प्रतिनिधि शास्त्रकार थे, जिन्होंने **पण, कार्षापण,** पाद और

---

(१) वहीं, पृ. ४५३, ४६०।

(२) अघन्या, दक्षिणा, गविष्टि आदि शब्दों के अभिप्राय के लिए देखिए, वेदिक एज. पृ. ३६५।

(३) रैम्ज़े म्यूर, ओरिजिनल संस्कृत टेक्सट्स्, पृ. ४६२ और आगे;
आधीषमाणायाः पतिः शुचयाश्च शुचस्य च।
वासोवायो वीता मा वासांसिममृजत्।। ऋ.,दशम. २६.६।

(४) शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कात्र् क्षतमशवान् प्रयतान् त्सद्य आदम्। ऋ., दशम. १२६.२।

(३) वेदिक इण्डेक्स्, जिल्द १, पृ. ४५५, निष्क की पादटिप्पणी ७।

द्रोण जैसे सिक्कों एवं **आढक, आचित, पात्र, प्रस्थ** और **द्रोण** जैसे वस्तुमापकों का उल्लेख किया है।[1]

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में **मृधृवाचृ**, दक्षिणा न देने वाली तथा ब्याज वसूल करने वाली पणि नामक एक कंजूस जाति के लोगों का उल्लेख है, जो दस्यु कही गयी है।[2] रॉथ महोदय ने पणि जाति या शब्द की उत्पत्ति पण (वस्तु-विनिमय) से माना था। इसकी वास्तविक लक्षणा अथवा व्याख्या के सम्बन्ध में अनेक विवाद होते हुए भी इतना तो निश्चित है कि पणि लोग व्यापार करने वाली किसी अनार्य जाति के प्रतिनिधि थे, जिनका मूल निवास भारत में ही था।

जिमर[3] तथा आ.बे. कीथ जैसे विद्वानों के मत में यह नहीं प्रतीत होता कि प्रारम्भिक आर्य जहाजों द्वारा समुद्री व्यापार से परिचित नहीं थे। **ऋग्वेद** में समुद्रों से प्राप्त रत्नों का जो उल्लेख हुआ है और समुद्र को पारकर दूसरे छोर पर जाने के जो उल्लेख हैं उससे यह तो कम से कम निश्चित है कि ऋग्वैदिक आर्य समुद्र से परिचित अवश्य थे। वहाँ आने वाली भुज्य की कथा से जहाजरानी का भी अनुमान लगाया जा सकता है।[4] **अथर्ववेद** में समुद्र से उत्पन्न शंखों और मणियों का उल्लेख हुआ है।[5] व्यापार में लाभ हेतु की जाने वाली प्रार्थनाएँ आन्तरिक और बाह्य व्यापार की ओर निर्देश करती हैं।[6] अतः मैक्समूलर, लैंसें, ज़िमर, मैकडॉनेल और कीथ जैसे विद्वानों के इस निष्कर्ष से कोई विमति नहीं हो सकती कि वैदिक आर्यों को न केवल समुद्र की जानकारी थी, अपितु वे ज्वार-भाँटे, सामुद्रिक जहाजरानी, सामुद्रिक व्यापार तथा समुद्रों से उत्पन्न मणियों और रत्नों से भी पूर्णतः परिचित थे।

वैदिक ग्रन्थों से विभिन्न धातुओं का भी परिज्ञान होता है। वहाँ अयस्[7] शब्द के प्रयोग बार-बार हुए हैं। किन्तु अब तक विद्वानों में इस बात का एकमत्य नहीं हो सका है कि अयस् से लोहे का तात्पर्य था अथवा ताँबे का अथवा किसी अन्य मिश्रित धातु का। यह सन्देह लोहायस् और ताम्रायस् जैसे शब्दों के प्रयोग के कारण बल पकड़ता है। **अथर्ववेद**[8] में श्याम और लोहित (लाल) अयस् की बात कही गयी है। अतः प्रायः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पूर्ववैदिककालीन अयस् या तो ताँबा था अथवा अन्य कोई मिश्रित धातु। तथापि यह निश्चित है कि **अथर्ववेद** का समय आते-आते अयस् शब्द का प्रयोग लोहे के अर्थ में

---

(१) वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द १, ४७१-४७३।

(२) उद्धृत, वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. ४३२; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, पृ. १३६ और १४०; और देखिए, वैदिक एज्. पृ. २४४।

(३) प्रथम ९७.७ और ८; प्रथम ४७वाँ सूक्त। आर्यों, विशेषतः ऋग्वैदिक आर्यों, के समुद्र ज्ञान के बारे में विभिन्न मतों के लिए देखिए, जे.एन. समद्दर, इकनॉमिक कण्डीशन्स् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, ईस्टर्न बुक हाउस, पृ. २१-३०।

(४) ऋ., प्रथम ४७.६; वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. ४३२।

(५) अथर्व., चतुर्थ, १०.३-५।

(६) ऋग्वेद, तृतीय, १८.३।

(७) ऋ., प्रथम, ५७.३; १६३.९; चतुर्थ, २.१७; षष्ठ, ३.५।

(८) अथर्व., चतुर्थ, २.६।

होने लगा था जो उस सन्दर्भ से स्पष्ट है जिसमें तीर के मुँह पर लौहबिन्दु के लगे होने का उल्लेख है।[1] उत्तरवैदिक युग के आते-आते यह स्पष्ट हो जाता है कि भाथी द्वारा उसके गर्म करने की प्रक्रिया (ध्मा) पूरी तरह ज्ञात हो चुकी थी (**शतपथब्रा**., बारहवाँ, ७.१.७; **तैत्तिरीयब्राह्मण**, तृतीय, ४.१०.१; **वाजसनेयी संहिता**, ३०वाँ, १४)।

अयस् के साथ ही हिरण्य, श्याम (भद्दा या काला) लोह, सीस (शीशा), त्रपु (टिन) जैसी धातुओं के भी उल्लेख हुए हैं।[2] धातुओं से बने हुए कवच, अस्त्र-शस्त्रों, घर-गृहस्थी की वस्तुओं, तलवारों, तरकसों, शिरस्त्राणों एवं आभूषणों के अनगिनत उल्लेख वैदिक साहित्य से प्राप्त होते हैं।

संहिताओं में **अथर्ववेद** का स्थान, रचना-तिथि की दृष्टि से, प्रायः अन्तिम माना जाता है।[3] कदाचित् इसी कारण कृषिपरक, सन्दर्भों की दृष्टि से वह सर्वाधिक सम्पन्न है। **तैत्तिरीयसंहिता**[4] में काले, सफेद और जल्दी पकने वाले धान को (षष्टिभिरेव दिनैः पच्यमाना) **आशुब्रीहन्यः** कहा गया है। **अथर्ववेद** में धान (ब्रीही) और उससे पकाये गये चावल ओदन को बहुत ही अधिक प्रशंसा और महत्त्व प्रदान किया गया है तथा उसे ब्रह्मस्वरूप, विराट् और पुरोहित के शरीर के समान कहा गया है (षष्ठ, १४०.२; अष्टम्, २.१८; दशम्, ६.२४; द्वादश, १.४)। सम्भवतः इसी कारण जे. खोन्दा जैसे विद्वान ओदन को **ऋग्वेद** के सोम की समता देते है।[5] सम्भवतः इसका कारण यह था कि ब्रीही धान और उससे बने चावल ने आर्यों के दैनन्दिन जीवन तथा श्रौत और गृह्य यज्ञों में बहुत ही प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। ब्लूमफील्ड ने ओदन को आर्यों के जीवन का दर्शन माना (**अथर्ववेद ऐण्ड गोपथब्राह्मण**, पृष्ठ ७८) है। गोवर्धन राय शर्मा के मत[6] में **अथर्ववेद** की रचना गंगाघाटी तथा भारतीय भूखण्ड के मध्य और पूर्वी भागों में हुई थी, जहाँ आर्य जाति भारत में कृषि के आरम्भ के पूर्व भी रहती थी।

भूमि अर्थात् पृथ्वी को देवतास्वरूप मानकार उसकी पूजा और प्रार्थना के अनेक

---

(१) अथर्व., पञ्चम, २८.१; ऋग्वेद में भी एक स्थान पर (षष्ठ ७५.१५) अयमय मुख वाले (लोहे की नोक वाले) तीर का उल्लेख है।

(२) वाजसनेयी संहिता, अठारहवाँ, १३।

(३) रचनातिथि की दृष्टि से अथर्ववेद को सबसे अन्तिम मानते हुए भी अनेक विद्वानों के मत में उसके अनेक मन्त्रों की प्राचीनता ऋग्वेद के मन्त्रों के ही समान है। अभी हाल में जे. खोन्दा नामक विद्वान् (सवयज्ञ, पृष्ट ३४-४३–उद्धृत, गोवर्धन राय शर्मा, भारतीय संस्कृति के पुरातात्त्विक आधार, पृष्ठ ७८-७९) ओदन अर्थात् चावल से सम्बन्धित अनेक सूक्तों की समता ऋग्वेद के सन्दर्भों से की है। शर्मा महोदय ने विण्टरनित्स् और खोण्दा के मतों का हवाला देते हुए इस मत की और भी पुष्टि की है। वहीं, पृष्ठ ८३-८४।

(४) कृष्णानां ब्रीहीणां सोमाय वनस्पतये श्यामकं चरुं सवित्रं सत्यप्रसवाय पुरोडाशं द्वादशकपालमाशनां ब्रीहीणां रुद्राय। प्रथम, ८.१०। आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश से असम तक के प्रदेशों में श्यामक (साँवाँ) और साठा तथा साठी जैसे धान पानी पाकर केवल साठ दिनों अर्थात् मात्र दो मास में तैयार हो जाते हैं। बंगाल में इन्हें आशुधान्य कहा जाता है। एक लोकोक्ति है – साँवा साठी साठ दिन। जउ देव बरीसें रातदिन।।

(५) उद्धृत, गोवर्धन राय शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ७९-८०।

(६) वहीं, पृ. ८०।

सन्दर्भ वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। (देखिए, वेदिक इण्डेक्स, मैकडॉनेल ऐण्ड कीथ, जिल्द २, पृष्ठ १६-१७)। किन्तु आर्थिक दृष्टि से पृथ्वी के महत्त्व का सर्वमुख्य उल्लेख **अथर्ववेद** के भूमिसूक्त (१२वाँ, १) के मन्त्रों में हुआ है। वहाँ कथित है कि भूमि नाना प्रकार की औषधियों को धारण करने वाली है (औषधीया विभर्ति); अन्नों और कृष्टियों (कृषि) की उत्पत्तिकतृ है (यस्मादन्नं कृष्टयः संबभुवुः); विश्वंभरा, वसुमती, हिरण्यवक्षा और जगत् को अपने ऊपर निवास देने वाली है (विश्वंभरा, वसुधारी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी); सभी प्रकार की सम्पत्तियों की धारक है (द्रविणे नो दधातु); पुत्रों के लिए माता के समान दूध देने वाली है (सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः), सभी उसी भूमि से उत्पन्न होते हैं, सभी मर्त्य उसी में चरते हैं; सभी द्विपद और चतुष्पद उसी से पलते हैं (त्वज्जाता त्वयि चरन्ति मत्यस्त्विं विभर्षि द्विपदस्सवं चतुष्पदः); भूमि हमारी माता है, हम उसके पुत्र हैं (माता भूमिः पुत्रों अहं पृथिव्याः); तुम्हीं विश्व हो और तुम्हीं सभी औषधियों की माता हो (विश्वस्त्वं मातारमोषधीनां); भूमि से ही मनुष्य जीते हैं, उसी के अन्न से मनुष्य पलते हैं (यस्याः वृक्षा वानस्पत्याः ध्रुवास्तिष्ठन्ति); उसी में व्रीही और जौ वर्तमान हैं, उससे ही अन्न है, उसी से ही पञ्चकृष्टियाँः हैं (यस्यामन्नं व्रीहीयवो यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः) और वह बहुत प्रकार की निधियों को धारण करती है तथा प्रार्थित है कि वही भूमि हमें मणियाँ और स्वर्ण दे (निधि बिभ्रति बहुधा वसुं मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे)।

स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं के मन में पृथिवी के आर्थिक महत्त्व का बड़ा स्पष्ट और पूर्ण भाव था। उससे उत्पन्न होने वाले विभिन्न अन्नों, द्रव्यों, धातुओं, औषधियों और उस पर बसी हुई बस्तियों के भरण-पोषण के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुओं से मानवों और पशुओं का समान रूप से जो जीवन निर्वाह होता था, उसी के कारण पृथिवी को देवतास्वरूप, पूज्य और आराध्य स्वीकार किया गया। आगे कौटिल्यकृत **अर्थशास्त्र** के अध्ययन के सिलसिले में हम देखेंगे कि **अथर्ववेद** की इसी परम्परा में कौटिल्य ने पृथिवी के लाभ (प्राप्ति = विजय) और पालन के शास्त्र को ही **अर्थशास्त्र** (राजशास्त्र, प्रशासन, कृषि और वार्ता) का विषय माना और मनुष्यवती भूमि को ही अर्थ की संज्ञा दी।[1]

पाणिनि उत्तरवैदिक युग के अन्त अथवा उससे थोड़े पूर्व के मनीषी थे।[2] अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **अष्टाध्यायी** में उन्होंने विभिन्न जनपदों की वृत्तियों (जीविकोपार्जन के साधनों) की चर्चा करते हुए (४.१.२२); ब्याज (४.४.३१ तथा ४७); कृषि सम्बन्धी विधियों (५.४.५८-५६); बोयी जाने वाली विभिन्न फसलों (५.२.२-४); करघा और ढरकी (५.४.१६०); ऊनी वस्त्र (४.३.१५८); कपड़ों की रंगाई के लिए नील (४.१.४२) तथा कुम्हार, चर्मकार, चिड़िमार, बधिक और मछुआरों जैसे पेशेवर लोगों का उल्लेख किया है। साथ ही वहाँ शुल्क,

---

(१) अनेक आधुनिक लब्धप्रतिष्ठ अर्थशास्त्रमीमांसक भी भूमि अथवा कृषि को ही सारे आर्थिक स्रोतों और आय के संसाधनों का मूल मानते हैं।

(२) गोल्ड्स्टूकर और रा.गो. भण्डारकर ने पाणिनि का काल ७वीं शती ई.पू. माना। मैकडॉनेल (इण्डियाज़ पास्ट, पृष्ठ १३६) ने उनका काल ५०० ई.पू. माना।

नाप-तौल, विभिन्न प्रकार के सिक्कों तथा श्रेणी एवं अन्य संघटनशील व्यापारिक संस्थाओं के उल्लेख पाये जाते हैं।[1]

महाकाव्य ग्रन्थ : आर्थिक प्रशासन के सिद्धान्तों का प्रारम्भिक विकास

वाल्मीकि रचित **रामायण** तथा विशेषतः **महाभारत** भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों की विशद जानकारी उपस्थित करते हैं। यद्यपि यह विवादग्रस्त है कि रचना-तिथि की दृष्टि से इनमें कौन पहले का है और कौन बाद का, इन दोनों में ही इनकी मूल रचनाओं में बाद की कई सदियों तक छोटे अथवा बड़े अंश जोड़े जाते रहे। अतः इनकी कोई एक रचना-तिथि नहीं स्वीकार की जा सकती। प्रायः सर्वसम्मत रूप में इन्हें कई शताब्दियों के बीच में रखा जाता है।[2] मोटे रूप में इनके प्राचीन अंशों की समकालीनता उत्तर वैदिक साहित्य और बौद्ध साहित्य के अनेक अंशों से स्वीकार की जा सकती है।

वाल्मीकि रामायण के विभिन्न[3] स्थलों से भारतीय भूगोल के विवरण, धान्यबहुलता तथा अयोध्या और लंका जैसी नगरियों की रचना सम्बन्धी विशेषताएँ (प्रथम, ५वाँ सर्ग; षष्ठ, ३रा सर्ग) ज्ञात होती हैं। यद्यपि उसके भौगोलिक विवरणों में न तो कहीं क्रम है और न वे पूरी तरह दोषरहित ही हैं, तथापि उनसे भारत की भौगोलिक पृष्ठभूमि का एक मोटा खाका अवश्य प्राप्त होता है। नाट्यशालाओं से सद्यः खिले हुए पुष्पों वाली; बड़े-बड़े उद्यानों वाली; घोड़े, गाय, हाथी, ऊँटों और गधों की जमघट वाली; राजाओं द्वारा दी हुई भेटों से सम्पन्न; विविध देशों के व्यापारिओं से भरी हुई, रत्नजटित, ऊँचे प्रासादों से युक्त, सुनहली दीवारों वाले घरों से परिपूर्ण; रत्नखचित सात चौकों वाली; समतल भूमि वाली; धन्वनू, (महापथों और राजमार्गों) वाली अयोध्या नगरी का विवरण देश के उस आर्थिक विकास की ओर संकेत करता है जब नगर निर्माण की कला भारत में काफी समुन्नत और विकसित हो चली थी। ठीक इसी प्रकार लंका का जो वर्णन युद्धकाण्ड (तृतीय सर्ग) में प्राप्त होता है, वह एक गहरी खाई, ऊँचे परकोटे, चार द्वारों, उनके मजबूत फाटकों तथा अस्त्र-शस्त्रों द्वारा रक्षित दुर्गनगर के निर्माण के एक ऐसे युग का चित्र उपस्थित करता है जब बाहरी आक्रमणों से रक्षाके लिए दुर्गों का विकास किया जाने लगा था। मणियों, मूँगों, मोतियों और पन्नों से सजायी गयी लंका के विवरण एक ओर दक्षिणी भारत एवं लंका (सुन्दरकाण्ड, नवाँ) तथा दूसरी ओर पश्चिमी देशों के बीच होने वाले आपसी व्यापार की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं।

---

(१) देखिए, हिन्दू सभ्यता (हि.अनु.), रा.कु. मुकर्जी, पृष्ठ १३६-१४०।

(२) दे., कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, पृ. ३१६; मैकडॉनेल, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३०६-३०६।

(३) द्वितीय, ६८.१२-२२; प्रथम सर्ग ५ और ६; द्वितीय, ३.१४ तथा ४२वें और ६८वें सर्ग; षष्ठ, सर्ग ३। अयोध्या से केकय देश के बीच में पड़ने वाली नदियों, मुख्य-मुख्य नगरों, पर्वतों; भारत की विभिन्न दिशाओं की नदियों, पर्वतों, जंगलों, सागरों, जनपदों और नगरों, वृक्षों, वनों, लोगों के स्वभाव, चरित्र और खान-पान की विशेषताओं की जानकारी हेतु देखिए – वा.रा., चतुर्थ सर्ग, ४०वें से ४३वें तक। युद्धकाण्ड (१२८वाँ सर्ग) में लंका से अयोध्या कं बीच पड़ने वाले नगरों, नदियों, पर्वतों, जगलों और ऋषि आश्रमों के विवरण प्राप्त होते हैं। साथ ही उत्तर से दक्षिण तक के मार्ग का भी वहाँ एक परिचय प्राप्त होता है।

वनों के विभिन्न प्रकार के हिंस्र पशुओं, कठिनाई से पार की जाने वाली जलचरों से भरी उनकी नदियों, उनमें दूर-दूर तक पानी के अभाव, भोजन, वस्त्र और शय्या की अकाल जैसी स्थिति; वनों में चलने वाली आँधियों, वहाँ छाये हुए अन्धकार; सर्पबिच्छुओं के भय तथा कँटीली और कासयुक्त झाड़ियों के विवरण द्वारा वनों के कष्टदायक जीवन के मार्मिक वर्णन अयोध्याकाण्ड (सर्ग ३) में प्राप्त होते हैं। तथापि वन्य जीवन के इस कष्टदायी जीवन के विवरण के होते हुए भी वनों की वन सम्पदा और संस्कृति विषयक तत्त्वों की भी कमी नहीं रही होगी। किष्किन्धाकाण्ड (२८वें सर्ग) में वर्षा (सावन-भादों = जुलाई-अगस्त) तथा ऋतुओं के काव्यमय और बड़े ही मनोहारी विवरण (अरण्य, १६वाँ सर्ग) हैं। वहाँ वे विभिन्न ऋतुओं की प्राकृतिक विशेषताओं और मानव जीवन, विशेषतः कृषि, पर पड़ने वाले उनके प्रभाव का परिचय देते हैं। वे तत्कालीन ऋतुविज्ञान की जानकारी हेतु बड़े उपयोगी हैं और ये बताते हैं कि सर्वसाधारण मनुष्य की दृष्टि में उनसे उत्पन्न प्राकृतिक परिवर्तन, उनके सुख-दुख तथा खेती से उनके क्या सम्बन्ध थे?

प्राचीन भारतीय दण्डनीति और अर्थनीति की जानकारी की दृष्टि से **वाल्मीकि रामायण** का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है अयोध्याकाण्ड का १००वाँ सर्ग। इसमें कश्चित् अर्थात् 'क्या' शब्द से (प्रश्न से) सम्बोधन द्वारा राम ने भरत को अनेक उपदेश दिये हैं। उनसे प्राचीन भारतीय आर्थिक सिद्धान्तों तथा अनेक प्रशासकीय सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त होती है। विभिन्न श्लोकों के 'कश्चित्' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण इस पूरे सर्ग को ही कभी-कभी 'कश्चित् सर्ग' की संज्ञा दी जाती है। वहाँ राजा द्वारा रात्रि के पिछले प्रहर में जगकर राज्य की आर्थिक स्थिति और अर्थ के स्रोतों पर विचार करने (श्लोक १७) और पण्डितों के साथ उस सम्बन्ध में परामर्श करने (श्लोक २२) के उपदेश हैं। सैनिकों को उचित समय पर वेतन न देने से हानि (श्लोक ३३); दुर्गों के धन-धान्य से परिपूर्ण होने की आवश्यकता (श्लोक ५३) तथा प्रभूत राजकीय आय तथा उस आय से राजकीय व्यय को सर्वदा कम बनाये रखने की नीति पर बल दिया गया है।[1] यह भी उपदिष्ट है कि राजकीय आय किसी भी अपात्र अर्थात् अनुचित और अनावश्यक कार्य में नहीं व्यय की जानी चाहिए। देवकार्यों, पितृकार्यों, ब्राह्मणों, अतिथिओं, सेनाओं और मित्रवर्गों पर उस कोश के व्यय की संस्तुति द्वारा राजकीय व्यय की विभिन्न मदों का एक समाहारी निर्देश वहाँ प्राप्त होता (अयोध्याकाण्ड, १००.५५) है। अर्थ अर्थात् राजकीय आय को प्राप्त करते समय प्रशासन को कौन सिद्धान्त अपनाने चाहिए, उसकी ओर निर्देश करते हुए वहाँ कथित है कि आयप्राप्ति अर्थात् विभिन्न करों की वसूली का सिद्धान्त कभी भी धर्मरहित नहीं होना चाहिए (श्लोक, ६२-६४)। थोड़े में वहाँ अयोध्यानगर और कोसलराज्य की जो चर्चा प्राप्त होती है (श्लोक ४०-४६) उससे उसकी सुख-सम्पत्ति; अपने-अपने कर्तव्यों में लीन व्यापारिओं के वहाँ के संकुल; पशुओं की प्रचुरता, कृषि के उन्नत स्वरूप, खानों और उद्योगों की बहुलता, उत्सवों, सभाओं, पौसरों, पोखरों और देवमन्दिरों के वितान का एक ऐसा स्वरूप ज्ञात होता

---

(१) आयस्ते विपुलो कश्चित् कश्चिदल्पतरो व्ययः।
आपात्रेस्तु न ते कश्चित् कोशो गच्छति राघव। (वा.रा., द्वितीय १००.५)

है, जो संक्षेप में ही सही, उस राज्य की मजबूत आर्थिक रीढ़ का एक परिचय देता है।

अर्थ (आजकल की शब्दावली में सम्पत्ति (वेल्थ) क्या है और इसका स्वरूप क्या है, यह रामायण के विभिन्न स्थलों में फुटकल रूप से परिलक्षित होता है। अर्थ में केवल सिक्के ही समाहित नहीं थे (बालकाण्ड, पञ्चम अध्याय; अयोध्याकाण्ड, १००वाँ अध्याय) अपितु घोड़े, हाथी, सूती और ऊनी वस्त्र, मृगछाल और विभिन्न प्रकार के धान्य (अयोध्याकाण्ड, ७०वाँ अध्याय) भी सम्मिलित थे। ठीक इसी प्रकार महाभारत के सभापर्व (द्यूत प्रकरण) और आदिपर्व (८५वाँ अध्याय) में भी अर्थ की अवधारणा प्राप्त होती है जहाँ धान्य, ज्वार, रत्न, पशु, घोड़े, हाथी, गायें और स्वर्ण आदि उसमें सम्मिलित किये गये हैं। वहाँ कृषि और उद्योगों के स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। कश्चित्सर्ग में राम का भरत से यह पूछना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है कि क्या कृषक और पशुपालक उनका प्रश्रय पाते हैं। अयोध्या नगर कृषकों तथा उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए धान्य से परिपूर्ण (बालकाण्ड, पञ्चम; अयोध्याकाण्ड, तृतीय, १४) बताया गया है। ठीक इसी प्रकार वहाँ शिल्पिओं के सभी वर्गों के आवास थे, जिनकी बड़ी आवभगत (बालकाण्ड, १३वाँ) की जाती थी। युद्धकाण्ड में (८३.३२-३६) लक्ष्मण द्वारा राम को सम्बोधित करते हुए राजकार्यों में अर्थ के महत्त्व का बड़ा ही मार्मिक विवरण है जो धर्म और काम के वास्तविक साधक के रूप में उसके (अर्थ के) स्थान को उजागर करता है।

वाल्मीकि रामायण की ही तरह महाभारत में भी कृषि के महत्त्व पर बड़ा जोर दिया गया है। सभापर्व में (५१.५) नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हुए इस बात पर बल देते हुए प्रदर्शित हैं कि सिंचाई के साधनों की सहायता और कर्ज देकर राजा को कृषि की सम्पन्नता की ओर विशेष ध्यान देने चाहिए और यह देखना चाहिए कि कृषक न तो केवल वर्षा पर निर्भर रहें और न उनके पास कभी भोजन और बीज की कमी हो। पुनः यह पूछा गया है कि क्या राज्य में ईमानदार व्यक्तिओं द्वारा वार्ता (कृषि, व्यापार, पशुपालन और ऋणदान) पनपती है या नहीं, क्योंकि उसी से प्रजाओं की सुख-सुविधा सम्भव होती है (सभापर्व, ७६वाँ अध्याय)। वणिकों के प्रति सद्व्यवहार, उन्हें माल ले आने-ले जाने सम्बन्धी सुविधाओं के प्राप्त होने, उनकी सुरक्षा और उन पर उचित और अल्पमात्रा में कर लगाने आदि के सम्बन्ध में अनुशंसाएँ सभापर्व और शान्तिपर्व के अनेक स्थलों में प्राप्त होती हैं।

शान्तिपर्व (१२वाँ, ८.२१-२३; १६.२ और ७-८) में गृहस्थ जीवन के सभी साध्यों और राजकर्त्तव्यों के निर्वाह में धन के महत्त्व की उपस्थापना की गयी है। नारद ने युधिष्ठिर से पूछा है क़ि क्या वे रात्रि के अन्तिम प्रहर में (धर्म के साथ) अर्थ की चिन्ता करते हैं। आदिपर्व में युधिष्ठिर को (२२४वाँ अध्याय) उसकी चिन्ता में लीन बताया गया है। इस प्रकार के सन्दर्भ महाभारत में सर्वत्र बिखरे हुए दिखायी देते हैं। धन अथवा कोष के महत्त्व को स्वीकार करते हुए (१२वाँ, ८७.१८ और आगे) राजा द्वारा करों के संग्रह के सिद्धान्त क्या होने चाहिए, यह ग्वाले और बछड़े के आपसी रूप की राजा और प्रजा की तुलना द्वारा बताया गया है। कथित है कि राजा को "भलीप्रकार समझ-बूझकर इस प्रकार कर लगाना चाहिए कि उससे वह तृष्णा के कारण अपनी और दूसरों (प्रजाओं) की जड़ ही न खोद दे।

यदि राजा की यह बदनामी हो जाय कि वह परभक्षी अथवा अतिखादी है तो सभी लोग उससे द्वेष करने लगते हैं। उदाहरण है कि पीने भर को जिस बछड़े को ग्वाला उचित मात्रा में दूध छोड़ देता है, वही बली होकर पूरा बोझ खींच सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस राष्ट्र पर बहुत कर लाद दिया जाता है, वह किसी भी काम लायक नहीं रहता। अतः बुद्धिमान राजा को स्वस्थ बछड़े की तुलनास्वरूप अपनी प्रजा की आवश्यकताओं का ध्यान करके ही करारोपण करना चाहिए। भ्रमरों द्वारा वृक्षों और पौधों को बिना कोई कष्ट दिये उनसे मधु निकाल लेने अथवा गाय से एक ही बार में सारा दूध निकाल लेने के लालच में उसका स्तन ही न काट लेने जैसी उपमाओं (१२वाँ, ८८.४) द्वारा यह संस्तुत है कि राजा "विधिपूर्वक ही; धीरे-धीरे, पुरानी रीतियों के ही अनुसार, उचित स्थान पर, काल का विचार करके ही, करों को अपनी प्रजा से वसूले।"

आपत्तिकाल में कोष के अत्यधिक क्षीण हो जाने पर कौटिलीय **अर्थशास्त्र** की ही तरह **महाभारत** में भी कहा गया है कि राजा अपनी प्रजाओं को उपस्थित भय से मुक्ति दिलाने का वचन अथवा लालच देकर तथा उन्हें फुँसलाकर अतिरिक्त कर वसूले (१२वाँ, ८६. २३-३३)। किन्तु वहीं यह भी अनुशंसित (१२वाँ ८७.३४) है कि इस उपाय के असफल होने पर बलपूर्वक भी अतिरिक्त कर वसूल किये जा सकते हैं। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** और **महाभारत** के परस्पर एक दूसरे से पूरी तरह मेल खाने वाले इन विवरणों से यह बड़ा स्पष्ट हो जाता है कि ये उपाय परम्परया प्राचीन भारतीय अर्थनीति के अंग थे। किन्तु ये उपाय नियमित रूप से नहीं, अपितु अपवादस्वरूप ही, आपत्तिकाल मात्र में प्रयोग में लाये जाते थे। यह भी अनुशंसित है कि राजा के लिए यदि निश्चित करों की मात्रा में वृद्धि करना आवश्यक हो ही जाय तो उन्हें धीरे-धीरे ही बढ़ाना उचित है (१२वाँ, ८८.१२)।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात पूर्वोत्तर भारत का आर्थिक ढाँचा

बौद्ध साहित्य-विशेषतः **त्रिपिटक**-भारतीय साहित्य का वह अंश है जो प्राचीन भारतीय जीवन में सर्वाधिक सना हुआ प्रतीत होता है। **विनयपिटक** और **सुत्तपिटक** के विभिन्न अंशों का रचनाकाल ईसा पूर्व की छठीं-पाँचवीं शताब्दियों से प्रारम्भ कर सम्राट् अशोक के समय तक माना जा सकता है तथा भौगोलिक दृष्टि से उसकी व्याप्ति आजकल के मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा समस्त बिहार तक स्वीकार की जानी चाहिए। उसमें वर्णित जीवन इन प्रदेशों में एक मोटे रूप में भारतवर्ष की अंग्रेजी गुलामी से स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय तक परिलक्षित होती है। भारतीय आर्थिक इतिहास की संरचना में इस साहित्य का मूल्यवान् उपयोग किया जा सकता है। यह उपयोग कई दृष्टियों से अब भी अपेक्षित है।

त्रिपिटक अथवा उसके अंशविशेषों पर आधृत प्राचीन भारतीय अर्थ-पद्धति पर लिखी जाने वाली पुस्तकों की संख्या अब भी एक हाथ की कुछ अंगुलियों मात्र पर गिनी जा सकती है। यही नहीं, उन सभी कृतियों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं और न्यूनाधिक मात्रा में वे सभी एकांगी हैं। उदाहरण के लिए, बौद्धकालीन जीवन को दृष्टिगत रखते हुए सम्भवतः सर्वप्रथम

लिखी जाने वाली टी.डब्ल्यू. रीज़ डेविड्स् की प्रसिद्ध पुस्तक **बुद्धिष्ट इण्डिया** अपने आकार में तो बहुत छोटी है, किन्तु अपने विषय वस्तु में बहुत व्यापक है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें प्राचीनकालीन बौद्ध भारत (?) के आर्थिक पक्ष का कोई पूरा और अवलम्बन योग्य चित्रण उपस्थित किया गया है। उसकी एक दूसरी सीमा यह भी है कि लेखक ने अपने निष्कर्षों के आधाररूप में प्रायः जातकों मात्र का उपयोग किया है और **सुत्तपिटक** अथवा **विनयपिटक** के बहुत बड़े अंशों का उपयोग उसमें प्रायः नहीं के बराबर है। प्रायः ये ही सीमाएँ प्रसिद्ध जर्मनीय विद्वान रिचार्ड फिक् की प्रसिद्ध पुस्तक **सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्ध, ज़ टाइम** और रति लाल मेहता की कृति **प्रीबुद्धिष्ट इण्डिया** की भी है, जिनमें आर्थिक स्थिति पर कुछ अध्याय मात्र हैं। इन दोनों ही पुस्तकों के साक्ष्य केवल जातकों से लिये गये हैं और उनमें भी **त्रिपिटक** के अन्य अंशों का सहारा नहीं लिया गया है। सर्वप्रथम श्रीमती टी.डब्ल्यू. रीज़ डेविड्स् ने, आर्थिक विषयों मात्र को दृष्टि में रखते हुए, १९२२ ई. में प्रकाशित होने वाली **कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** के प्रथम जिल्द में 'इकनॉमिक कण्डीशन्स् एकार्डिङ्ग् टु अर्ली बुद्धिष्ट लिटरेचर, नामक एक बहुचर्चित लेख लिखा। यद्यपि इस लेख में उन्होंने हिन्दू स्मृतियों, **मिलिन्दपञ्हो** और **विनयपिटक** का कुछ थोड़ा सा उपयोग अवश्य किया, यह स्पष्ट दिखायी देता है कि उनमें भी मूलाधार **खुद्दकनिकाय** के जातक ग्रन्थ मात्र थे और **सुत्तपिटक** के बहुविध अन्य साक्ष्यों को उस लेख में कोई स्थान नहीं दिया गया।

न.च. बन्दोपाध्याय ने अपनी कृति **इकॉनामिक लाइफ ऐण्ड प्रोग्रेस इन ऐंशियेण्ट इण्डिया** तथा अतीन्द्रनाथ बोस ने दो भागों वाली अपनी पुस्तक **सोशल एण्ड रूरल इकॉनामी इन ऐंशियेण्ट इण्डिया** में पालि साहित्य का उपयोग अवश्य किया। किन्तु उनके सन्दर्भक्षेत्रों की व्यापक पृष्ठभूमि में **त्रिपिटक** के साक्ष्यों के उपयोग सीमित ही कहे जायेंगे। वास्तव में उनके सन्दर्भक्षेत्र उस साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र भी बहुत फैले हुए हैं। श्री नरेन्द्र वागले ने **सोसायटी एट दि टाइम ऑफ दि बुद्ध** में तत्कालीन आवासीय व्यवस्था और व्यावसायिक वर्गों पर विद्वत्तापूर्ण और कुछ हद तक सांख्यिकी-पद्धतियों से भरा हुआ प्रकाश डाला है। किन्तु यह कृति पूर्वोक्त अनेक कृतियों की तुलना में दूसरी ही ओर झुकी हुई है और इसमें **खुददकनिकाय** का कोई भी उपयोग नहीं किया गया है, जिसके प्रमुख अंश जातक हैं। लेखक ने ऐसा सप्रयोजन किया है। १९८५ में प्रकाशित **प्राचीन पूर्वोत्तर भारत** में श्रीमती प्रभा त्रिपाठी ने अपने समाज और अर्थपद्धति वाले अध्यायों में **सुत्तपिटक** का, एक समाहाररूप में, संक्षिप्त और कसा हुआ उपयोग किया है। स्वाभाविक है, ऐसे बहुविषयी ग्रन्थ से बौद्ध साहित्य के आर्थिक पक्षों के सम्पूर्ण रूप में उद्घाटन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यही स्थिति मदनमोहन सिंह की कृति **बुद्धकालीन समाज और धर्म** की भी है। मोतीचन्द्र ने अपने दो ग्रन्थों **सार्थवाह** और **काशी का इतिहास** में भी बौद्ध साहित्य, विशेषतः जातकों, का उपयोग किया है। परन्तु कई बार ऐसा लगता है कि उनके प्रथम संस्करण के सन्दर्भ या तो सही रूप से उतारे नहीं गये है, अथवा मूल में हैं ही नहीं। इस कारण यह सम्भव है कि इन ग्रन्थों का उपयोग त्रुटिपूर्ण हो जाय। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

से कृष्णकान्त त्रिवेदी ने **प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन** शीर्षक अपने शोध प्रबन्ध द्वारा तत्कालीन भौतिक जीवन पर एक अच्छा प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम १६२२ में प्रकाशित मूर्धन्य इतिहासकार स्वर्गीय रमेशचन्द्र मजूमदार की सर्वप्रथम कृति (उनके पीएच्.डी. के शोध प्रबन्ध) **कारपोरेट लाइफ इन ऐशियेण्ट इण्डिया** में बौद्ध साहित्य से ज्ञात सामुदायिक और संघबद्ध आर्थिक जीवन और संस्थाओं पर एक प्रामाणिक अध्ययन उपस्थित किया गया था। इसी प्रकार रामशरण शर्मा की कृति **मैटिरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन् इन ऐशियेण्ट इण्डिया** में भी बौद्ध साहित्य का प्राचीन भारतीय पुरातत्त्व के परिप्रेक्ष्य में एक अत्यन्त ही विद्वत्तापूर्ण उपयोग किया गया है। तथापि इस बात की अपेक्षा करने के सभी पहलू आज उपस्थित हैं कि बौद्ध साहित्य के समग्र चिन्तन के आधार पर प्राचीन भारतीय आर्थिक स्थिति, संगठन एवं संस्थाओं पर ग्रन्थ या तो आ ही रहे होंगे अथवा शीघ्र ही लिखे जायेंगे।

बौद्ध साहित्य के भौगोलिक विवरणों का कुछ उपयोग पीछे हम इस अध्ययन की भौगोलिक पृष्ठभूमि की चर्चा के समय कर चुके हैं। यहाँ इतना मात्र इंगित करना पर्याप्त होगा कि **सुत्तपिटक** को देखने से यह प्रतीत होता है कि सारा पूर्वोत्तर भारत वनों, उद्यानों और वृक्षावलियों की छाया के नीचे ही बसा हुआ था और आर्थिक जीवन उनसे पूरी तरह व्याप्त था। इन्हीं से होकर बड़े-बड़े राजमार्ग तथा व्यापारिक मार्ग देश के विभिन्न भागों को चीरते थे।[१] वहाँ काशी (वाराणसी), राजगृह, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती और चम्पा की छह महानगरियों के रूप में बार-बार तो चर्चाएँ आती ही हैं, उनके अतिरिक्त भी सैकड़ों छोटे-बड़े नगरों और गाँवों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो या तो किसी राज्य अथवा महाजनपद की राजधानी थे अथवा प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र थे या प्रसिद्ध राजमार्गों अथवा व्यापार पथों पर बसे हुए थे। उनमें उत्पन्न वस्तुओं; उनकी व्यापारिक अथवा कृषिपरक विशेषताओं, उत्पादों आदि की चर्चायें बड़े महत्त्व की हैं। उदाहरण के लिए काशी का चन्दन; कासी कुत्तन (आजकल का अद्धी), हाथीदाँत के कर्मिओं की दन्तकारवीथि; खोम नामक शाक्य गाँव का दुस्सा (कम्बल); गंगा और चम्पा नदी के संगम पर बसी हुई चम्पा नगरी का प्रसिद्ध बन्दरगाह और वहाँ से होने वाले आन्तरिक और बाह्य – दोनों प्रकार के – व्यापार के कारण उसकी समृद्धि;[३] पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में होने वाली ईख, धान, गेहूँ, जौ, तिल, उड़द, मटर, अरहर, साँवा, कोदो, चीना, अलसी, सरसो, हल्दी, सोंठ, जीरा आदि की खेती; बाढ़ और सूखा; अकालों; खेती के लिए नदियों पर बाँध बनाकर पानी का सिंचाई में उपयोग; सिंचाई के लिए प्रचलित अन्य साधनों एवं आजीविका के विभिन्न प्रकार के साधनों की जो विशद चर्चायें आती हैं, उनका उपयोग प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के किसी भी अध्येता के लिए अपरिहार्य है।

---

(१) देखिए, प्रभा त्रिपाठी, प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. ३६-४० और आगे।

(२) दीघनिकाय, महाबोधि सभा का प्रकाशन (हिन्दी), पृ. १४३।

(३) अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो. जिल्द, पृ. २१३; जिल्द ४, पृ. २५६; जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ. ३७०; जिल्द ५, पृ. ४६५; थेरगाथा ६५७। इस पर देखिए, अ.ना. बोस, सोशल एण्ड रूरल इकॉनामी इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, जिल्द १, पृ. ४०; प्रभा त्रिपाठी, पूर्वोक्त, पृ. २७७।

पालि निकायों में कृषि के विभिन्न कर्मों की जो चर्चाएँ हैं, उनसे तत्कालीन कृषि का स्वरूप एकदम निखरकर सामने आता है। उनसे यह ज्ञात होता है कि ग्रामों के बाहर के बगीचों के पार सिंचाई की नालियों द्वारा बँटे हुए छोटे-छोटे (गामरवेत्त) हुआ करते थे। उनके अतिरिक्त पाँच-पाँच सौ हलों के द्वारा जोते-बोये जाने वाले बड़े-बड़े भूस्वामियों के भूमिखण्ड भी हुआ करते थे, जिन पर उनका व्यक्तिगत स्वामित्त्व था।[1] भूमि के उर्वरा (जातपथवी) और ऊसर (अजातपथवी) के रूप में बँटवारे के साथ सभी कृषि कर्मों की विधिवत् क्रियाएँ **अंगुत्तरनिकाय** (नालन्दा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ३.१०.१) और **थेरगाथा** (५३०) में गिनायी गयी हैं। हलों में लोहे के फ़ालों का[2] उपयोग; कृषि के लिए सिंचाई का महत्त्व (**मज्झिमनिकाय**, नालन्दा पालि प्रकाशन, द्वितीय १७.१.२) और उसके लिए नदियों पर बाँध बनाने की प्रथा (**कुणाल जातक**, सं. ५३६); बागवानी; पशुपालन (विशेषतः ब्राह्मणों, वैश्यों, ग्वालों और चरवाहों के सन्दर्भ में)[3]; आखेट और मछली मारने जैसी आजीविकाओं[4] के अतिरिक्त अन्यान्य कार्यों, विधाओं और सेवाप्रधान पेशों के उल्लेख हैं, जिन्हें वहाँ गर्हित, हीनजातीय अथवा निन्दनीय कहा गया है।[5] **दीघनिकाय** के ब्रह्मजालसुत्त में (सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ११) में हीन शिल्पों के अतिरिक्त कुछ उत्कृष्ट शिल्पों की भी सूची प्राप्त होती है। नलकार, कुम्भकार, मानकार, सूचिकार, सुवर्णकार, धातुकार, कम्मार, दन्तकार, मालाकार, कोसियकार तथा लकड़ी और पत्थर का काम करने वाले कलात्मक आजीव्यों की चर्चाओं से जातक साहित्य तथा **सुत्तपिटक** के अन्य अंश भरे हुए हैं। **मज्झिमनिकाय**[6] में सुवर्णकार की अलंकरण निर्माण के समय अपनायी जाने वाली क्रिया पद्धति का एक मनोरम वर्णन आता है।

बौद्ध साहित्य से प्राचीन भारतीय उद्योगों, व्यापार और वाणिज्य तथा उनके सामूहिक संगठन की एक बड़ी स्पष्ट और विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। उससे यह स्पष्ट होता है कि उसके रचना-युग में भारतवर्ष की ग्रामीण सभ्यता के समानान्तर ही एक नागर सभ्यता का विकास हो रहा था, जिसके केन्द्र थे श्रावस्ती, साकेत, अयोध्या, राजगृह, पाटलिपुत्र, चम्पा, नालन्दा, कौशाम्बी, वाराणसी, सहजाति, प्रयाग, मथुरा, उज्जयिनी, तक्षशिला, संकाश्य, सोरेय्य, प्रतिष्ठान (दक्षिण में) भृगुकच्छ, कल्याण और ताम्रलिप्ति जैसे बड़े-बड़े व्यापारिक नगर। उन नगरों में रहने वाले बड़े-बड़े सेठ (श्रेष्ठिन्) और जेट्ठक (जैसे अनाथपिण्डिक

(१). कसिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात, १.४।

(२) वहीं, इस सम्बन्ध में देखिए, धर्मानन्द कौशाम्बी, दि जिगिनिगुस् ऑफ दि आयरन् एज इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, जर्नल ऑफ दि इकनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ६, भाग ३, पृ. ३०६-३१८;
"न खो पन वयं पस्साम मो तो गीतमस्स युगं वा नंगलं वा फालं वा पाचनं वा"
कसिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात, सुत्तसंख्या १/४।

(३) जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ. २४०; जिल्द ३, पृ. ४०१; चीनीधम्मपद (बील) एग्रीकल्चर इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया के पृष्ठ ११७ पर उद्धृत; सुत्तनिपात का धनियसुत्त, १.२; म.नि. नालन्दा (पालि) प्रकाशन, प्रथम, १६.१.४; संयुत्तनिकाय, नालन्दा (पालि) प्रकाशन, चतुर्थ, ३५.२४१.२-६ आदि।

(४) सन्दर्भों के लिए देखिए, प्रभा त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८१-२८२।

(५) प्रभा त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८२ और आगे; अतीन्द्रनाथ बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ १४६, २६६; प्रभा त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २८३-२८५।

(६) म.नि., धातुविभंगसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५७६-५७७।

और धनञ्जय); इन नगरों को व्यापारिक सूत्र में एक दूसरे से जोड़ने वाले सार्थ; उद्योग, व्यापार और आर्थिक स्थितियों का नियमन करने वाली श्रेणियाँ तथा ऐसी ही अनेक आर्थिक संस्थाएँ थी जिनकी ब्यौरेवार गिनती यहाँ आवश्यक नहीं है। इसी आर्थिक संस्कृति के परिचायक थे उस समय के प्रसिद्ध सेठों के पास के अपार धन तथा बौद्ध संघ और साधारण समाज को उस धन से दिये जाने वाले दान तथा ऐसे जनकार्यों के माध्यम से उनके प्रच्छन्न नियन्त्रण। इन धनी व्यापारिक वर्गों की चर्चाओं से **सुत्तपिटक** और **विनयपिटक** भरे पड़े हैं।

भारतीयों को बुद्ध-युग के बहुत पहले ही लोहे के उपयोग का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और बुद्ध के समय अथवा उसके थोड़े समय बाद (जातकों की रचना के युग में) उत्तर भारत में लौह उद्योग काफी विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुका था।[1] यहाँ **सुचिजातक** (सं. ३८७) की उस कथा की ओर ध्यान बरबस खिंच जाता है जिसमें सुई बनाने वाले एक लोहार या कम्मकार (कम्मार) को नगरों में घूमते हुए, अपनी सुई की विशेषताओं का वर्णन करते हुए चुनौती भरा यह नाद करते दिखाया गया है कि "है कोई मेरी सुई को खरीदने वाला।" इसी प्रकार **मज्झिमनिकाय** में हाथीदाँत का काम करने वाले कुशल दन्तकारों का विवरण है, जिसमें सिझाये हुए दाँतों से सभी प्रकार की वस्तुओं को बनाते हुए बताया गया हैं। **त्रिपिटक** के विभिन्न अंशों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध युग और उसके थोड़े बाद का काल आते-आते खान और धातु उद्योग (लोहा, ताँबा, टिन, सोना और चाँदी आदि से बनाये जाने वाले औजारों, बर्तनों और अलंकरणों के उद्योग); सूत-रेशम और ऊन से सम्बद्ध वस्त्र उद्योग; मृद्भाण्ड-निर्माण उद्योग; चर्म उद्योग; काष्ठ उद्योग; हाथी दाँत का उद्योग और सुगन्धित द्रव्यों अथवा द्रवों के उद्योग बहुत ही विकसित, कलात्मक और संगठित स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे।

भूमि के विभिन्न उत्पादों और उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं की खपत उनके उत्पत्ति-स्थानों मात्र तक सीमित नहीं थी। मुनाफे की भावना से स्थानीय खपत से बची हुई वस्तुओं को व्यापारी वर्ग खरीदकर, देश के भीतर दूर-दूर के क्षेत्रों तक तो ले ही जाता था, राजपथों, व्यापारिक मार्गों, नदियों और समुद्री मार्गों से वे वस्तुएँ देश के बाहर भी ले जायी जाती थीं। इस दृष्टि से बौद्ध साहित्य में वर्णित विभिन्न व्यापार मार्ग और यात्रा पथ भारतीय व्यापार की विभिन्न दिशाओं और बहुआयामी स्वरूप की ओर निर्देश करते हैं। इन विभिन्न पथों के ब्यौरेवार विवरण[2] की उलझन में यहाँ न पड़कर कुछ विशिष्ट पथों की ओर संकेत मात्र पर्याप्त होगा। तक्षशिला से जो मार्ग उत्तर-पश्चिम में बाह्लीक होते हुए भारत को पश्चिमी एशिया से जोड़ता था, वहीं दक्षिण-पूर्व की ओर चलते हुए साकल, अग्गलपुर, रोहितक,

---

(१) देखिए, सुत्तनिपात का कसिभारद्वाजसुत्त, १/४।

(२) इन मार्गों के ब्यौरों के लिए देखिए, विनयपिटक, पाटेसो., जिल्द २, पृ. २९९, जहाँ रेवत भिक्षु के सोरेय्य (सोरों) से सहजाति तक जाने का उल्लेख है। हस्तिनापुर से कुसिनारा तक जाने वाले मार्ग के लिए, कुशजातक, फॉसबॉल, जिल्द ५, पृ. २७८ तथा प्रीबुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. ३८३। साकल से मधुरा तक जाने वाले मार्ग के लिए, अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो., जिल्द २, पृ. २७। उज्जैन से कौशाम्बी और कोसल राज्य होते हुए वैशाली तथा राजगृह तक जाने वाले मार्ग के लिए, विनयपिटक, पाटेसो, जिल्द १, पृ. २६७-२७८। गोदावरी के किनारे आड़क से प्रतिष्ठान (पैठण), माहिष्मती, उज्जैन, गोनर्द्ध, विदिशा, वनसह्वय, कौशाम्बी और साकेत होते हुए श्रावस्ती तक जाने हेतु बावारि के शिष्यों द्वारा अपनाये गये मार्ग के लिए, सुत्तनिपात (मोतीलाल बनारसीदास, पृ. १६१)

इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी, पाटलिपुत्र, चम्पा और कजंगल होते हुए ताम्रलिप्ति अर्थात् गंगासागर तक चला जाता था। सेल्यूकस् के राजदूत मेगारस्थनीज़ ने तक्षशिला से पाटलिपुत्र पहुँचने के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन किया था।[1] मथुरा नगर कई मार्गों के संगम पर बसा हुआ था। वहाँ से जहाँ पश्चिम की ओर सिन्धु के मुहाने पर बसे हुए पटल नामक नगरबन्दरगाह तक एक मार्ग जाता था, वहीं वेरंज्जा और कान्यकुब्ज होते हुए दक्षिण-पूर्व में प्रयाग तक एक दूसरा रास्ता भी था। ठीक इसी प्रकार प्रयाग भी उत्तरी और दक्षिणी अथवा दक्षिण-पश्चिमी भारत के लिए अन्तरद्वार का काम करता था। वहाँ से सहजाति, विदिशा, उज्जयिनी होते एक पथ भृगुकच्छ तक जाता था। दक्षिणापथ का प्रसिद्ध नगर पैठण (प्रतिष्ठान) कई मार्गों द्वारा नासिक होते हुए पश्चिम में सूर्पारक से, उत्तर-पश्चिम में भृगुकच्छ से और उत्तर में माहिष्मती होते हुए उज्जयिनी, विदिशा और प्रयाग से जुड़ा हुआ था। इसी प्रकार एक रास्ता वाराणसी से कीटागरि, अयोध्या और साकेत होते हुए श्रावस्ती तक जाता था और पुनः वहाँ से पूर्व की ओर मुड़कर सेतव्या, कपिलवस्तु, अनुपिया, कुसिनारा, पावा, वैशाली, पाटलिपुत्र, भद्दिय, चम्पा और कजंगल होकर ताम्रलिप्ति तक चला जाता था।

जातकों (फॉसबॉल, जिल्द १, पृ. ९२, ३७७ और आगे) में उल्लेख आता है कि श्रावस्ती के अत्यन्त धनी और प्रसिद्ध सेठ अनाथपिण्डिक के माल से लदे हुए भारी-भारी सार्थ पूर्व के प्रसिद्ध नगर राजगृह को तो जाते ही थे, उसके आगे भी वे दक्षिण-पूर्व दिशा में समुद्र के किनारे (सम्भवतः ताम्रलिप्ति) तक पहुँचते थे, जिसके बीच में भद्दिय और चम्पा जैसे प्रसिद्ध और हर तरह से सम्पन्न नगर स्थित थे।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात उपर्युक्त तथ्यों को यदि मेगास्थनीज़, एरियन्, **पेरिप्लस्** और प्लिनी के भारत के विदेशों से होने वाले व्यापार सम्बन्धी विवरणों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि ईसा सन् की पहली शताब्दी में मिस्र, पूर्वी अफ्रीका, रोम साम्राज्य, अरब और फारस से भारतीय व्यापार (आयात और निर्यात) अपने जिस चरम बिन्दु को छू रहा था, उसकी दृढ़ नींव बुद्ध-युग के तुरन्त बाद की कुछ शताब्दियों में पड़ चुकी थी। **पेरिप्लस्** का लेखक पश्चिम में उज्जैन, भृगुकच्छ, प्रतिष्ठान, तगर, कल्याण तथा पूर्व में गंगा = गंगासागर (ताम्रलिप्ति) को स्पष्टतः भारतवर्ष में विभिन्न दिशाओं से आने वाले माल के गोदामों के रूप में चित्रित करता है।[2] इस प्रकार भारतवर्ष के आन्तरिक और बाह्य व्यापार के इतिहास की जानकारी में बौद्ध साहित्य एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

भारतीय आर्थिक विकास की दृष्टि से बुद्ध-युग का एक अन्य महत्त्व यह है कि उस समय विभिन्न शिल्पी और औद्योगिक व्यावसायिओं ने तथा उन कर्मों में लगे हुए लघुकर्मिओं ने भी अपनी व्यावसायिक और आर्थिक हितसाधन, सुरक्षा एवं सुविधा के लिए अपने-अपने सहयोग संघों का निर्माण कर लिया था। इन संघों को प्रायः **श्रेणी** अथवा **पूग** कहा जाता

---

(१) नीलकण्ठ शास्त्री, एज ऑफ़ द् नन्दज् ऐण्ड मौर्यज्, पृष्ठ ९०।

(२) देखिए, स्कॉफ़ का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ४२-४३, ४७-४८ तथा उनकी टिप्पणियाँ।

था।[1] इन श्रेणियों के अध्यक्षों - श्रेणीमुख्यों, ज्येष्टकों[2] अथवा प्रमुखों (प्रधानों) को विधिवत् राजकीय मान्यताएँ प्राप्त थीं और उनके व्यवसायों से सम्बन्धित सभी वादों का निपटारा उन श्रेणियों द्वारा मान्य विधियों और नियमों के अनुसार ही होता था। एक अथवा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यावसायिकों के यात्रारत समूहों को **सार्थ** कहा जाता था और उनके प्रधानों को **सार्थवाह**, जिनके अधिकार और कर्तव्य निश्चित थे।

महावणिज्जातक (सं. ४९३), **कूटवणिज्जातक** (सं. २१८) और **सेरिवणिज्जातक** (सं. ३) से व्यापार में भागीदारी की प्रथा के प्रचलन के प्रमाण प्राप्त होते हैं। **दीघनिकाय** के पायासिसुत्त (पाटेसो., जिल्द २, पृष्ठ ३४२) से भी व्यापारिक भागीदारी की प्रथा ज्ञात होती है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के समुचित अध्ययन में बौद्ध साहित्य-विशेषतः **त्रिपिटक**, का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र : आर्थिक सिद्धान्त और प्रशासन तन्त्र

कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[3] पहली प्राचीन भारतीय कृति है, जिसमें पूर्व के शास्त्रों, आचार्यों एवं मतमतान्तरों तथा विखरे हुए ज्ञान का एक समाहार हमें दिखायी देता है। इसमें सिद्धान्तों के साथ प्रयोगों के रूप और आधार भी समाहित हैं। किन्तु **'अर्थशास्त्र'** कहे जाने मात्र से यह न समझ लेना चाहिए कि इस शीर्षक से उसी अर्थ का बोध होता है, जो आजकल 'अर्थशास्त्र' शब्द के प्रयोग से होता है। वास्तव में सर्वशास्त्रसंग्रही होते हुए भी यह ग्रन्थ आर्थिक सिद्धान्तों अथवा प्रयोगों की अपेक्षा राजनीतिक सिद्धान्तों और प्रयोगों का ही अपेक्षाकृत अधिक विवरण देता है। इसके **अर्थशास्त्र** शीर्षक से प्राचीन भारतीय दण्डनीति, नीतिशास्त्र अथवा राजशास्त्र का अपेक्षया अधिक बोध होना स्वीकार किया गया है,[4] बजाय आज के अर्थों में प्रयुक्त होने वाले अर्थशास्त्र शब्द से।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहता है –

मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति (कौ., १५वाँ, १.१.१) अर्थात् मनुष्यों की वृत्ति (जीविका) अथवा मनुष्यों

---

(१) एक जातक में (फॉसबॉल, जिल्द ४, पृष्ठ २२, ४२७) भिन्न-भिन्न १८ प्रकार के शिल्पिओं की श्रेणियों के उल्लेख हैं। इस सम्बन्ध में देखिए – रीज़, डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ ५७-६०।

(२) जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृष्ठ १२८; जिल्द ४, पृष्ठ १३८; जिल्द ५, पृ. ६५; जिल्द ६, पृष्ठ ३४। रिचार्ड फिक्, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ. १६७ और आगे।

(३) यहाँ यह आवश्यक नहीं प्रतीत होता कि इस ग्रन्थ के रचनाकार और इसकी रचना तिथि सम्बन्धी विवादों के पचड़े में पड़ा जाय। तत्सम्बन्धी मतों के समाहार के लिए देखिए, पा.वा. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनु.), प्रथम भाग, पृष्ठ २९-३० तथा पृष्ठ ३२।

(४) इस सम्बन्ध में देखिए, आर.पी. कांग्ले, दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, तृतीय भाग, पृष्ठ ३-४; अ.स. अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, प्रथम अध्याय। उ.ना. घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् पोलिटिकल् आइडियाज़, पृ. ८४; आगे कामन्दक ने स्वयं को कौटिल्य का पारम्परिक शिष्य स्वीकार करते हुए भी अपने ग्रन्थ को कामन्दकनीति अथवा कामन्दकनीतिसार नाम दिया। तत्सम्बन्धी श्लोक है – नीतिशास्त्रामृतं श्रीमानर्थशास्त्रमहोदयेः। य उद्दघ्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे।। कामन्दकनीतिसार, प्रथम, ६।

से बसी हुई पृथिवी[1] को अर्थ कहते हैं, उस पृथिवी के लाभ (प्राप्ति) और उसके पालन का विचार करने वाले शास्त्र को **अर्थशास्त्र** कहते हैं। यहाँ प्रयुक्त वृत्ति शब्द से ही वार्ता शब्द निःसृत है, जिसके अर्थ में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य तीनों ही समाहित हैं। वृत्ति अथवा अर्थ का प्राचीन भारतीयों के इहलौकिक जीवन के उद्देश्यों (धर्म, अर्थ और काम) में प्रमुख स्थान था और समवेतरूप में उन्हें त्रिवर्ग कहा जाता था। सारा गृहस्थ जीवन इस त्रिवर्ग से ही परिवृत्त था। अर्थ के बिना धर्म और काम की प्राप्ति असम्भव थी। कौटिल्य का कथन है कि राज्य के सभी काम कोश अर्थात् अर्थ से ही सम्भव होते हैं। अतः राजा को सबसे पहले उसी पर ध्यान देना चाहिए।[2] सप्तप्रकृतियों की पारस्परिक महत्ता और एक दूसरे से तुलनात्मक महत्त्व की चर्चा के सम्बन्ध में **अर्थशास्त्र** का कथन है कि कोश का महत्त्व दण्ड अथवा बल (सेना) की अपेक्षा अधिक है। सेना वास्तव में कोश की समृद्धि से ही रखी जा सकती है और कोश से ही धर्म और काम का सम्पादन भी सम्भव है (८.१.४६-४६)। आगे **शुक्रनीति** में अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसकी विषयवस्तु एक परम्परागत रूप में दी गयी है। वहाँ कथित है कि जिस शास्त्र में श्रुति-स्मृति के अनुकूल राजवृत्त की शिक्षा हो तथा युक्तिपूर्वक धन के संचय का वर्णन हो, उसे ही अर्थशास्त्र कहा जाता है।[3]

कोशसंचय में वार्ता नामक विद्या के अत्यधिक महत्त्व पर बल दिया गया है। वार्ता की व्याख्या करते हुए कौटिल्य कहता है कि कृषि, गोपालन और वाणिज्य वार्ता नामक विद्या के अंग है। वार्ता से ही धान्य (कृषिपरक उत्पत्ति), पशुधन, हिरण्य (सोना), कुप्य (जंगली सम्पत्ति) और विष्टि (राजकीय सेवा हेतु बेगार) आदि राज्य को प्राप्त होते हैं, जिनसे राज्य के दण्ड और कोश की वृद्धि और उस वृद्धि से स्वपक्ष (आन्तरिक शान्ति) और परपक्ष (शत्रु का वशीकरण) सम्भव होता है।[4]

भारतीय साहित्य के एक स्वतंत्र उपविभाग के रूप में अर्थशास्त्र (विषय) का विकास किस युग में हुआ, यह विवाद का विषय है।[5] देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के मत में (सम् ऐस्पेक्ट्स् ऑफ ऐंशियेण्ट हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ ६-७) यह समय ६५० ई.पू. और अ.स. अल्तेकर के मत में ५०० ई.पू. हो सकता है। किन्तु उ.ना. घोषाल एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में अर्थशास्त्र की उत्पत्ति इतना पीछे ले जाने को तैयार नहीं थे। हमें इस सम्बन्ध में आर.पी. कांग्ले के तर्कों और निष्कर्षों से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। उनका कथन है कि महाभारत युद्ध के समय से क्षेत्रीय राज्यों का उदय प्रारम्भ हो चुका था

---

(१) इस अर्थ के प्रतिपादक थे काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ ५, नोट ३।

(२) कोशपूर्व्वा सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्व कोशमवेक्षेत्। अर्थ. द्वितीव, ८.२६।

(३) श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तं हि शासनम्।
सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते।। (शुक्रनीति, ४.६६)

(४) कृषिपशुपाल्ये वाणिज्ये च वार्ता, धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि प्रदानादौपकारिकी। तथा स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति दण्डकोशाभ्याम्। प्रथम, ४, १.१-२।

(५) डॉ. जॉली की दृष्टि में अर्थशास्त्र प्रथमतः धर्मशास्त्र के उपविभाग के रूप में, और पुनः पूर्ण स्वतंत्र रूप में, विकसित हुआ। कामशास्त्र का विकास अर्थशास्त्र के भी वाद में हुआ। दे. कौटिलीय अर्थशास्त्र का लाहौर वाला प्रकाशन, भूमिका, पृष्ठ २०।

और बुद्ध का समय आते-आते (६०० ई.पू.) काशी, कोशल, वत्स, अवन्ति और मगध जैसे राज्य १६ महाजनपदों की सूची में प्रमुख स्थान ग्रहण कर चुके थे। कोसल और मगध जैसे राज्यों में दीर्घकारायण और सुनीथ-वर्षकार जैसे मन्त्रिओं की ही तरह पुरोहित ने भी, प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था जो उनके विकसित शासनतन्त्र और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के परिचायक हैं। इन राज्यों द्वारा एक दूसरे के मूल्य पर अपनी-अपनी क्षेत्रवृद्धि और नवविजित क्षेत्रों पर अपने प्रशासन की स्थापना पृथिवी के लाभ (विजय) और पालन (प्रशासन) सम्बन्धी **अर्थशास्त्र** के विषयों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस प्रकार कांग्ले महोदय की दृष्टि में यह निर्णय निर्विवाद है कि बुद्ध युग से अथवा उसके थोड़ा पूर्व से ही **अर्थशास्त्र** के सिद्धान्तों का प्रयोग, एक स्वतंत्र विद्या के रूप में, तत्कालीन राज्यों में होने लगा था। इससे सिद्ध है कि एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में **अर्थशास्त्र** की उत्पत्ति तब तक हो चुकी थी।[1]

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में यथास्थान और यथाविषय प्राचीन आचार्यों और सम्प्रदायों के उल्लेख हैं। तथापि इसका स्वरूप अत्यन्त व्यावहारिक एवं सामयिक है। इसमें कुल १५ अधिकरण हैं जिनमें प्रथम पाँच तन्त्र अर्थात् राज्य के आन्तरिक शासन का उल्लेख करते हैं। अगले नौ अधिकरण आवाप अर्थात् अन्तर्राज्यीय अथवा वैदेशिक सम्बन्धों से सम्बद्ध हैं और अन्तिम अधिकरण विविध विषयों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है। इन सबमें आवश्यकतानुसार अथवा सन्दर्भानुसार आर्थिक विषयों के उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। द्वितीय अधिकरण के कुछ स्थलों (२.६ तथा ७.११) में कौटिल्य ने राज्य के कार्यों में शून्यनिवेशन अर्थात् अनवस्थित भूमि पर नयी बस्तियों को बसाने का उल्लेख किया है। वहाँ गुणावगुणवत्ता के आधार पर भूमि के विभिन्न प्रकारों का विवेचन किया गया है, जहाँ नयी बस्तियाँ बसायी जानी चाहिए। अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण के भूमिच्छिद्रविधान नामक अध्याय में कौटिल्य ने बंजर अथवा परती भूमि को खेती लायक बनाने; जो भूमि बिल्कुल ही कृषि लायन न हो उसे चारागाह आदि के रूप में विकसित करने; कुछ भूमि को तपस्या और यज्ञ के लिए ब्राह्माणों को देने; राज्य की सीमाओं पर मृगया क्षेत्रों को स्थापित करने; देवदारु, बाँस तथा बल्कल देने वाले वृक्षों के अलग-अलग वन लगवाने तथा कुछ भूमि में द्रव्यवनों (कारखानों) को बनाने तथा उनके कर्मचारिओं के निवास (निवेशन) की व्यवस्था करने की अनुशंसा की है।[2] इसी प्रकार वहाँ हस्तिवनों के स्थापन, हाथियों के पकड़ने और उन्हें प्रशिक्षित करने एवं देशविशेषों के हाथियों के गुणावगुणों के भी उल्लेख हैं।[3] द्वितीय अधिकरण के तेइसवें प्रकरण के सन्निधातृनिचयकर्म नामक अध्याय में कोषसंग्रह, पण्यगृह, कोष्ठागार और कुप्यगृह नामक भण्डारों के सम्बन्ध में विवेचन उपस्थित किये गये हैं। वहाँ यह विशेषरूप से कथित है कि ये भण्डार कहाँ, किस प्रकार और किस निष्पाद्य को दृष्टि

(१) कांग्ले नीतिशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र से ही धर्मशास्त्र की उत्पत्ति मानते हैं। दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग ३, पृष्ठ १५।

(२) देखिए, कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (मूल और हिन्दी अनुवाद), रामतेज शास्त्री, पृष्ठ ७४-७५।

(३) वहीं, पृष्ठ ७५-७६।

में रखकर बनाये जायँ एवं उनकी रक्षा के लिए क्या उपाय अपनाये जायँ। **सन्निधाता** को यह सलाह दी गयी है कि वह कोषागारों में लाकर रखे जाने वाले बहुमूल्य पत्थरों, द्रव्यों और वस्त्रों की किस प्रकार परीक्षा करे-कराये तथा उनके रख-रखाव का क्या प्रबन्ध करे। इसी प्रकार की अनुशंसाएँ अन्न संग्रह के सम्बन्ध में भी है, जहाँ सभी पदार्थों की नापतौल तथा उनकी चोरी आदि को रोकने और उनसे सम्बन्धित दण्डों की व्यवस्थाएँ दी गयी हैं।

द्वितीय अधिकरण के ही २४वें प्रकरण में **समाहर्त्ता** (कर वसूल करने वाले प्रमुख अधिकारी) के कार्यों तथा उसके अधीन कार्य करने वाले विभिन्न प्रकार के विशेष-विशेष कार्यों में लगे हुए अध्यक्षों (यथा - लक्षणाध्यक्ष, द्यूताध्यक्ष, सीताध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष आदि) के कार्यों के विवरण हैं। इनमें **सीताध्यक्ष** का विभाग बड़ा प्रमुख था। वह राज्य की निजी अधिकार वाली भूमि (सीताभूमि) पर कृषि की व्यवस्था करता था। यद्यपि हम भूस्वामित्त्व के प्रश्न पर आगे चर्चा करेंगे, यहाँ इतना अवश्य इंगित किया जा सकता है कि कुछ भूमि पर तो राजकीय स्वामित्त्व होता था, किन्तु अधिकांश भूमि पर भूमि जोतने वालों का निजी स्वामित्व ही होता था।[1] वहाँ कि सोना-चाँदी, हीरा, मरकत, मोती, जैसी धातुओं तथा रस धातुओं से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के खन्यध्यक्षों के कार्यों का सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ जैसे धनप्राप्ति के स्रोतों के, उल्लेख हैं जिन्हें आयशरीर (राजकीय आय के विभिन्न तत्त्व) कहा गया है। आयमुख कहे जाने वाले अन्य सात प्रकार के धनागम स्रोतों तथा व्ययशरीर कहे जाने वाले उन विभिन्न राजकीय कार्यक्षेत्रों की चर्चाएँ हैं, जिनमें राजकीय आय खर्च होती थी। आगे, **समाहर्त्ता** के विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों, विशेषतः उसके द्वारा राजकीय आय हेतु अपनाये जाने वाले विभिन्न उपायों तथा आय-व्यय के स्वरूपों और विभागों के उल्लेख हैं।

अक्षपटल (आय-व्यय और कागजपत्रों के दफ्तर) और बहीखाता रखने के स्थान (निबन्धपुस्तक स्थान) तथा उनके कार्यों के वृत्तान्त द्वितीय अधिकरण के सातवें अध्याय के २५वें प्रकरण में प्राप्त होते हैं। विभिन्न अधिकारिओं की नियुक्ति; उनके वेतन और कार्य; गुप्तचरों द्वारा उनके कार्यों के निरीक्षण; अपने कर्तव्यों का पालन न करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था; सम्पूर्ण हिसाब-किताब उपस्थित करने के समय (मास और दिन); करणिकों के कार्यों का नियमन और अच्छा कार्य करने वालों का सत्कार तथा हीनकर्मिओं और दोषिओं को दण्ड की व्यवस्थाएँ बहुत ही विस्तृत ब्यौरों के साथ वहाँ दी गयी हैं।

द्वितीय अधिकरण के २६वें प्रकरण में कथित है कि "समस्त राजकार्यों का आधार कोश ही होता है, अतः सर्वप्रथम (राजा को) कोश की ओर ही ध्यान देना चाहिए।"[2] उस कोश की प्राप्ति किन-किन प्रकारों से होती है, इसका वहाँ सविस्तार वर्णन है। उन राजपुरुषों को दण्ड देने की व्यवस्था भी है, जो राजकीय आय को तो कम कराते हों किन्तु व्यय को अधिक अथवा राजद्रव्य को विभिन्न तिकड़मों द्वारा अपहृत करते हों। वहाँ ऐसे तिकड़मों के ४० प्रकार बताये गये हैं।

---

(१) देखिए, कांग्ले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १६६।
(२) कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्वं कोशमवेक्षेत्। (कौ.अर्थ., द्वितीय, ८.२६)

इस अधिकरण के आगे आने वाले विभिन्न अध्यायों में आर्थिक प्रशासन से सम्बद्ध अनेक विषयों पर व्यापार विचार किये गये हैं – यथा खान और खन्यध्यक्ष; सूत्राध्यक्ष; सीताध्यक्ष; सुराध्यक्ष; सूनाध्यक्ष; गणिकाध्यक्ष; विवीताध्यक्ष एवं **समाहर्त्ता**। उनकी अलग-अलग योग्यताओं; उनके कार्यों; विभिन्न विभागों की संचालन-विधियों; उनके अधीनस्थ कर्मचारिओं की नियुक्ति तथा विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों के राजकीय नियमन; नियन्त्रण तथा उनके विकास के लिए आवश्यक राजकीय सहायता के सम्बन्ध में कौटिल्य की सटीक और सुविचारित अनुशंसाएँ वहाँ प्राप्त होती हैं।

धर्मस्थीय नामक तृतीय अधिकरण में ऋण (११वाँ अध्याय) तथा विक्रीत और क्रीत वस्तुओं से सम्बद्ध विषयों (१५वाँ अध्याय) की न्यायिक प्रक्रियाओं, अपराधों तथा दण्डों के विवेचन प्राप्त होते हैं। वहाँ ऋणों की चर्चा के सिलसिले में सूद की दरों, रेहन रखकर और बिना रेहन रखे हुए ऋणों की लेन-देन, ऋणों की वसूली के नियम और ऋणों को लेने वालों के उत्तरदायित्त्व आदि के सम्बन्ध में अनुशंसाएँ प्राप्त होती हैं।

पाँचवें अधिकरण के द्वितीय अध्याय में आर्थिक आपत्तियों के समय राजकोश के बढ़ाने के उन उपायों के विवरण आते हैं जो सामान्यकाल में उचित अथवा विहित नहीं माने जाते थे। साधारणतया वे करसङ्ग्रह के साधारण नियमों की अपेक्षा अधिक कठोर और जोर-जबरदस्ती वाले ही माने जायेंगे। इसके अतिरिक्त वहाँ विभिन्न वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों की भी मीमांसाएँ प्राप्त होती हैं जो परम्पराविहित और उचित स्वीकार किये जाते थे।

छठें अधिकरण के प्रथम अध्याय में सप्त प्रकृतियों के आदर्श गुणों और स्थितियों की चर्चा के समय राज्य की कोशसम्पदा कैसी होनी चाहिए, इसका एक संक्षिप्त और बहुत ही कसा हुआ उल्लेख प्राप्त होता है। उस सिलसिले में कर वसूली के मूलभूत (शास्त्रविहित) सिद्धान्तों तथा बहुमूल्य धातुओं और सिक्कों से कोश के भरे हुए होने के आदर्शों की चर्चा है। आकस्मिक विपत्तियों को सम्भाल सकने की क्षमता और सामर्थ्य को राजकीय कोश के आदर्श गुणों के रूप में उपस्थित किया गया है। आगे ११वें अधिकरण में नगरपालिकाओं और व्यवसायनिगमों के बारे में उल्लेख प्राप्त होते हैं।

गुप्तयुगीन ग्रन्थ **कामन्दकनीतिसार** के रचयिता ने विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को अपने गुरु के रूप में स्वीकार करते हुए **अर्थशास्त्र** रूपी महासमुद्र से नीतिसाररूपी अमृत को निकला हुआ स्वीकार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को कौटिलीय **अर्थशास्त्र** का एक संक्षिप्त रूप कहा है। **कामन्दकनीतिसार** में प्रायः कौटिल्य के शब्दों में ही **अर्थशास्त्र** की विषयवस्तु में राज्य अथवा भूमि का उपार्जन (प्राप्ति) और उसके पालन को सम्मिलित किया गया है।[1] कदाचित् अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण ही लेखक ने इस ग्रन्थ को नीतिसार की संज्ञा दी। इसके वर्ण्यविषय अत्यन्त सीमित हैं और प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास की सामग्री इसमें नहीं के बराबर है। केवल चतुर्थ सर्ग में सप्तप्रकृतियों की चर्चा के सिलसिले में पृथिवी (जनपद अथवा भूमि = राज्य क्षेत्र) के आर्थिक स्वरूप पर यह कुछ प्रकाश डालता है।[1]

(१) उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं पति। यद्किञ्चिदुपदेश्यामो राजविषाविदां मतम्। प्रथम. ८।

तद्नुसार, पृथिवी के गुणों से राज्य बढ़ता है और राज्य की वृद्धि से ही राजा की वृद्धि होती है। उसी पृथिवी को उत्तम और गुणवती कहा गया है जो अन्नबहुला हो; जो व्यापारिक वस्तुओं की खानों से युक्त हो; जो हीरा और पन्ना आदि द्रव्यों से युक्त हो; जो गौओं की हितकारिणी अर्थात् चारागाहों से सम्पन्न हो; जो प्रभूत जनसम्पन्न हो; जो पवित्र जनपदों (निवासिओं) से युक्त हो, जिसमें हाथियों के निवास योग्य रम्य बन हों; जो व्यापार वृद्धि में सहायक जलीय और स्थलीय मार्गों से सम्पन्न हो तथा कूप-तटाक-नहरों आदि से सिंचित विना वर्षा के भी भरपूर अन्नों को उत्पन्न करने वाली हो। वहाँ भूमि के दोषों के भी विवरण प्राप्त होते हैं। आगे राजकीय कोष के गुणों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण (चतुर्थ, ६२-६४) है। कोष की विशेषताओं के सिलसिले में कहा गया है कि उसे बहूवादानी (बहुत प्रकार की वस्तुओं को धारण करने वाला) अल्पव्ययी, सभी प्रकार के द्रव्यों से परिपूर्ण और प्रत्येक प्रकार की विपत्तियों को सह सकने में समर्थ होना चाहिए।

धर्मशास्त्र ग्रन्थों में अर्थतन्त्र और सिद्धान्त : विकासक्रम

धर्मशास्त्र की सीमा में समाहित होने वाले ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है। मोटे रूप में धर्मसूत्रों से प्रारम्भ कर मध्यकालीन निबन्ध ग्रन्थों तक के रचनाकाल के भीतर लिखे जाने वाले संस्कृत साहित्य के अनेक प्रकार के ग्रन्थों को धर्मशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। इनमें विभिन्न स्मृतियाँ[२] और पुराणों के धर्मशास्त्र विषयक सन्दर्भ सम्मिलित हैं। यहाँ हमें उनके रचनाकाल के प्रश्नों और उनके रचयिताओं की ऐतिहासिकता और पहचान की समस्याओं में उलझने की आवश्यकता नहीं है और न उनकी गिनती करने की ही।[३] धर्मशास्त्रों के अर्थविषयक उल्लेखों मात्र तक सीमित रहते हुए हमें यह स्पष्ट दिखाथी देता है कि इस विषय से सम्बद्ध उल्लेख प्रायः कुछ स्मृतियों मात्र में प्राप्त होते हैं। जहाँ तक धर्मसूत्रों का प्रश्न है, **विष्णुधर्मसूत्र** मात्र में हमें **कार्षापण** एवं कुछ छोटे सिक्कों और बटखरों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ ऋण देने वाले महाजन, ऋण लेने वाले कर्जदार, ब्याज की दर एवं तत्सम्बन्धी विवादों के निर्णय सम्बन्धी कुछ नियम भी दिये गये हैं।[४] **मनुस्मृति** एवं **याज्ञवल्क्यस्मृति** के विभिन्न संदर्भों का हवाला देते हुए पा.वा. काणे ने यह दर्शाया है कि **विष्णुधर्मसूत्र** के कम से कम साठ स्थल **मनुस्मृति** से मिलते हैं। अतः इसे उन स्मृतियों का ऋणी स्वीकार किया जा सकता है।[५]

रचनाकाल और ग्राह्यता सम्बन्धी महत्ता दोनों ही दृष्टियों से **मनुस्मृति**[६] को प्रथम स्थान दिया जाता है। २७०० श्लोकों वाली इस स्मृति के १२ अध्यायों में केवल सातवें और

---

(१) वहीं, चतुर्थ, ५०-५३।

(२) मनु ने स्मृति को ही धर्मशास्त्र कहा है - श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयोधर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु. २.१०।

(३) इस सम्बन्ध में देखिए, पा.वा. काणे, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग १, पृ. ७-६७।

(४) पा.वा. काणे, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग-१, पृष्ठ २३।

(५) वहीं, पृष्ठ २४-२५।

(६) डॉ. वूह्लर ने मनुस्मृति की तिथि २री शती ईसा पूर्व से २री शती ईसा पश्चात् के बीच में स्थिर की।

आठवें अध्यायों मात्र में हमें अर्थ विषयक कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। करग्रहण के उचित काल और उसके सिद्धान्त में वहाँ कथित है कि राजा को वर्ष बीत जाने के बाद ही राष्ट्र (राज्य की प्रजा) से बलि ग्रहण करना चाहिए तथा उस बलि (कर) की मात्रा भी, अधिक न होकर, शास्त्रसम्मत होनी चाहिए।[1] करारोपण के सिद्धान्त को और अधिक आगे बढ़ाते हुए यह कहा गया है कि "खरीद, बेंची, राह खर्च, नौकरों एवं अन्य मदों पर होने वाले खर्चों, योग (अलब्धलाभ) – क्षेम (लब्धपरिरक्षण) अर्थात् वस्तुओं को प्राप्त करने एवं उनके रखरखाव पर होने वाले खर्चों को ध्यान में रखकर ही व्यापारिक वस्तुओं पर कर लगाये जाने चाहिए।"[2] इसमें मूलधन और लाभ का भेद करना आवश्यक बताया गया है। वैश्यों के कर्तव्यों में उनके लिए यह उचित बताया गया है (नवाँ, ३३१ आदि) कि वे व्यापारिक वस्तुओं के गुणदोष पहचानें, राजा व्यापार की वस्तुओं पर १/२० कर ग्रहण करे; राजा की एकाधिकार वाली वस्तुओं को यदि कोई वणिक् बाहर भेजे तो राजा उसे दण्डित करे; राजा विभिन्न बाजार-मालों का दाम तय करे (अष्टम, ३९८) और दोषी वणिकों को दण्डित करे (३९९-४०३)। इसी प्रकार व्यापार के विभिन्न क्रियाकलापों का नियमन – यथा व्यापारिक दोषों के लिए दण्ड, सामुद्रिक व्यापार, लाभ और हानि तथा उनकी दृष्टि से ही व्यापारिक करारोपण, कर न देने वाले व्यापारिओं को दण्ड; करों से अनेक प्रकार के लोगों की मुक्ति और कभी-कभी सम्पत्तिहरण आदि विषयों के विवेचन **मनुस्मृति** के सातवें और आठवें अध्यायों के प्रमुख विषय हैं। करारोपण के सिद्धान्तों से सम्बद्ध **मनुस्मृति** के अगले स्थलों[3] की एक विशेष बात यह है कि **रामायण, महाभारत** अथवा **अर्थशास्त्र** के सिद्धान्तों से उनका पूरा सामञ्जस्य दिखायी देता है।[4] करों की मात्रा को धीरे-धीरे बढ़ाने; भ्रमरों और बछड़ों से तुलना; पशु और हिरण्य का १/५ भाग; धान्य का १/६, १/८ अथवा १/१२ भाग; अन्यान्य वस्तुओं का १/६ भाग तथा अपनी विपत्ति के कारण म्रियमाण होते हुए भी (किसी भी परिस्थिति में) श्रोत्रिय से कर न वसूलने आदि के सिद्धान्त इन सभी ग्रन्थों में समानरूप से प्राप्त होते हैं। चूँकि कृषि राजकीय आय का मुख्य स्रोत है[5], विशेष रूप से राजा को यह सलाह दी गयी है कि वह ज्येष्ठ मास में खेतों की सीमाओं से सम्बद्ध झगड़ों का निर्णय करे। उस सन्दर्भ में सीमा-चिह्नों के विस्तृत उल्लेख हैं।

इस स्मृति के आठवें अध्याय[6] में ऋणादान (ऋण देने-लेने), तत्सम्बन्धी ब्याज की दरों और अन्य शर्तों; आधि अर्थात् बन्धक वस्तुओं के रखरखाव; उनके उपयोग और एक निश्चित समय के बाद उनके पुनः बन्धक रखने वालों की सम्पत्ति हो जाने आदि के विवरण

---

(१) सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोकेवर्तेत पितृवन्नृषु।। (मनु., ७.८०)

(२) मनु., ७.१२७।

(३) वहीं, ७.१२९-१४४।

(४) वहीं, ७.१३९।

(५) अष्टम, १२१-१२२ तथा २४६-२४७।

(६) वहीं, सप्तम, श्लोक संख्याएँ १३९-१४७ तथा १५२।

हैं। आधि और निक्षेप सम्बन्धी नियमों के आगे[1] भी उल्लेख प्राप्त होते है। निक्षेप; खरीद फरोख्त के झगड़ों; अस्वामिविक्रय अर्थात् किसी वस्तु, भूमि अथवा सम्पत्ति पर किसी का अधिकार न होते हुए भी उसके द्वारा उसका विक्रय; तत्सम्बन्धी दण्डव्यवस्था; स्वत्त्व एवं अधिकार, व्यापार और अन्य आर्थिक व्यवहार और क्रियाओं में साझा, प्रत्यादान और मजदूरी सम्बन्धी विवादों की विशेष परिस्थितियों के सम्बन्ध में वहाँ व्यवस्थाएँ दी[2] गयी हैं। **मनुस्मृति** (अष्टम, १३१-१३७) में उस समय प्रचलित परिमाणों, तौलों और सिक्कों के कुछ उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिनमें विभिन्न तौलों के आपसी परिमाण सम्बन्ध भी दिये गये हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति[3] **मनुस्मृति** की तुलना में अपने आकार में उससे प्रायः आधी से भी कम होते हुए अधिक सुरचित, सुगठित और कसी हुई है। किन्तु संक्षिप्त होते हुए भी उसकी विषयबहुलता यथावत् है और आर्थिक विषयों के उसके उल्लेख **मनुस्मृति** की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि याज्ञवल्क्य नाम की तीन अन्य स्मृतियाँ भी प्राप्त होती हैं – **वृद्ध याज्ञवल्क्य, योग याज्ञवल्क्य** और **बृहद् याज्ञवक्त्य**। किन्तु ये सभी बाद की रचनाएँ हैं, और वे यहाँ हमारे विचार का विषय नहीं हैं। जिस **याज्ञवल्क्यस्मृति** से हमारा यहाँ तात्पर्य है वह ई.पू. पहली शताब्दी से ईसा पश्चात् तीसरी शताब्दी के बीच की रचना थी।[4] स्मृति साहित्य में उसकी ही प्रसिद्धि है। उसी पर आगे विश्वरूप, विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन आदि ने विभिन्न टीकाओं की रचना की।

याज्ञवल्क्यस्मृति के आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त नामक तीन अध्याय अथवा विषयवर्ग हैं, जिन्हें कभी-कभी काण्ड भी कहा जाता है। अर्थविषयक प्रकरण प्रायः उसके व्यवहाराध्याय में ही प्राप्त होते हैं। किन्तु आचाराध्याय में भी कोषवृद्धि के सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ विवरण तथा रुप्य, माष, धरण, कृष्णाल, शतमान, निष्क और कार्षापण जैसे सिक्कों और बटखरों जैसी[5] इकाइयों के उल्लेख मिलते हैं। साथ ही दान दी हुई भूमि के निबन्धन सम्बन्धी कागजपत्रों को तैयार करने के निर्देशों और विधियों सहित दाता (राजा) के पूर्ण परिचय, ग्रहीता के परिचय आदि की व्यवस्थाएँ दी गयी (आचाराध्याय, राजधर्म प्रकरण, १३वाँ, ३२०-३२१) हैं। व्यवहाराध्याय में निधि; कोष (२.३५-३६) ऋण तथा ब्याज (३.३७ और आगे); बन्धक (३.५८ और आगे तथा ४.८६-९०); ऋणनिक्षेपण और उपनिधि (जमा-धरोहर – ४.६५ और आगे); खेतों से सम्बद्ध सीमाविवाद (९.१५० और आगे); दूसरे के खेत अथवा खेतों में कूप जैसी सिंचाई की व्यवस्थाओं के निर्माण से सम्बद्ध विषयों और खेत जोतने की व्यवस्था (९.१५६-१५८); पशुमालिकों और चरवाहों के बीच के

(१) वहीं, श्लोक १८१ और आगे।

(२) वहीं, श्लोक १८५ और आगे।

(३) डॉ. शचीन्द्रकुमार मैती ने अपनी पुस्तक इकनॉमिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया इन दि टाइम ऑफ् दि गुप्तज़ (३००-५०० ई.) में स्मृतियों – याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति एवं बराहमिहिर के ग्रन्थों का व्यापक उपयोग किया है।

(४) दे., पा.वा. काणे, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग-१, पृ. ५३।

(५) आचाराध्याय, राजधर्मप्रकरण (१३वाँ), ३४०-३४१।

नियम और पारस्परिक विवाद (व्यवहाराध्याय का १०वाँ प्रकरण); अस्वामिविक्रय (११वाँ प्रकरण); धातुओं पशुओं, धान्यों अथवा वस्तुओं को खरीदने के नियम (व्यवहार, १३वाँ प्रकरण); विक्रयकर (व्यवहार, २२वाँ, २६१-२६३); व्यपार की हिस्सेदारी में बेइमानी (व्यवहार, २२.२६४-२६५); भृत्य और स्वामी के बीच के अनुबन्ध; मजदूरी सम्बन्धी विवाद तथा साझा व्यापार (सम्भूयसमुत्थान, व्यवहाराध्याय २२वाँ प्रकरण, २५६-२६०) आदि विषयों पर स्पष्ट रूप से विधियों का उल्लेख है। यह भी व्यवस्था है कि पूगों, श्रेणियों और कुलों को क्रमशः वरीयता देते हुए उनके विहित नियमों को मान्यता व्यवहार विधि में राजा द्वारा दी जानी चाहिए।[1] विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए अलग-अलग दण्ड निश्चित थे।

मनुस्मृति के लगभग दो-ढाई सौ वर्षों बाद लिखी जाने के कारण यद्यपि **याज्ञवल्क्यस्मृति** में अनेक नये विचार और परिवर्तन दिखायी पड़ते हैं, मूलभूत रूप में **मनुस्मृति** से उनकी समानताएँ बड़ी स्पष्ट हैं।

विष्णुस्मृति[2] में नापजोख वाले कुछ बटखरों, यथा- त्रसरेणु, काला सरसो, सफेद सरसो, यव, कृष्णाल, मास, अक्ष, सुवर्ण, निष्क, रजत, मासक (दो बराबर-बराबर कृष्णालों के समान), रजत, धरण, रत्तिका (रत्ती), कार्ष अथवा कार्षापण और ताँबे के पर्णों के उल्लेख हैं, जो **मनुस्मृति** (अष्टम् १३१-१३८) से लिये गये प्रतीत होते हैं। वहीं छठे अध्याय में ऋण सम्बन्धी विधियों के उल्लेख हैं, जिसमें ब्याज की दरें तथा बन्धक और उसकी वापसी के नियम दिये गये हैं। स्वर्ण, धान्य, वस्त्र, द्रव, दासियों, पशुओं, शराब बनायी जाने वाली वस्तुओं, रुई, चमड़ा, शस्त्रों, ईटों और कोयले जैसी वस्तुओं के कर्जों की अलग-अलग ब्याज-दरें बतायी गयी हैं। यह व्यवस्था दी गयी है कि इनसे सम्बन्धित विधियों का पालन न करने पर राजा के यहाँ वाद उपस्थित किये जा सकते थे। इन विवादों के निर्णय लिखित साक्ष्यों, साक्षियों[3] के सबूतों अथवा दिव्यदण्डों के आधार पर किये जाते थे। कर्जदारों की मृत्यु हो जाने, संन्यस्त हो जाने, अथवा बीस वर्ष से अधिक समय तक बाहर रह जाने की स्थिति में उनके कर्ज को कौन लोग चुकायेंगे अथवा किनसे किनसे वह नहीं वसूल किया जा सकता, इन बातों के उसी सन्दर्भ में विस्तृत उल्लेख हैं। कर्जों की लेन-देन में जमानत अथवा प्रतिभूति की व्यवस्था स्वीकृत थी।

राजधर्मों की चर्चा के सन्दर्भ में **विष्णुस्मृति**[4] का एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख विभिन्न वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों (बलि) की दरों के सम्बन्ध में है। सभी प्रकार के धान्यों पर (उत्पत्ति का) १/६ भाग प्रत्येक वर्ष कर के रूप वसूल करने की अनुशंसा के अतिरिक्त पशुओं, हिरण्य, वस्त्र, मांस, मधु, औषधि, गन्ध, मूल, फल, रस, पेड़ों, अजिन, मृद्भाण्ड

(१) नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्।। (व्यवहाराध्याय, २.३०)

(२) इन्स्टीटूयट्स् ऑफ विष्णु, सै.बु.ई. सम्पादित मैक्समूलर, मोतीलाल बनारसीदास १९६५, पृष्ठ २३-२४। मूल स्मृति के चतुर्थ अध्याय की श्लोक संख्याएँ १-१३ देखिए।

(३) साक्षिओं के गुणावगुणों के सम्बन्ध में देखिए - विष्णुस्मृति, अष्टम से चतुर्दश अध्याय तक।

(४) तृतीय अध्याय।

और पत्थरों जैसी वस्तुओं से भी प्राप्त किये जाने वाले करों का भाग भी १/६ ही बताया गया है। इनके अतिरिक्त स्वदेशपण्य अर्थात् बाजार में बिकने वाली स्वदेशी वस्तुओं पर १/१० तथा विदेशों से आयातित (विदेशपण्य) वस्तुओं पर १/२० भाग को कर रूप में वसूलने की अनुशंसा है। शिल्पिओं, कर्मजीविओं और शूद्रों को महीने में एक दिन राजा के लिए (मुफ्त) काम करने को कहा गया है (शिल्पिनः कर्मजीविश्च शूद्राश्च मासेनैकं राज्ञः कर्म कुर्युः)। यह भी कथित है कि राजा को ब्राह्मणों से किसी प्रकार का कर नहीं वसूल करना चाहिए। विष्णुस्मृति के ये सभी उल्लेख प्रायः यथावत् मनुस्मृति से लिये गये हैं।

नारदस्मृति[1] के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि राजकीय अर्थ, आर्थिक सिद्धान्त, आर्थिक संगठन और आर्थिक विवादों के सम्बन्ध में उसकी व्यवस्थाएँ और सूचनाएँ अन्य सभी स्मृतियों की अपेक्षा अधिक व्यापक और विकसित स्तर[2] की हैं। विवादपद के नाम से[3] अठारह प्रकार के वाद क्षेत्रों के उल्लेख के सिलसिले में आर्थिक प्रशासन, संगठन और व्यवहार से सम्बद्ध अनेक विषयों के वहाँ उल्लेख हैं। तत्सम्बन्धी विधियाँ दी गयी हैं और राजा को ये निर्देश दिये गये हैं कि विभिन्न प्रकार के वादों के उपस्थित होने पर क्या किया जाना चाहिए। ऋणादान नामक प्रथम विवादपद में ऋण कैसे, कब, कितनी मात्रा में, किसके द्वारा और किसको चुकता किया जाय आदि बातों का उल्लेख है। ऋण सम्बन्धी वादों में लिखित, साक्षी और भोग को त्रिविध प्रमाण स्वीकार किया गया है। (लिखितं साक्षिणः भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं विदुः) और आगे इनकी भी परिभाषाएँ दी गयी हैं। पुनः कुसीद और कुसीदी (सूद और सूद पर ऋण देने वाले) की पारिभाषिक चर्चा है (श्लोक ८६) जहाँ चक्रवृद्धि ब्याज का भी उल्लेख है। ऋण के सम्बन्ध में तीन[4] प्रकार के जमानतदारों (प्रतिभू) के उल्लेख हैं। द्वितीय विवादापद में निक्षेप (यानी धरोहर) और उपनिधि (दसूरे की वस्तु अथवा द्रव्य की धरोहर) और उसके लौटाये जाने से सम्बद्ध विषयों की चर्चा है तथा आगे उसी सम्बन्ध में न्यास और प्रतिन्यास का उल्लेख है। सम्भूयसमुत्थान नामक तृतीय व्यवहारपद में नारदस्मृति

---

(१) नारदस्मृति को कहीं-कहीं नारदमनुस्मृति भी कहा गया है। मनसुखराय मोर ने कलकत्ता से इसी नाम से इस स्मृति का प्रकाशन किया है। यहाँ उसमें मूल संस्कृत श्लोकों की उपलब्धि के कारण उसी के सन्दर्भ दिये गये है, जो स्मृति सन्दर्भ के प्रथम भाग में प्राप्त होते हैं। किन्तु इस स्मृति का बहुप्रचलित और बहुमान्य अंग्रेजी अनुवाद कुछ अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के आधार पर नारदधर्मशास्त्र के नाम से जुलियस् जाली ने १८७५ ई. में किया था। विलियोथिका इण्डिका सीरीज में उस अप्राप्य अंग्रेजी अनुवाद को १९८१ में तक्षशिला प्रकाशन, जालन्धर ने पुनर्मुद्रित किया। इसका एक संस्करण त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से नारदमनुसंहिता के नाम से भी प्रकाशित है।

(२) जॉली ने नारदस्मृति की रचना का समय ४००-५०० ई. के आस-पास निश्चित किया और उनके मत में विवादपद अथवा न्याय सम्बन्धी इस स्मृति की अनुशंसाएँ तत्कालीन व्यवहार में पूरी तरह लागू और मान्य थीं। देखिए, नारदधर्मशास्त्र, (१९८१ ई. का पुनर्मुद्रण), आमुख, पृष्ठ १६ और २७; सै.बुक्स् ऑफ दि ईस्ट संस्करण, जिल्द ३३, भूमिका, पृष्ठ १६। किन्तु पा.वा. काणे उसे इतने बाद का नहीं मानते। उनके मत में इसकी रचना पहली से तीसरी शती के बीच में हुई। दे. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ. २०५।

(३) नारदस्मृति की टीका में असहाय ने इन १८ विवादपदों के (नारद के ही आधार पर) १३२ उपविभागों का वर्णन किया है।

(४) उपस्थानाय दानाय व्रत्ययाय तथैव च।
त्रिविधः प्रतिभूर्दृष्ट स्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः।। (नारदस्मृति, ऋणादान, प्रथम विवादपद, १०१)

में ही सर्वप्रथम यह परिभाषा[1] प्राप्त होती है कि **सम्भूयसमुत्थान** (साझे का व्यवहार अथवा व्यापार) है क्या। विभिन्न साझीदारों के हिस्सों, मुनाफों, कार्यों आदि के विधिवत् उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि **नारदस्मृति** की रचना होते होते भारतीय व्यापार काफी विकसित, व्यवस्थित और विधिशासित हो चुका था। भागीदारों की मृत्यु हो जाने की दशा में उनके द्वारा सामूहिक व्यापार में पूँजी निवेश अथवा/और उसके मुनाफे को उनके दायादों अथवा उनके अभाव में ज्ञातियों को सौंपने की व्यवस्था है। यदि कोई दायाद (उत्तराधिकारी) अथवा ज्ञातिजन न हो तो दस वर्षों तक उस सम्पत्ति की रक्षा करने के विधान के साथ कथित है कि उस अवधि के वीत जाने पर वह राजा को दे दी जाय।[2]

दत्ताप्रदानिक नामक चतुर्थ विवादपद में दान के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख है और तत्सम्बन्धी व्यतिरेकों के लिए दण्ड की व्यवस्थाएँ हैं। पाचवें विवादप्रद में घर और खेतों में सेवाकार्य और काम करने वाले भृत्यों और मजदूरों के कार्यों, कार्य की शर्तों, उनकी नियत मजदूरी, शर्तों के अनुसार काम न करने पर उन्हें दण्ड, निश्चित समय और दर पर मजदूरी अथवा वेतन न देने वाले मालिकों को दण्ड आदि की विस्तृत व्यवस्थाओं के उल्लेख हैं। वेतनस्यानपाकर्म नामक छठे विवादपद में पुनः नौकरों के वेतनों और उनके न दिये जाने से उत्पन्न मामलों के उल्लेख हैं। उसी प्रकरण में गोपालकों के पशुचारण सम्बन्धी कार्यों, चरवाही की शर्तों तथा उनका पालन न करने पर दण्डों की व्यवस्थाएँ आदि दी गयी हैं। अस्वामिविक्रय[3] अर्थात् जिस सम्पत्ति पर अपना अधिकार न हो, उसे भी गुप्त रूप से बेंच देने से सम्बद्ध प्रश्नों पर सातवें विवादपद में विचार किया गया है। वहाँ उस सम्पत्ति के क्रेता-विक्रेता दोनों के दोष बताये गये हैं। साथ ही यह भी अनुशंसित है कि यदि कोई अस्वामिक निधि किसी को प्राप्त हो जाय तो वह उसकी सूचना राजा को अवश्य दे और राजा जो भाग उसे दे, उसी का वह भोग करे। खरीदी हुई वस्तु का विक्रेता द्वारा न दिया जाना तथा खरीदी हुई वस्तु का क्रेता द्वारा दाम न चुकाना विक्रीतसम्प्रदान नामक आठवें विवादपद का विषय है।[4] पण्य क्या है, यह भी वहाँ परिभाषित है। क्रीतानुशय नामक नवें विवादपद में खरीदी हुई विभिन्न वस्तुओं की परीक्षा हेतु विभिन्न अवधियों के उल्लेख हैं। समस्यानपाकर्म नामक दसवें विवादपद में समय (आर्थिक और व्यापारिक समझौतों) की परिभाषा तथा उनका पालन न करने के कारण उत्पन्न विवादों[5] के निपटारों की विधियाँ दी गयी हैं। वहाँ की सबसे महत्त्वपूर्ण अनुशंसा यह है कि राजा पाषण्डों, नैगमों, श्रेणियों, पूगों,

---

(१) वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्मसम्भूय कुर्वते।
तत् सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्।।

(२) वहीं, तृतीय १५-१६।

(३) वहाँ अस्वामिविक्रय निम्नलिखित रूप में परिभाषित है :
निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य च।
विक्रीयते परोक्षं यत् स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।। (सप्तम्, १)

(४) लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं तथा।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत्पण्यमुच्यते।। (अष्टम्, २)

(५) पाषण्डनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते।
समयस्यानपाकर्म तद् विवादपदं स्मृतम्।। (नवम, १)

व्रातों, गणों आदि सामुदायिक संगठनों के धर्मों अर्थात् पारस्परिक व्यवहार के नियमों को स्वीकृति देते हुए ही उनके विवादों के सम्बन्ध में निर्णय दें।[1] गाँवों और खेतों की सीमाओं से सम्बद्ध प्रश्नों का विवेचन क्षेत्रविवाद नामक ग्यारहवें विवादपद की विषयवस्तु है, जहाँ विभिन्न प्रकार के सीमाचिन्हों के उल्लेख हैं।

नारदस्मृति की उपर्युक्त विषयवस्तुओं के इस संक्षिप्त मात्र उल्लेख से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रकार के आर्थिक और व्यापारिक क्रियाकलापों के उल्लेख, तत्सम्बन्धी विवादों के स्वरूप, उन विवादों को निपटाने वाली विधियों आदि के विवेचन में यह स्मृति अन्य सभी स्मृतियों से बहुत आगे है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी रचना के समय (गुप्त युग) तक इन विषयों के वृहद् विवेचन की आवश्यकता अधिक व्यापक रूप से महसूस की जाने लगी थी। यह पृष्ठभूमि निश्चय ही तत्कालीन विकसित व्यापार पद्धति और पेचीदे आर्थिक विकास का परिणाम थी। मधुकर पाटकर[2] के शब्दों में **नारद, बृहस्पति** और **कात्यायन** स्मृतियों में[3] ही "हम हिन्दू विधि के विकास के अन्तिम क्रम का प्रतिनिधित्त्व पाते हैं तथा उन्हीं में हम न्यायिक दर्शन के पूर्णतम उदाहरणों के दर्शन करते हैं। साक्ष्य, ऋण-सम्बन्धी विषयों के पूर्ण व्यवस्थित और पद्धतिपूर्ण विवेचन हम इन्हीं स्मृतियों में प्राप्त करते हैं।"[4]

प्राचीन भारतीय न्यायपद्धति के विकास में **नारदस्मृति** के समान ही **बृहस्पति** और **कात्यायन** स्मृतियों[5] का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न व्यवहारपदों का विचार उन तीनों स्मृतियों के समान विषय हैं और विषय सम्बन्धी एकरूपता की दृष्टि से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका स्रोत भी प्रायः एक ही था। रचना-काल की दृष्टि से थोड़े बहुत मतभेदों के साथ प्रायः उन्हें २०० ई. से ७०० ई. के बीच[6] की कृतियों के रूप में स्वीकार किया

---

(१) पाषण्डनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु च।
संरक्षेत समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।।
यो धर्मः कर्म यच्चैसामुपस्थानविधिश्च यः।
यच्चैषां (प्रत्यु वृत्य) पादानमनुमन्येत् तत् तथा।। (दशम, २-३)

(२) नारद, बृहस्पति ऐण्ड कात्यायन, ए कम्पेरेटिव स्टडी इन् जुडिशियल् प्रोसीज्योर, १६७८, दिल्ली।

(३) वहीं, पृष्ठ ८-६।

(४) नारदस्मृति की व्यवहार सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के लिए देखिए, वहीं, पृष्ठ १४-१७।

(५) बृहस्पतिस्मृति की कोई पाण्डुलिपि नहीं प्राप्त होती। किन्तु निबन्ध-ग्रन्थों और विभिन्न स्मृतियों की टीकाओं में इसके अनेकानेक श्लोकों के उद्धरणों को एकत्र कर रंगस्वामी आयंगर ने इसे स्वरूपति किया, जिसे १६४१ ई. में गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज ने अपने ८५वें जिल्द के रूप में छापा। ठीक इसी प्रकार कात्यायनस्मृति का भी पा. वा. काणे ने उद्धार किया और कात्यायनस्मृतिसारोद्धार नाम से (ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना) उसके ६७६ श्लोकों को प्रकाशित किया। बाद में रंगस्वामी आयंगर ने वरदराज के व्यवहारनिर्णय नामक निबन्ध से कात्यायनस्मृति के १२१ और श्लोकों को ढूँढ़कर १६४१ में पा.वा. काणे अभिनन्दन ग्रन्थ (अंग्रेजी) में छापा।

(६) बृहस्पतिस्मृति के विषय विवेचन के आधार पर उसे नारदस्मृति और कात्यायनस्मृति के बीच की रचना माना गया है। डी.एफ्. मुल्ला ने अपने ग्रन्थ प्रिंसिपुल्स् ऑफ हिन्दू लॉ (पृष्ठ ३०) में उसकी रचना तिथि-२०० ई. से ४०० ई. के बीच मानी है। मधुकर पाटकर ने इन तीनों स्मृतियों की तिथियाँ (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १२) लगभग २०० ई. से ७०० ई. के बीच रखी है। किन्तु पा.वा. काणे ने (हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृष्ठ २१३); कात्यायनस्मृति की रचना तिथि ३०० ई. से ६०० ई. के बीच मानी है।

जाता है। इन दोनों ही स्मृतियों में प्राचीन भारतीय लौकिक विधियों और न्यायप्रणाली (व्यवहार) मात्र की विशेष चर्चाएँ हैं और आचार एवं प्रायश्चित्त से सम्बद्ध विषय प्रायः नगण्य ही हैं। तथापि **वृहस्पतिस्मृति** में **मनुस्मृति** का ही अनुसरण दिखायी पड़ता है और इसी कारण पा.वा. काणे ने बृहस्पति को मनु का वार्तिककार कहा (हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृष्ठ २०५) है। **याज्ञवल्क्य** और नारद स्मृतियों की तरह ही **वृहस्पतिस्मृति** में भी कुलों, श्रेणियों और गणों जैसे व्यावसायिक संगठनों की अपनी-अपनी अदालतों को अपने सदस्यों से सम्बद्ध मुकदमों के निर्णय का अधिकार दिया गया है, किन्तु उन्हें क्रमशः अधिकाधिक वरीयता देते हुए राजकीयन्यायपीठ को सर्वोपरि बताया गया है।[1] **कात्यायनस्मृति** के वर्ण्य विषय भी प्रायः **नारद** और **वृहस्पति** के समान ही हैं। उसमें केवल व्यवहार सम्बन्धी विषयों मात्र की प्राप्ति होती है, आचार और प्रायश्चित्त की नहीं। इस दृष्टि से पूर्णतः लौकिक अथवा भौतिक विषयों में सूद, सूद की दरें, कर्जों की वापसी सम्बन्धी विधियाँ, जमानतदारों, जमानतदारों की जिम्मेदारियाँ, जमाराशियों, कर्जों की वापसी के सम्बन्ध में पुत्रों के उत्तरदायित्त्व जैसे विभिन्न पहलुओं पर विचार और विधियाँ उसमें प्राप्त होती हैं। **कात्यायन** की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन सभी स्मृतिकारों की तुलना में वे स्त्रियों के आर्थिक अधिकारों के सबसे बड़े पोषक प्रतीत होते हैं। स्त्रीधन क्या है, उसके कितने भेद हैं अथवा वह किस प्रकार अनाहरण के अधिकार से सम्पन्न है, इन विषयों का सर्वाधिक सशक्त और विवेचित विवरण **कात्यायनस्मृति** में ही प्राप्त होता है।[2] **नारद** और **बृहस्पतिस्मृति** की एक अन्य विशेषता यह है कि **अर्थशास्त्र**, **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्यस्मृति** की तुलना में उन्हीं में सर्वप्रथम दीवानी (अर्थसंभव) और फौजदारी (हिंसासंभव) के मुकदमों को पूरी तरह अलग-अलग कर देखने की स्पष्ट अनुशंसाएँ हैं। व्यवहार, प्राड्विवाक्, धर्माधिकरण तथा जयपत्र जैसे नये शब्दों का प्रयोग और उनकी परिभाषाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि **नारद** और **बृहस्पति** स्मृतियों का संग्रह भारतीय विधि की व्यवस्था के एक विकसित युग में हुआ था।

आभिलेखिक और मौद्रिक साक्ष्य

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर अभिलेखों से भी यत्किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। यह प्रकाश न तो बहुत व्यापक है और न बहुत समृद्ध ही। तथापि जो थोड़ी-बहुत जानकारियाँ प्राप्त होती हैं, उनका एक समाहार दिया जा सकता है।

समय की दृष्टि से अशोक के अभिलेख सबसे प्राचीन हैं। किन्तु उनमें अर्थव्यवस्था अथवा आर्थिक प्रशासन सम्बन्धी उल्लेख नहीं के बराबर हैं। केवल रुम्मिनदेई के लघु स्तम्भलेख में इस बात की सूचना मिलती है कि सम्राट् अशोक ने अपनी लुम्बिनी की

(१) कुलानि श्रेणयश्चैव गणास्त्वधिकृतौ नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तुत्तरोत्तरम्।। (वृहस्पतिस्मृति, श्लोक ७५, पृष्ठ १२)

(२) पा.वा. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृष्ठ २१३।

तीर्थयात्रा के उपलक्ष्य में वहाँ का **बलि** नामक कर उठा लिया और उसे भविष्य के लिए अष्टभागी (अठभागिये) कर दिया।[1] इसी प्रकार शक-कुषाणों के खरोष्टी में लिखे गये अभिलेख भी हमारे मतलब की कोई भी सूचना नहीं देते। शक-सातवाहन युग के आते-आते कर बहुत ही व्यापक और कई प्रकार के हो चुके थे। प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख में **विष्टि** और **प्रणय** के अतिरिक्त **कर, भाग, भोग** और **हिरण्य** का उल्लेख मिलता है। नदियों के पार-उतार पर लगने वाले कर और उनसे मुक्ति का उल्लेख नहपान के समय के नासिक अभिलेख में आता है। गुप्त युग के आते-आते अभिलेखों में इन करों के बहुशः उल्लेख प्राप्त होने लगते हैं। द्वितीय धरसेन के मालिय ताम्रपत्राभिलेख में करों की एक ऐसी लम्बी सूची दी गयी है जो भूमिदान के प्राप्तकर्ता की विमुक्तियों के रूप में गिनायी गयी है। उनमें वापि सहित **उद्रंग, उपरिकर, वात, भूत, धान्य, हिरण्य** और **विष्टि** के उल्लेख हैं। इस युग के प्रायः सभी अभिलेखों में अग्रहार ग्रामों को राज्य द्वारा इन करों से विमुक्त कर दिये जाने के उल्लेख हैं।[2] राज्यों द्वारा गाँवों से वसूल की जाने वाली वस्तुओं अथवा उन पर राज्याधिकार की सूचक प्रथाओं में चाट-भाट और राजछत्रधारियों के प्रवेश; गाय, बैल, फूल, दूध की वसूली, चरागाह, चमड़ा, कोयला, नमक, खानों, जमीन में गड़ी हुई धन सम्पत्ति (द्रोण) एवं **विष्टि** का राज्याधिकार तथा **निधि, उपनिधि क्लिप्त और उपक्लिप्त** की एक लम्बी सूची वाकाटकराज द्वितीय धरसेन के चम्मक अभिलेख में प्राप्त होती है।[3] साथ ही अनेक स्थानों पर इस बात के भी संकेत हैं कि करनिर्धारण के सिद्धान्त क्या होने चाहिए। वसिष्ठिपुत्र पुलुमावि के नासिक गुहालेख से स्पष्ट है कि उस शासक द्वारा लगाये गये कर धर्मोचित[4] थे। रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख उसकी इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि उसने **विष्टि** (बेगार) अथवा **प्रणय** के आश्रय लिए बिना ही स्वयं के कोष से सुदर्शन झील के टूटे हुए बाँधों की मरम्मत करायी। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख उसके राष्ट्रीय अथवा गोप्ता पर्णगुप्त (सौराष्ट्र के राज्यपाल) की इस हेतु प्रशंसा करता है कि वह राजकीय अर्थ (करों) का संग्रह न्यायपूर्वक करता था और उसी प्रकार रक्षा भी करता था।[5] खारवेल का हाथिगुम्फा अभिलेख यह दर्शाता है। (पंक्ति. ६-१०) कि राजकीय धन का व्यय और उपयोग कहाँ-कहाँ किस प्रकार किया जाता था। वहाँ करमुक्ति के उदाहरण और सिद्धान्त भी प्राप्त होते हैं।

खारवेल का हाथिगुम्फा अभिलेख व्यापारिक निगमों का उल्लेख करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं गुप्त अभिलेखों के, जिनमें, विशेषतः गुजरात और मालवप्रदेशों की, श्रेणियों अथवा व्यापारिक संघों के उल्लेख हैं। विशेष उल्लेखनीय हैं

---

(१) इसका तात्पर्य सम्भवतः यह है कि लुम्बिनी को भविष्य में उपज के १/६ के स्थान पर १/८ भाग कररूप में देय हो गया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भाग (भूमिकर) १/४ या १/५ बताया गया है।

(२) फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृष्ठ १७०।

(३) वहीं, पृष्ठ २३८, २४२।

(४) धर्मोपचित-कर-विनियोग करस कितापराधे। (दे., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, श्रीराम गोयल, पृष्ठ ४४१)।

(५) न्यायार्ज्जनेर्थस्य कः प्रवृत्तः स्यादर्जितस्याऽप्यर्थं रक्षणे च। फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृष्ठ ५६।

कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन् के मन्दसोर प्रस्तर अभिलेख और समुद्रगुप्त के इन्दौर ताम्राभिलेख, जहाँ क्रमशः रेशमी वस्त्रों को तैयार करने वाले बुनकरों और तैलिकों की श्रेणियों, उनके एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने तथा उनके द्वारा साधारण कार्यों और मन्दिर निर्माण जैसे विशेष कार्यों के हेतु दिये गये दानों के विवरण प्राप्त होते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में राज्य के विशेष कार्यों में नहरों का निर्माण तथा उनका रखरखाव कदाचित् सर्वमुख्य था। इस सम्बन्ध में रुद्रदामन् और स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख सुदर्शन झील के चन्द्रगुप्त मौर्य के सौराष्ट्र-प्रान्तपति पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा निर्माण; अशोक के सौराष्ट्र-राज्यपाल तुषाष्फ द्वारा उससे कुल्याओं (नहरों) का निकाला जाना; रुद्रदामा के समय अगहन मास की एक भीषण वर्षा में उस झील के बाँधों के टूट जाने और शक शासक द्वारा प्रजा पर बिना कोई कर लगाये अपने ही कोष से उसकी मरम्मत कराने; तथा पुनः स्कन्दगुप्त के समय प्रौष्ठपद (पूर्वाभाद्रपद) और उत्तराभाद्रपद (भादों-क्वार) झील के दुर्दर्शन होकर पार्श्ववर्ती प्रजाजन के लिए अत्यन्त ही कष्टकारक बन जाने पर स्कन्दगुप्त के गोप्ता (राज्यपाल) पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा उसकी पुनः मरम्मत कराये जाने तथा उस प्रदेश को अगले एक सौ वर्षों तक के लिए बाढ़ और सूखे के भय से पूर्णतः मुक्त कर दिये जाने का एक मनोरम और साहित्यिक इतिहास उपस्थित करते हैं। हाथिगुम्फा अभिलेख में खारवेल द्वारा भी नहरों के निर्माण का उल्लेख है। दक्षिण भारत के वसुषेण आभीर का नागार्जुनीकोण्डा अभिलेख राजकर्त्तव्यों में वापि, तडाग और तालवनों की स्थापना की गिनती करता है।[1]

गोरखपुर जिले के सोहगौरा से प्राप्त होने वाला एक कांस्यपत्राभिलेख[2] यह उल्लेख करता है कि विभिन्न ग्रामों (स्थानों) में राज्य की ओर से अकाल अथवा अन्य वैसी ही दैवी विपत्तियों के समय जनता के भरण-पोषण के लिए आपातकालीन कोठार स्थापित किये जाते थे, जो साधारण समयों में खोले नहीं जाते थे।

अभिलेखों से इस बात के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं कि प्रत्येक गाँव की सीमाएँ होती थीं, जिनका निर्माण, कूप, तड़ाग, वृक्ष, राजपथ, पुल-पुलिया, नालियों, सीमा-स्तम्भों, खाइयों वनों, दीवारों, पशुमार्गों और मेड़ों द्वारा होता था और दानदत्त ग्रामों में इन सीमाओं के विधिवत् उल्लेख किये जाते थे।[3] दानदत्त गाँवों की चौहद्दियों के गाँव भी अभिलेखों[4] में परिगणित होते थे। इसी प्रकार दानदत्त खेतों की सीमाओं के भी विधिवत् उल्लेख प्राप्त[5] होते हैं जिनके विवरण प्रायः पूर्वी भारत, विशेषतः बंगाल, से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से उपलब्ध हैं।

शकक्षहरात अभिलेखों में कार्षापण और गुप्त अभिलेखों में दीनार (स्वर्णमुद्रा) एवं

---

(१) दे., श्रीराम गोयल, पूर्वोक्त, पृष्ठ ४६५।

(२) वहीं, पृष्ठ १५३।

(३) देखें, हस्तिन् का खोह अभिलेख, फ्लीट, पूर्वोक्त, पृष्ठ १०३; हस्तिन् और जयनाथ का भूमरा प्रस्तरस्तम्भलेख, वहीं, पृष्ठ १११; वहीं, पृष्ठ १२४-१२५, और वाकाटक अभिलेख, वहीं, पृष्ठ २४८।

(४) फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृष्ठ २४३।

(५) पहाड़पुर ताम्रपत्राभिलेख, एइ. जिल्द २०, पृष्ठ ५६; एइ., जिल्द २३, पृष्ठ १५५; एइ., जिल्द २१, पृष्ठ ८२।

रूपक अथवा रूप्यक (रजतमुद्रा) नामक सिक्कों द्वारा विपणन के प्रमाण प्राप्त होते हैं।[1] वैग्राम ताम्रलेख के अनुसार एक दीनार ६४ रूपकों के बराबर होता था।[2]

भूमिमाप के रूप में वाप अथवा आढ़ के उल्लेख तीसरी शती ईसवीं के महाराजगण के भद्रक[3] पाषाणलेख में और पारावर्त एवं निवर्तन[4] के उल्लेख क्रमशः गुप्तयुगीन और आन्ध्र सातवाहन अभिलेखों में आते हैं। गुप्त अभिलेखों में हस्त का भी भूमिमाप के रूप में उल्लेख हुआ है।[5] बंगाल से प्राप्त होने वाले गुप्तयुगीन अभिलेखों में नल शब्द का उपयोग बार-बार प्राप्त होता है।[6] हस्त परिमाण हाथ की मध्यमा अंगुलि के अग्रबिन्दु से केहुनी के कोण तक होता था और आज भी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में यह भूमिमाप खानगी तौर पर ५$^{3}/_{4}$ अथवा ६ हाथ की एक लग्गी द्वारा धुर, कट्ठा और बीघा निकालने के लिए अपनाया जाता है। नाल अथवा नल सम्भवतः वेंत के एक डण्डे का ऐसा ही रूप था जो पूर्वी भारत (बंगाल) में प्रचलित था। इसी प्रकार का मापसूचक शब्द वाप था जिसके साथ आढ़, कुल्य और द्रोण शब्द जोड़कर आढ़वाप, कुल्यवाप और द्रोणवाप[7] नामक मापों की गणना होती थी। पटक नामक एक अन्य भूमिमापक का भी उल्लेख मिलता है। आगे सन्दर्भानुसार इन पर हम **ग्राम, भूमि और कृषि** नामक अध्याय में पुनः विचार करेंगे।

सातवाहनों के काल में और उसके बाद के युग में एक चुस्त भूमि व्यवस्था का परिचय अभिलेखों से प्राप्त होता है। उस समय तक विभिन्न प्रकार के कृषिपरक करों के स्वरूप तो निश्चित हो ही गये थे, भूमि सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार की जानकारियाँ भी राजकीय रजिस्टरों में दर्ज की जाने लगी थीं। सातवाहन अभिलेखों के समय से यह प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी कि प्रत्येक भूमिदान **सान्धिविग्रहिक** द्वारा लिखा जाय और भूमिव्यवस्था से सम्बद्ध सभी अधिकारिओं के पास उसकी सूचना प्रतिहार (प्रतीहार) अथवा दूतक द्वारा पहुँचायी जाय। इस सन्दर्भ में आर्थिक प्रशासन से सम्बद्ध **अमच्च** (अमात्य), **महास्वामी, प्रतिहार** (प्रतीहार), **कायस्थ, राजस्थानीय, पुस्तपाल, कुमारामात्य** आदि अनेकानेक राज्याधिकारिओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय आर्थिक प्रशासन के ढाँचे पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त आर्थिक सूचनाओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न अभिलेखों से प्राप्त होने वाले तथ्यों को क्या प्राचीन भारत के सभी क्षेत्रों पर लागू माना जाना चाहिए अथवा लेखों के प्राप्ति स्थानों के आस-पास के क्षेत्रों तक ही उनकी व्याप्तता स्वीकार की जानी चाहिए। बड़ा स्पष्ट है, जहाँ एक ही प्रकार की सूचनाएँ विभिन्न लेखों से मिलती हैं, उनकी व्यापकता सम्पूर्ण उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत तथा दक्षिणापथ पर सिद्ध होती

---

(१) फ्लीट, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३८-३६; श्रीराम गोयल, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३०७।

(२) एइ., जिल्द २१, पृष्ठ ७८; सेलेक्ट इन्स्कृपशन्स्, दि.च. सरकार, भाग-१, पृष्ठ ३४३, पादटिप्पणी ५।

(३) श्रीराम गोयल, पूर्वोक्त, पृष्ठ ४७३।

(४) फ्लीट, पूर्वोक्त, पृष्ठ १७०; श्रीराम गोयल पूर्वोक्त, पृष्ठ ४३२।

(५) इऐ., १६१०, पृष्ठ १६५, २०१ और २०४; वैग्राम ताम्रलेख, जिल्द २१, पृष्ठ ८२।

(६) इऐ., १६१०, पृष्ठ १६३; जिल्द १५, पृष्ठ १३६; जिल्द १७, पृष्ठ ३४७।

(७) इऐ., १६१०, पृष्ठ १६३-२१६।

है। आन्ध्र सातवाहन एवं गुप्तकालीन अभिलेख इसी कोटि में आते हैं। आन्ध्रों के क्षेत्र उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य में थे और दक्षिण-पश्चिमी भारत उनके अधिकार क्षेत्र का हृदयस्थल था। शक-क्षहरात शासक भी मध्य भारत, पश्चिमी भारत विशेषतः गुजरात, और दक्षिणापथ के कुछ क्षेत्रों को आत्मसात किये हुए थे। अधिकांश गुप्तयुगीन आर्थिक सूचनाओं के आभिलेखिक स्रोत वाकाटकों, परिव्राजक महाराजों और मैत्रक लेखों में ही प्राप्त होते हैं। वाकाटकों के क्षेत्र मध्य भारत, पश्चिमी दक्षिणापथ और गुजरात में थे जो प्रायः विन्ध्य के दक्षिण तक विस्तृत थे। परिव्राजक महाराज मध्य भारत के क्षेत्रों में सीमित थे और मैत्रक शासकों के क्षेत्र गुजरात-काठियावाड़ में पड़ते थे। सब मिलाकर इन अभिलेखों से प्राप्त होने वाली सूचनाएँ मुख्यतः मध्यभारत, पश्चिमी भारत और दक्षिणपथ के प्रदेशों के बारे में लागू मानी जा सकती हैं। किन्तु उत्तरी भारत के जिन क्षेत्रों से उन सूचनाओं के समर्थक आभिलेखिक अथवा साहित्यिक साक्ष्य मिलते हैं, उनसे उनकी उत्तर भारतीय व्यापकता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

मुद्राएँ

प्राचीन भारतीय मुद्राओं से राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक इतिहास पर जो प्रकाश पड़ता है, उसका उद्घाटन तो प्रायः किया जा चुका है, किन्तु आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में अब तक उनका कोई ब्यौरेवार अध्ययन नहीं उपस्थित हुआ है। वास्तव में उनसे आर्थिक पहलुओं पर पड़ने वाला आलोक बहुत विस्तृत प्रतीत भी नहीं होता। तथापि कुछ अप्रत्यक्ष जानकारियाँ उनसे अवश्य प्राप्त की जा सकती हैं।

भारत के प्राचीनतम सिक्के ठप्पेदार अथवा आहत (पञ्चमार्क्ड्) चाँदी अथवा ताँबे के चौकोर अथवा गोल टुकड़े होते थे, जो उन धातुओं की पिटी हुई परतों से काटकर निकाले जाते थे। ये ७वीं-६ठीं शताब्दी ईसापूर्व से ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक चलते रहे। पश्चिमी भारत के अनेक गुहालेखों में भी इनके उल्लेख हैं। पालि भाषा की तरह प्राकृत में भी ये सिक्के कहापण ही कहलाते थे। कोसल, काशी, अंग, मगध, वत्स और अवन्ति जैसे समस्त गांगेय प्रदेश तो इनके प्रमुख क्षेत्र थे ही, उत्तर-पश्चिम और उत्तर में तक्षशिला और हस्तिनापुर, मध्य भारत में उज्जैन, पूर्व में ताम्रलिप्ति, दक्षिण-पूर्व में शिशुपालगढ़ और पश्चिम में जोधपुर के वैराट जैसे प्रायः समस्त भारतीय क्षेत्रों से ये उत्खननों द्वारा प्राप्त हुए हैं[1], जो इनकी अखिल भारतीय व्यापकता का सूचक है। प्राप्त होने वाली इनकी विभिन्न ढेरों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्डीय क्षेत्रों की विशेषता[2] रूप में थे। इन आहत सिक्कों पर न तो कोई लेख, न कोई चित्र और न उन्हें चलाने वालों (शासकों) की आकृतियाँ ही बनी हुई हैं। अतः विभिन्न सिक्कों के प्रचलन के प्रदेश, काल अथवा ऐसी ही अन्य सूचनाएँ उनसे नहीं प्राप्त होतीं। तथापि यह अनुमान लगाया गया है कि इनमें से कुछ का प्रचलन व्यापारिओं, व्यापारिक श्रेणियों और नगर निगमों

---

(१) ऐंश्येण्ट इण्डिया, सं. ४, पृष्ठ ८१; सं. ६, पृष्ठ ६४, १५२, १५५, १५७, १६०, १६६ आदि।

(२) रामशरण शर्मा, मैटिरियल् कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ ६१।

ने किया होगा। गणतान्त्रिक राज्य भी अपने सिक्के प्रकाशित करते थे। व्यापारिक श्रेणियों और निगमों द्वारा सिक्कों का प्रसारण उनकी आर्थिक स्वतंत्रता का द्योतक है। यद्यपि ज्ञात उत्खननों से अब तक कोई भी स्वर्णकार्षापण का प्रमाण नहीं उपलब्ध हुआ है,[१] **विनयपिटक** में यह उल्लेख है कि अनाथपिण्डिक ने स्वर्णमुद्राओं (सोने की मुहरों) से कोने से कोने तक पाटकर ही जेतराजकुमार से जेतवन नामक बगीचे को खरीदा था और उस पर विहार का निर्माण करके भगवान बुद्ध को उसका दान दिया था।[२]

पालि साहित्य में आहत सिक्कों को ही कहापण (कार्षापण) अथव पण कहा गया है। कनिंघम ने कार्षापण शब्द को कार्ष + आपण जैसे दो शब्दों की सन्धि का यौगिक रूप माना है और उसका अर्थ किया है[३] कार्ष अथवा पंक्तित अथवा रेखांकित तथा आपण अर्थात् बाजार जिसका तात्पर्य हुआ बाजार में चलने वाले रेखांकित ठप्पेदार या आहत सिक्के। पुराण नामक सिक्कों से वे उनका समीकरण भी करते हैं। अत्यन्त प्राचीन यूनान और भारत दोनों में ही केवल चाँदी के सिक्के तैयार होते थे। भारतीय रजत कापार्पण मूलतः लगभग ५७.६ ग्रेन के भार का होता था और ताम्रकार्षापण १४४ ग्रेन का। किन्तु अधुना प्राप्त प्रायः सभी आहत सिक्के कालान्तर में घिस जाने के कारण अपने भार में काफी कम हो गये हैं। बाद में तैयार होने वाले चाँदी के सिक्कों की संज्ञा थी शतनाम जो १८० ग्रेन के भार वाले होते थे।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्वर्णमुद्रा काफी बाद की है। इसके सर्वप्राचीन प्रतिनिधि पल, निष्क और सुवर्ण थे। दुर्भाग्यवश इनके कोई भी पुरातात्त्विक प्रमाण अथवा अवशेष अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। स्वर्ण दीनारों का प्रचलन शक-कुषाण-सातवाहन युगों से प्राप्त होता है। ईसा की पहली शताब्दी का रोमक इतिहासकार प्लिनी इस बात का रोना रोता है कि रोम से होने वाले भारतीय व्यापार के सिलसिले में रोम का बहुत अधिक सोना और चाँदी (लगभग ५ करोड़ सेस्टेरेस = ४ लाख पौण्ड) प्रतिवर्ष भारत की ओर बहा चला जाता है।[४] अनुमानित है कि यह सारा सोना विम कडफिसस्, कुजुल कडफिसस्, कनिष्क, वासिष्क और हूविष्क जैसे कुषाण शासकों और दक्षिण-पश्चिम के शक-सातवाहन शासकों के हाथों लगता था जो अपने सोने के सिक्कों (दीनारों) के निर्माण में उनका प्रयोग करते थे। दक्षिण भारत के अरिकामेडु जैसे अनेक स्थानों से इन रोमक स्वर्ण-सिक्कों की ढेरें प्राप्त हुई हैं जो प्लिनी के वक्तव्य का समर्थन करती हैं। कुषाण सिक्के सोने के अतिरिक्त तांबे के भी प्राप्त होते हैं। आगे गुप्त सम्राटों के समय स्वर्ण दीनारों का प्रयोग सिक्कों के रूप में होता रहा, जो सिक्कों की दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल कहा जा सकता है। किन्तु गुप्तयुग के बाद स्वर्ण सिक्कों का प्रायः अभाव सा हो जाता है और चाँदी के सिक्के 'रूपक' ही विनिमय के माध्यमरूप में बचे रहते हैं। इन रूपकों का प्रचलन गुप्तपूर्व युग में ही प्रारम्भ

(१) एकमात्र स्वर्ण कार्षापण के प्रमाण का उल्लेख आ.ले. वैशम अपनी पुस्तक 'दि वण्डर दैट वाज़ इण्डिया', पृष्ठ ५१० पर करते हैं। किन्तु कदाचित् किसी ने इस सिक्कें को अब तक देखा नहीं है।

(२) देखें, सारनाथ का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४६१।

(३) क्वायन्स् ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ ६।

(४) नेचुरल हिस्ट्री, १२वाँ, ४१.१८।

हो गया था और गुप्त युग में भी बहुत बड़ी मात्रा में वे प्रचलित थे।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में चाँदी और तांबे के सिक्कों का ही प्राधान्य था और स्वर्णमुद्राओं के प्रचलन का काल अपेक्षाकृत बहुत छोटा था – शक-कुषाण युग से प्रारम्भकर गुप्त युग तक अर्थात् लगभग पाँच शताब्दियों मात्र का। आर्थिक इतिहास की दृष्टि से इसका अभिप्राय क्या है, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। अनेक विद्वानों[1] ने शक-कुषाण काल में स्वर्णमुद्राओं की व्यापकता तथा गुप्त साम्राज्य के दिनों में अपेक्षाकृत उनकी कमी के आधार पर कम से कम आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से शक-कुषाण युग को ही प्राचीन भारत का स्वर्णयुग स्वीकार किया है, न कि गुप्त सम्राटों के युग को। इस मान्यता को अन्तिम स्वीकृति देने के पूर्व सम्बद्ध अन्यान्य पहलुओं को भी देखना होगा। इतना स्पष्ट है कि रोम जैसे पाश्चात्य देशों के साथ अपने बहुत ही समुन्नत व्यापार के कारण और उस व्यापार में स्वर्ण और रजत की रोम से आमद का पलड़ा भारत के पक्ष में बहुत ही भारी होने के कारण ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियाँ भारतवर्ष की समृद्धिशाली शताब्दियाँ रही होंगी। यह भी स्पष्ट है कि कुषाणों की जितनी स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त होती हैं, उतनी गुप्त सम्राटों की नहीं। गुप्त सम्राटों की स्वर्ण मुद्राओं के भार बहुत दिनों तक कुषाण सम्राटों की स्वर्णमुद्राओं के भार १४४ ग्रेन के बराबर ही थे। किन्तु ये भार कुमारगुप्त के समय से कम होते गये और मुद्राओं के स्वर्ण में मिलावट की मात्रा भी धीरे-धीरे बढ़ती गयी। इसे पहले की अपेक्षा स्वर्ण की उपलब्धता में कमी होने का सूचक माना गया है। यह सब कुछ आर्थिक अवरोध का प्रतिविम्ब माना गया है, जिसका परिलक्षण जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी हुआ होगा।

---

(१) रामशरण शर्मा ने विभिन्न प्राचीन नगरों की खुदाइयों से प्राप्त भौतिक जीवन से सम्बद्ध अवशेषों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कमी के आधार पर यह माना है कि ३०० ई. के पश्चात् भारतीय नगरों का ह्रास होने लगा था जो एक आर्थिक अवरोह का ही सूचक है। देखें – अर्बन् डिके इन इण्डिया, ३०० ई.-१००० ई., १६८७।

तीसरा अध्याय

अध्ययन के स्रोत : विदेशी साक्ष्य

यूनानी और रोमक लेखकों के विवरण : पश्चिमोत्तर, पश्चिमी और दक्षिणी भारत की सम्पन्नता

प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न पक्षों पर अनेकानेक प्राचीन यूनानी और रोमक लेखकों ने अपने अपने विवरण उपस्थित किये। भारती के अध्ययन के प्रारम्भिक युगों में उन विवरणों को प्रायः योरोपीय विद्वानों द्वारा, ब्रह्मवाक्य सा मान लिया गया। किन्तु अब सम्बद्ध ज्ञान का भण्डार बहुत बढ़ चुका है। यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनके सारे कथन सत्यता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। सुनी-सुनायी दन्तकथाओं, काल्पनिक विश्वासों और अविश्वास्य मिथकों के प्रचालन में प्राचीन यूनानी और रोमक लेखक भी प्राचीनकालीन अन्यदेशीय लेखकों से पीछे नहीं थे। इस तथ्य पर दृष्टि रखते हुए आगे हमारा ध्यान उन लेखकों के केवल उन वक्तव्यों मात्र पर केन्द्रित होगा, जिनमें वे प्राचीन भारतीय अर्थपद्धति और व्यापार अथवा भूगोल आदि का उल्लेख करते हैं। ऐतिहासिक कालक्रम को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास की जानकारी में उनके सन्दर्भों का क्या महत्त्व है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस् (४८४-४३१ ई.पू.) को इतिहास का पिता कहा जाता है। **इतिहास** नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में वह भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग को ईरानी सम्राट् प्रथम दारा (५२२-४८६ ई.पू.) के साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त बताते हुए कहता है कि भारतीय उसे प्रतिवर्ष करस्वरूप ३६० टैलेण्ट स्वर्णधूलि के रूप में देते थे। उसकी दृष्टि में तत्कालीन भारतीयों के पास सर्वाधिक स्वर्णभण्डार था। नदियों के बालुकामय किनारों अथवा मरुस्थलों से सोना इकट्ठा करने वाली बड़ी-बड़ी और भयंकर चींटियों का वह उल्लेख करता है।[1] वह यह बताता है कि किस प्रकार भारतीय लोग उस स्वर्णधूलि को चींटियों की नजर बचाकर, उनके द्वारा मार डाले जाने का खतरा उठाते हुए भी, चुरा[2] लाते थे। भारत में खदानों से भी सोना प्राप्त करने का वह उल्लेख करता

---

(१) र.चं. मजूमदार, दि क्लासिकल् एकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १ और आगे।

(२) हिरोडोटस् की ही तरह आगे आने वाले कई अन्य यूनानियों ने स्वर्णधूलि इकट्ठा करने वाली इन चींटियों का उल्लेख किया है। उदाहरणतः, नियार्कस् कहता है कि उसने चीतों की खालों जैसी इन चींटियों की खालें देखी थीं। मेगास्थनीज़ उन चींटियों का स्थान दरदों का देश बताता है और कहता है कि चींटियों का ध्यान बँटाने के लिए दरद लोग विभिन्न स्थानों पर माँस के टुकड़े फेंक दिया करते थे और चींटियों के उन टुकड़ों पर लपट जाने के समय उनकी नजर बचाकर सोना चुरा लाते थे। देखिए, नीलकण्ठ शास्त्री, एज् ऑफ दि नन्दज् एण्ड मौर्यज, पृ. ८५।

है। पुनः, विश्व की अपेक्षा भारतवर्ष में सबसे अधिक विशालकाय पशुओं की चर्चा के साथ वह कहता है कि यहाँ कुछ ऐसे वृक्ष भी होते थे जो ऐसे विशेष प्रकार के फल उत्पन्न करते थे, जिनसे भेड़ों से प्राप्त किये जाने वाले ऊन से भी अधिक बढ़िया ऊन प्राप्त होता था। भारतीय लोग अपना वस्त्र इन्हीं पेड़ों के फलों से तैयार करते थे। सम्भवतः यह उल्लेख शेमल और मदार की ओर निर्दिष्ट है।

किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हिरोडोटस् ने स्वयं भारत की यात्रा नहीं की थी और भारत सम्बन्धी उसके विवरण में आश्चर्य और अतिरंजन के पुट इतने अधिक हैं (जैसे स्वर्णधूलि इकट्ठा करने वाली, लोमड़ियों से कुछ बड़ी और कुत्तों से छोटी चींटियों के उल्लेख) कि उन पर कभी भी विश्वास नहीं किया जा सकता। आगे लिखने वाले कुछ यूनानी लेखकों ने स्वयं ही उसके इस विवरण की काल्पनिकता की मखौल उड़ायी।[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य (३२३-२२ ई.पू. से २९८ ई.पू.) के राजदरबार में सीरिया के शासक सेल्यूकस् के राजदूत के रूप में आने वाले मेगास्थनीज़ को भारत सम्बन्धी विवरण देने वाले सभी यूनानी और रोमक लेखकों का सिरमौर कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन योरोप को भारतवर्ष के बारे में जो कुछ भी ज्ञात था, उसकी पूर्णता मेगास्थनीज़ में प्राप्त होती है और उसके बाद के लेखकों ने इस देश के बारे में जो कुछ भी लिखा, वह भूगोल को छोड़कर प्रायः सभी विषयों में उतने मात्र तक सही था, जिस मात्रा तक उन्होंने मेगास्थनीज़ के वक्तव्यों का अनुसरण किया। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि मेगास्थनीज़ की **इण्डिका** के विवरण भी पूर्णतया प्रामाणिक नहीं स्वीकार किये जा सकते।[2] वह काबुल की घाटी और पंजाब से तो पूर्णतया परिचित था और तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक के राजमार्ग को पकड़कर उसने मौर्यदरबार तक की अपनी यात्रा की थी, किन्तु उसके पूर्व और दक्षिण वह कदाचित् कभी नहीं गया था। उसका निवास चन्द्रगुप्त के राजदरबार में कितने दिनों अथवा महीनों का था, यह ज्ञात नहीं है और लगता है कि वह अवधि अपेक्षाकृत छोटी ही थी। उसकी एक कमी यह भी थी कि उसे भारत में प्रचलित भाषाएँ-संस्कृत, पालि-प्राकृत-ज्ञात नहीं थीं और उसकी सूचनाएँ अधिकांशतः दूसरों से सुनी-सुनायी बातों पर आधृत थीं, जिन्हें ठीक से समझने-समझाने, परखने और सही रूप में आत्मसात करने की कठिनाइयाँ अवश्य रही होंगी। पुनः उसका ग्रन्थ **इण्डिका** अपने मूलरूप में प्राप्त भी नहीं होता और उसके कुछ छिटपुट अंश मात्र बाद के यूनानी-रोमक लेखकों (स्ट्रैबो, एरियन्, प्लिनी और क्लीमेन्स् अलेक्जाण्ड्रिनस्) द्वारा हमें अनुश्रुतिरूप मात्र में प्राप्त होते हैं।[3]

इटेसियायी अर्थात् मानसूनी हवाओं द्वारा भारत में बरसने वाले भरपूर पानी ने मेगास्थनीज़ सहित सभी यूनानी लेखकों को बहुत ही प्रभावित किया। उसने इस तथ्य को

(१) देखिए, एरियन्, मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २४, २६२।

(२) उदाहरण के लिए उसकी भारतवर्ष की नृजातियों तथा हेराक्लीज और डायोनिसियस् की कथाओं पर विश्वास नहीं किया जा सकता। दे., नीलकण्ठ शास्त्री, दि एज ऑफ दि नन्दज् एण्ड मौर्यज्, पृ. १००-१०१।

(३) देखिए, मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, परिशिष्ट-१, पृष्ठ ४६१। बाद के यूनानी और रोमक लेखकों द्वारा दिये गये मेगास्थनीज़ के सभी उद्धरणों को एक स्थान पर सबसे पहले जर्मनी के विद्वान् स्क्वान्बेक ने जर्मनीय भाषा में उपस्थित किया। उसे ही अंग्रेजी में फ्रैगमेण्टस् ऑफ इण्डिका नाम से जे.डब्ल्यू. मिक्रिण्डल् ने अनुदित किया।

विशेष रूप से प्रकट किया कि सिन्धु के निचले प्रदेशों में मानसून से कोई लाभ नहीं होता था और वहाँ पानी कम बरसता था। मेगास्थनीज़ ने सिन्धु और गंगा तथा उनकी सहायक नदियों की विशालता, उनके भरपूर जल, उनमें नौकायन की बारहोमास सुविधा तथा उनकी मिट्टी से बने हुए मैदानों का विशेष उल्लेख किया है। वह और उसके आधार पर लिखने वाले अन्य यूनानी लेखकों ने इन नदियों में आने वाली उन भयंकर बाढ़ों का उल्लेख किया है, जब उनके किनारे के नगर वस्तुतः टापू बन जाते थे और दूर-दूर तक जल का समुद्र मात्र दिखायी देता था। जमीन बड़ी उपजाऊ थी और वर्षा के पानी के कारण उसमें साल में दो फसलें उगायी जाती थीं। भारतवर्ष के लोगों की शारीरिक ऊँचाई और बढ़िया गठन का कारण मेगास्थनीज़ के मत में यहाँ की भूमि से प्राप्त होने वाली प्रचुर उत्पत्ति थी। यहाँ अन्य देशों की तरह न तो कोई कमी थी और न कभी कोई अकाल ही पड़ते थे। उसने गुड़ और चीनी उत्पन्न करने वाली ईख और रुई उत्पन्न करने वाले कपास के पौधों को देखा था। भारतवर्ष की धातु सम्पदा ने मेगास्थनीज़ को काफी प्रभावित किया था, और उसके अनुसार, यहाँ सोना, चाँदी, ताँबा और लोहा भारी मात्रा में पैदा होते थे। साथ ही टिन और अन्य धातुएँ भी मिलती थीं, जिनसे नित्यप्रति के प्रयोग की वस्तुएँ, आभूषण, छोटे औजार और युद्ध में काम आने वाले अस्त्र-शस्त्र तैयार किये जाते थे।[1] उसने भी हिरोडोटस् का वह कथन दुहराया है, जिसमें कुत्तों और लोमड़ियों के आकार की स्वर्णधूलि ढोने वाली चींटियों का विवरण है। उसके अनुसार सिंहल अथवा लंका (तैप्रोबेन = ताम्रपर्णी) में भारत की अपेक्षा अधिक सोना और मोती पैदा होता था – विशेषतः समुद्र से मोती इकट्ठा करने का कारोबार वहाँ अधिक विकसित था। पुनः, उसके कथनानुसार "मछुआरे लोग मोती उत्पन्न करने वाली सीपों को पकड़कर सुखाते थे, जिनसे उनकी मांसमज्जा तो सड़-गल जाती थी और हड्डियाँ बच जाती थीं, जिनसे आभूषण तैयार किये जाते थे। कारण यह था कि भारत में मोती की कीमत सोने की अपेक्षा तिगुनी मानी जाती थी।" वह भारत के विशालकाय हाथियों (अफ्रीका के हाथियों से भी बड़े और अधिक शक्तिशाली); उनकी १५०-२०० वर्षों तक की अवस्था; उन्हें पकड़कर पालतू बनाने के उपायों; उनके अनुशासन; युद्धों में लड़ते हुए उनके द्वारा अपने मालिकों को बचाये जाने; तैरने में उनकी कुशलता; गैगंरिडेई के राजा की सेना में विशाल आकार वाले हाथियों की बहुलता तथा रईसों और केवल राजाओं द्वारा ही (साधारण लोगों द्वारा नहीं) उनके स्वामित्त्व का उल्लेख करता है। व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में मेगास्थनीज़ के उद्धरणों के आधार पर स्ट्रैबो कहता है– "इस बात से कि भारतीय लोग बहुत ही कम अदालतों में जाते हैं यह प्रमाणित होता है कि उनकी विधियाँ और उनके संविद (समझौते) कितने सरल होते हैं। धरोहर अथवा जमाराशियों के बारे में तो उनके कोई मुकदमें होते ही नहीं हैं। न तो उन्हें राजकीय मुहरों की आवश्यकता है और न गवाहों की। वे अपनी राशि को दूसरों के यहाँ जमा करते समय एक दूसरे पर पूरा भरोसा और विश्वास करते हैं।"[2] नियार्कस् ने भी इस कथन को दुहराया है।"

ईसापूर्व पहली शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में डायोडोरस् सिसुलस् (सिकुलस् = अर्थात्

(१) मिक्रिण्डल्, फ्रैग्मेण्ट्स्, प्रथम, पृष्ठ ३१; डायोडोटस्, द्वितीय ३६; एरियन्, इण्डिका, अष्टम्, पृष्ठ २०२।

(२) चीनी यात्रिओं ने भी भारतीयों में आपसी विश्वास और कानूनी उपायों का सहारा प्रायः न लेने की आदत का उल्लेख किया है। देखिए, वाटर्स्, जिल्द १, पृष्ठ १७१; सेम्युअल् बील, जिल्द १, पृष्ठ ८३; लेगे, ट्रैवेल्स ऑफ फा-श्येन्।

सिसिली द्वीप के निवासी) ने अपनी पुस्तक **बिब्लियोथिका हिस्टोरिका** (ऐतिहासिक पुस्तकालय) की रचना की, जो मुख्यतः उत्तरी-पश्चिमी भारत पर सिकन्दर के अभियान का विवरण उपस्थित करती है। किन्तु बीच-बीच में उसमें (अत्यल्प मात्रा में) ऐसे भी उल्लेख हैं, जो भौगोलिक और आर्थिक महत्त्व के हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर-पश्चिमी भारत के विशेष उत्पादों में वह जहाज बनाने लायक चीड़ और देवदार जैसी अच्छी लकड़ी वाले जंगलों का उल्लेख करता है। झेलम नदी के आस-पास के प्रदेश के विशेष उपजाऊपन[1] पर जोर देते हुए वह वहाँ के ७०-७० क्यूबिक् फीट ऊँचे और लगभग ३००-३०० फीट व्यास में अपनी छाया फैलाने वाले वृक्षों (सम्भवतः वटवृक्षों) का उल्लेख करता है। यह उस समय होने वाली प्रभूत वर्षा और समुन्नत खेतीबारी का प्रमाण है।

६३ ई.पू. में जन्म लेने वाले पहली शताब्दी ई.पू. के स्ट्रैबो नामक यूनानी भूगोलवेत्ता और इतिहासकार की **भूगोल (ज्याग्रफी)** नामक महाकाय कृति 'प्राचीनकाल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक ग्रन्थ' के रूप में प्रथित है। सत्रह ख़ण्डों में विभाजित इस पुस्तक का १५वाँ खण्ड भारतीय भूगोल का वृत्त उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में भारतवर्ष पूर्व दिशा का सवबे बड़ा देश था।[2] वह यह स्पष्टतः स्वीकार करता है कि बहुत ही थोड़े यूनानियों ने स्वयं प्रत्यक्षतः भारतवर्ष को देखा था, और जिन्होंने उसे देखा भी था, उन्होंने भी उसके एक वहुत छोटे भाग मात्र (उत्तर-पश्चिमी भारत) को देखा था और इस हेतु उन सभी के विवरणों में समानता अथवा एकरूपता का अभाव है। मेगास्थनीज़ द्वारा उल्लिखित सिकन्दर के पूर्व के यूनानी लेखकों के भारतीय विवरणों पर वह अपना अविश्वास प्रकट करता है[3] तथा हेराक्लीज़ और डायोनिसियस् द्वारा भारत में औपनिवेशीकरण एवं अपने धर्म को फैलाने की यूनानी कथाओं को मिथकीय और अविश्वास्य बताते हुए[4] वह उन्हें सिकन्दर के चाटुकारों की जालसाजी बताता है।[5]

यहाँ हम स्ट्रैबो के भारतीय भूगोल सम्बन्धी विशाल ताने-बाने में न उलझकर उन कुछ गिने-चुने सन्दर्भों मात्र तक अपने को सीमित रखेंगे, जो प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के महत्त्व के हैं। पाटलिपुत्र (पालिबोथ्रा) होते हुए तक्षशिला से गंगासागर तक जाने वाली दस हजार स्टेडिया लम्बी सड़क का वह प्रमुख रूप से उल्लेख करता है और गंगा तथा सिन्धु नदियों को प्रमुख स्थान देते हुए, उनके मार्गों, मुहानों, उनके मार्ग में होने वाली प्रभूत वर्षा, तज्जन्य जंगलों और दलदलों, उनके क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले अन्नों की चर्चा करते हुए हमें वह दक्षिण में कन्याकुमारी तक की यात्रा कराता है।[6] इरैटोस्थेनीज़ और मेगास्थनीज़ का हवाला देते हुए भारतीय भूमि की विशेष उत्पादक शक्ति के प्रशंसात्मक विवरण के साथ साल

(१) मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६६, २५८।
(२) वहीं, पृष्ठ २४४ और आगे।
(३) वहीं, पृष्ठ २४५।
(४) वहीं, पृष्ठ २४६-२४७।
(५) हेराक्लीज़् और डायोनिसियस् सम्बन्धी काल्पनिकताओं के लिए देखिए, एरियन्, वहीं, पृष्ठ २१६-२३३।
(६) मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५२-२५५।

में दो-दो बार होने वाली फसलों और फलों का वह उल्लेख करता है। इस उत्पादकता में यहाँ की ऊष्णता विशेष कारक के रूप में दिखायी गयी है। सामुदायिक भूस्वामित्त्व के सिद्धान्त की पुष्टि स्ट्रैबो के इस कथन[१] से होती है कि यहाँ भूमि कई परिवारों द्वारा सामूहिक रूप में बोयी-जोती जाती थी, जो कटनी के बाद उसकी उत्पत्ति को बराबर-बराबर बाँट लेते थे और कुछ अगले साल के लिए रखकर उस उत्पत्ति का बचा हुआ भाग नष्ट कर देते थे ताकि लोग बहुत कुछ घर में रखकर आलसी न हो जाँय और आगे सर्वदा मेहनत के लिए तैयार रहें। अपनी छाया का विशेष वितान फैलाने वाले बरगद जैसे अनेकानेक वृक्षों, रुई देने वाले सेमल जैसे पेड़ों, अंगूरी लताओं और कन्दमूल सहित प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होने वाले भैषज्यों तथा यहाँ की नदियों के जलों की विशेषता और मिस्र की नील नदी के जल से उनकी भिन्नता का एक तुलनात्मक चित्र वह उपस्थित करता है।[२] स्ट्रैबो के भारत सम्बन्धी विवरणों के लिखे जाने के बहुत पूर्व से ही इस देश में नगरीकरण का क्रम प्रारम्भ हो चुका था। तथापि जब वह कहता है कि हाइपैनीज़[३] (व्यास) और हाईडेस्पस् (झेलम) नदियों के बीच के क्षेत्र में ९ प्रमुख जातियाँ और ५००० नगर थे तो उसमें कल्पना का पुट दिखायी देता है तथा उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि इन तथाकथित नगरों में कुछ गाँवों से कुछ बड़े और आजकल के छोटे कस्बों के समान रहे हों।

ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में शासन करने वाले ऐण्टोनिनस्पियस् और मार्कस ऑरेलियस् नामक रोमक सम्राटों के समय के एरियन् नामक एक रोमक प्रशासक इतिहासकार ने भी इण्डिका नामक भारतवर्ष का एक विवरण तैयार किया। वह भी प्रायः मेगास्थनीज़ और इरैटोस्थेनीज़ के विवरणों पर आधृत था। ग्रन्थ के प्रथम भाग में वह भारतीय भूगोल की चर्चा करता है, जिसमें सिन्धु के प्रदेशों सहित प्रायः झेलम के उत्तर और पश्चिम के क्षेत्रों, पंजाब की अन्य नदियों और उन नदियों के मुहानों के विवरणों के साथ भारतवर्ष की लम्बाई-चौड़ाई के सुने-सुनाये उल्लेख हैं। सिन्धु और गंगा का कुछ आश्चर्यपूर्ण वर्णन करते हुए वह उन्हें मिस्र की नील और असीरिया की ईस्टर नदियों से अपने आयत्तों में अधिक विशाल बताता है।[४] आर्थिक इतिहास की दृष्टि से पिष्टपेषणपूर्ण इन विवरणों का विशेष महत्त्व नहीं है। तथापि मेगास्थनीज़ के हवाले से दिया हुआ उसका यह उल्लेख ध्यातव्य है कि भारतवर्ष में कम से ५८ नदियाँ ऐसी थीं, जो नौकायन के उपयुक्त थीं। वह इस तथ्य का भी स्पष्ट उल्लेख करता है कि सिकन्दर के समकालीन यूनानी लेखकों में किसी ने भी झेलम नदी के पूर्व की कोई यात्रा नहीं की थी। फलतः उनके तत्सम्बन्धी विवरण बिल्कुल सुने-सुनाये ही थे, जिन पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता।[५] इससे यह प्रतीत होता है कि वह यथासम्भव अपने कथनों को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसने को तैयार

(१) स्ट्रैबो, १५वाँ, १.६६ (पृष्ठ ७२) – उद्धृत, नीलकण्ठ शास्त्री, एज ऑफ दि नन्दज् एण्ड मौर्यज्, पृष्ठ १०८।

(२) मजूमदारं, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५२-२५५।

(३) दिनेशचन्द्र सरकार (एज ऑफ इम्पीरियल् यूनिटी, पृष्ठ ११४) ने हाइपैनीज् अथवा हाईपैसीज़ को व्यास नदी से मिलाया है।

(४) मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१५-२१६।

(५) वहीं, पृष्ठ २१६।

था। भारतीयों द्वारा समुद्र से मोती (मार्गरित = मरकत) निकाले जाने का उल्लेख करते हुए एरियन् कहता है कि उसके समय से बहुत पूर्व से ही यूनानियों में मोतियों की बहुत बड़ी माँग थी और उसके समय में भी धनी रोमकों में इनकी बड़ी चाह थी।[1] मोती प्रदान करने वाली सीपियों के समुद्र से जालों द्वारा निकाले जाने का विवरण देते हुए भारतवर्ष में खानों से निकाले हुए सोने की तुलना में मोती के मूल्य को वह तिगुना बताता है।

पेरिप्लस् ऑफ दि इरीथ्रियन् सी (पेरिप्लस् मेरिस् इरीथ्रियेयी)[2] नामक ग्रन्थ का रचयिता मिस्र में बसा हुआ कोई अज्ञातनामा यूनानी व्यक्ति था। वह भारतीय विदेशी व्यापार, जहाजरानी, आन्तरिक व्यापार, आयात-निर्यात की वस्तुओं तथा विदेशी व्यापार पर निर्भर भारत के पश्चिमी तटों के नगरों की खुशहाली जैसी अनेक बातों का निदर्शन कराने वाला सर्वप्रमुख प्राचीन यूनानी लेखक स्वीकार किया जा सकता है। प्रथम ईसवी शती के द्वितीयार्द्ध के प्रारम्भ में उसने मिस्र से भारत के पश्चिमी और पूर्वी तटों की जहाजी यात्रा की थी। ई. सन् ७३-७७ के बीच **नेचुरल हिस्ट्री** नामक ग्रन्थ के रचयिता प्लिनी को उसकी यात्रा और उसका ग्रन्थ ज्ञात था। रोम के निवासी हिप्पैलस् को दक्षिणी-पश्चिमी दिशाओं में बहने वाली हवाओं का ज्ञान ४७ ई. सन् में हुआ था,[3] जिसका उल्लेख **पेरिप्लस्** में प्राप्त होता है। इस आधार पर विल्फ्रेड स्कॉफ् ने **पेरिप्लस्** की रचना तिथि ५४ से ६० ई. के बीच कभी, बहुत सम्भवतः ६० ई., मानी है।[4]

पेरिप्लस् के मिस्र से भारत तक के समुद्री मार्ग का ब्यौरा इतना विस्तृत है कि उसका संक्षेप भी यहाँ दे पाना बड़ा कठिन है। तथापि उसकी कुछ प्रमुखताओं का वर्णन आवश्यक है। उसका लेखक मिस्र के आगे मुसेल बन्दरगाह (म्योस् होरमोस्) से प्रारम्भकर लाल समुद्र की खाड़ी पर स्थित बेरेनिके; ओरीन नामक टापू पर बसे हुए अडुलि या अडुलिस्[6] और वहाँ से अरब की खाड़ी से पूरब की ओर जाते हुए लगभग ४००० स्टेडिया की दूरी पर अनेक हाटों के होने का उल्लेख करता है। इन हाटों में बर्बरों का नगर अवलिटेज् (आधुनिक ज़ेला) प्रमुख था। आगे मलाओं नामक नगर तथा मुण्डुस् और मोसिलम् नामक बन्दरगाह नगर थे। पुनः छोटी नील नदी के आगे दक्षिण की ओर तबाई और ओपेन नामक हाट थे जहाँ जुलाई के महीने में मिस्र से मालों से लदे हुए जहाज तो आते ही थे, एरियाक और

---

(१) वहीं, पृष्ठ २२२।

(२) पेरिप्लस् ऑफ दि इरीथ्रियन् सी का हिन्दी रूपान्तर हो सकता है **भारतीय महासमुद्र की निदेशिका**। **पेरिप्लस्** का अर्थ है निदेशिका। प्राचीन यूनानी तथा रोमक लोग विशाल भारतीय महासमुद्र को इरीथ्रिया कहते थे, जिनमें लालसागर और अरब तथा फारस की खाड़ियाँ अथवा समुद्र भी सम्मिलित था। अतः इसका तात्पर्य हुआ भारतीय महासमुद्र। मिक्रिण्डल् ने १८७९ ई. में इस ग्रन्थ का प्रथम अंग्रजी अनुवाद किया था। बाद में विल्फ्रेड स्कॉफ् ने एक अच्छी भूमिका और विशद् टिप्पणियों के साथ १९१२ ई. में न्यूयार्क से इसका एक दूसरा अनुवाद प्रकाशित किया। दोनों अनुवादों में प्राचीन यूनानी भाषा में लिखे हुए नामों आदि के उच्चारण में काफी अन्तर हैं। देखिए, मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८८; स्कॉफ् का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५०-५१।

(३) देखिए, विनुसेण्ट, उद्धृत, स्कॉफ् का पेरिप्लस् का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८।

(४) वहीं, पृष्ठ १२, १५।

(५) आजकल का रस् अबू सोमेर, जिसे २७४ ई.पू. में टॉलेमी फिलाडेल्फस् ने स्थापित किया था। दे. स्कॉफ, पृष्ठ ५२।

(६) अडुलि की खाड़ी पर स्थित आधुनिक मसोजा नामक बन्दरगाह। वहीं, पृष्ठ ६०।

बैरीगज़ा (भृगुकच्छ) से अपने अपने देशों का माल लेकर जहाज नियमित रूप से आते थे। वहाँ की आयातित वस्तुओं में गेहूँ, चावल, घी, तिल, तेल, सूती कपड़े, कमरबन्द और 'शक्खरी' अर्थात् शर्करा = चीनी होती थी। अंजानिया नामक महाद्वीप में रप्टा नामक बाजार नगर था जहाँ से गैडों की सींगें और कछुओं की पीठों की खोलें अन्य स्थानों को निर्यात की जाती थीं।

बेरेनिस् नामक नगर की बायीं ओर मुसेल नामक बन्दरगाह से दो-तीन दिनों की समुद्री यात्रा के बाद पास की खाड़ी होकर पेट्रा तक एक सड़क जाती थी, जहाँ अरब से छोटी-छोटी नावें पहुँचती थीं। वहाँ से सटा हुआ अरब (आजकल का यमन) देश था, जो अरब सागर के किनारे एक लम्बाई में पड़ता था। आगे एक खाड़ी के मुहाने पर बायीं ओर मुज़ा (आधुनिक मोखा १३.१६ उत्तर, ४३°.२० पूरब) नामक बाजार-नगर था जो अरबी जहाजमालिकों और समुद्रयात्रिओं के क्रियाकलापों से गुंजायमान रहता था। वहाँ के व्यापारी भृगुकच्छ (भड़ौच) सहित दूर-दूर के स्थानों से व्यापार करते थे।

पेरिप्लस् का लेखक आगे यूडेमाँ अरेबिया (आधुनिक अदन बन्दरगाह-१२.४८ उत्तर, ४५.० पूरब) का उल्लेख करता है, जहाँ का पानी ओसेलिस् की अपेक्षा अधिक मीठा था और जहाज आसानी से खड़े हो सकते थे। वह मिस्र और भारत के बीच का मालों के हस्तान्तरण का स्थल था। आगे एक पतली सी खाड़ी के अन्तरीपी भाग पर इलैज़स् राज्य का कना नामक बन्दरगाह नगर था, जहाँ से भृगुकच्छ, सीथिया, ओमान और फारस के समुद्री तटों जैसे दूर-दूर तक के देशों तक व्यापार होता था। पुनः डायोसकोरिहा[1] (आधुनिक सोकोट्रा १३.३० उत्तर ५४.० पूरब) नामक द्वीप की चर्चा है, जहाँ के सभी निवासी विदेशी थे – अरबी, यूनानी और भारतीय, जो केवल व्यापार के लिए ही वहाँ बस गये थे। मुज़ा, ड़मिरिका (भारत का द्रविड़ देश) और बैरिगज़ा (गुजरात का भृगुकच्छ) से व्यापारिओं द्वारा वहाँ अपने-अपने मालों के ले जाने का उल्लेख हैं।

स्याग्रुस के आगे ओमान की खाड़ी (आधुनिक कमर की खाड़ी १६.१५ उत्तर, ५३.३० पूरब) से दूर समुद्री किनारे से होते हुए मोखा[2] नामक बन्दरगाह था, जहाँ कना से नियमित रूप से जहाज आते थे। डमिरिका (द्रविड) और भृगुकच्छ से लौटते हुए जहाज अपनी जाड़े की ऋतुएँ वहाँ ही बिताते थे तथा लोहबान के बदले वहाँ के व्यापारिओं को कपड़ा, गेहूँ और तिल के तेल की आपूर्ति करते थे। उस बन्दरगाह की यह विशेषता थी कि वहाँ आरक्षित माल की कभी भी चोरी नहीं होती थी।

आगे फारस की खाड़ी के किनारे ओम्मर नामक पारसीक बाजार नगर था, जहाँ भृगुकच्छ से ताँबा, चन्दन की लकड़ी तथा शीशम, सागौन और आबनूस की लकड़ियाँ

(१) स्कॉफ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १३८-१३६, ने इस स्थान के नाम की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'सुखाधार' (सुख का स्थान) से की थी। उन्होंने (वहीं) इस द्वीप से भारतीय सम्बन्धों की भी विशद चर्चा की है।

(२) आजकल का खोर-रेरी १७.२ उत्तर, ५४.२६ पूरब। मोटे तौर पर उसे आजकल के मस्कत नामक अमीरात से मिलाया जा सकता है।

बड़े-बड़े जहाजों पर लदकर आती थीं और भृगुकच्छ को मोती, फैशनी कपड़े, शराब, बड़ी मात्रा में खजूर और गुलाम भेजे जाते थे।

आगे **पेरिप्लस्** में सीथिया के प्रदेशों से नीचे बहती हुई अरब सागर में गिरने वाली सबसे बड़ी नदी सिन्धु (सिन्थस्) और उसके छिछले तथा दलदली सप्तमुखों का, बारबेरिकम् और मिन्नगर नामक नगरों का, वहाँ आयातित होने वाली वस्तुओं, जैसे महीन कपड़े, चित्रित कपड़े, पीले पुखराज, प्रवाल (विद्रुम अथवा मूँगा), शीलाजीत, लोहबान, शीशों के घड़े, सोने-चाँदी की तश्तरियों और थोड़ी मात्रा में शराब का एक बढ़िया विवरण है। ठीक उसी प्रकार वहाँ से निर्यातित वस्तुएँ भी गिनायी गयी हैं – कूठ, गुग्गुल, कठघास या जटामासी, वैदुर्य (नीलम), चीनी वल्कल, सूती कपड़े, रेशमी धागे और नील। वहाँ से व्यापारी अपने जहाजों में दूसरे देशों को जाने के लिए जुलाई के मास में इसलिए निकलते थे कि उनकी यात्राएँ उस समय मानसूनी हवाओं की मदद से जल्दी पूरी हो जाती थीं, यद्यपि समुद्र उस समय बड़ा भयानक और तूफानी रहता था।

आगे इरिनान; बरक (बराका) - सम्भवतः कच्छ की खाड़ी; भृगकच्छ की खाड़ी; आभीर और सुराष्ट्र प्रदेशों; वहाँ की उपजाऊ भूमि और उसके विभिन्न उत्पादों और फसलों – गेहूँ, धान, तिल, घी, रुई, (और उनसे बने बढ़िया भारतीय कपड़ों); नर्मदा और माही नदियों के मुहानों की नौकायन सम्बन्धी कठिनाइयों और वहाँ के राजा (नम्मडुस)[1] द्वारा कुशल मल्लाहों की इस हेतु नियुक्ति कि वे बाहर के अनभिज्ञ नाविकों को तथा उनके माल को अपनी छोटी-छोटी नौकाओं में समुद्री चट्टानों को बचाते हुए किनारे तक लिवा लावें, जैसी विशद सूचनाएँ हैं। वहाँ के तूफानी समुद्रगर्जन की तुलना **पेरिप्लस्** का लेखक आगे बढ़ती हुई किसी विशाल सेना के तुमुलनाद से करता है।

पेरिप्लस् में भारतवर्ष के भीतरी स्थानों में प्रमुखरूप से उज्जैन का उल्लेख है जो बाहरी आयात और देश के विभिन्न भागों से लायी हुई वस्तुओं के निर्यात[2] का मुख्य द्वार था। आगे **पेरिप्लस्** में भृगुकच्छ से होकर भारत में आयातित होने वाली वस्तुओं के सविस्तार विवरण है, जो देश के भीतरी बाजारों में वहाँ से लायी जाती थीं। उसी प्रकार वहाँ से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं की भी सविस्तार गिनती प्राप्त होती है। कथित है कि भृगुकच्छ के लिए मिस्र से जहाज जुलाई के महीने में उस समय चलते थे, जब वहाँ से भारत पहुँचने के लिए अनुकूल मानसूनी हवाएँ (हिप्पैलस्) प्राप्त होती थीं।

भृगुकच्छ के नीचे, दक्षिण की ओर दक्षिणापथ (दक्खिनावदेश) में स्थित पैठान और तगर नामक बाजार नगरों और उनकी व्यापारिक वस्तुओं के विशेष उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन नगरों के उत्तर, किन्तु भृगुकच्छ से दक्षिण, में स्थित क्रमशः कई बाजारों – हाटों यथा सोपारा (प्राचीन सूर्पारक), कल्याण, सेमिलन, मण्डगोर, पालैपत्तनै (पालैपत्तन), मोलिज़िगर,

---

(१) स्कॉफ ने उसकी पहचान क्षत्रप शासक नहपान से की है। पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७५।

(२) निर्यात की वस्तुएं थी – गोमेद, इन्द्रगोप (सुलेमानी पत्थर), लाल, मलमल, कपड़े, बालछड़ अथवा जटामासी (उसके इत्र और तेल), कूठ और गुरगुल। वे वस्तुएँ वहाँ पुष्कलावती, काबुल और हिन्दुकुश के क्षेत्रों से आती थीं।

बाइजैण्टियम्, तोगरुम्, और ओरन्नावेयस् की गिनती है। पुनः गोवा सहित कुछ द्वीपों के उल्लेख के साथ दक्षिण के दमिरिका अर्थात् द्रविड = द्रमिड = तमिड (ल़्) देश के नौरा (कन्नानूर), टिण्डिस् (पोन्नानी), मुजिरिस् (मुयिरिकोट्ट = कंगानूर १०.१४ उत्तर, ७६.११ पूरब) तथा नेलकन्द (नीलकण्ठ = आधुनिक कोट्टयम् - ६.३६ उत्तर, ७६.३१ पूरब) की सविस्तार चर्चाएँ हैं।[1] ये सभी बन्दरगाह मिस्र देश से आने वाले व्यापारिओं से भरे रहते थे और जहाज मिस्र से जुलाई के मास में चलकर सीधे वहाँ पहुँचते थे। उनके आगे समुद्री किनारों पर बसे हुए बकारे (आधुनिक पोरकाड - ६.२२ उत्तर, ७६.२५), परेलिया (पुराली जो ट्रावनकोर का प्राचीन नाम है), बलित (वर्क्कलइ), कुमारी (कन्याकुमारी), कोल्की (कोल्कई-८.४० उत्तर, ७८.५ पूरब, जो पाण्ड्य क्षेत्र में स्थित मनार की खाड़ी का प्रसिद्ध बन्दरगाह था), चोलमण्डलम् के अरगर (उरइयुर), कमर (कारीकल), पोदुका (आजकल का पुड्डुचेरि) और सोपतम् (सुपत्तन अर्थात् मद्रास का आजकल का सुन्दर बन्दरगाह) नामक बन्दरगाहों की चर्चाएँ हैं। **पेरिप्लस्** में भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी और दक्षिणी समुद्री किनारों पर स्थित इन बन्दरगाहों की सामुद्रिक स्थितियों, वहाँ की नौकायन की सुविधाओं अथवा कठिनाइयों, आयात और निर्यात की वस्तुओं जैसी अनेक बातों के सविस्तार उल्लेख हैं। वहाँ कथित है कि पहले कना और यूडेमाँ अरेबिया (अदन बन्दरगाह) से भारत के पश्चिमी तटों को होने वाली सम्पूर्ण यात्राएँ खाड़ियों और समुद्री किनारों से सटे होकर छोटी नौकाओं में की जाती थीं। किन्तु हिप्पैलस् वह प्रथम नाविक था, जिसने सबसे पहले बन्दरगाहों और समुद्रों की स्थिति को जानकर समुद्र का रास्ता खोज निकाला था, क्योंकि ठीक इसी समय जब हमारे यहाँ (मिस्र में) इटेसियायी (इटेसियन्) हवाएँ चलती हैं, भारतीय समुद्री किनारों पर वे समुद्र की ओर से आती हैं। इस प्रकार जिसने इन हवाओं की सबसे पहले खोज की (जानकारी दी), उसके नाम पर इन दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं का नाम हिप्पैलस् पड़ा। उस समय से आज तक जहाज हवा के विपरीत अपने मस्तूलों को तानते हुए दमिरिक (द्रविड़ देश) को जाने वाले जहाज कना और मसालों की खाड़ी से सीधे (बीच समुद्र से) चलने लगे। जो जहाज सिथिया (भारतवर्ष के शक क्षेत्र) और भृगुकच्छ को भी जाते थे, वे भी केवल तीन दिनों मात्र तक समुद्री किनारों से सटे रहते थे और उसके बाद वे भी बीच समुद्र में काफी दूर तक जाते हुए अनुकूल हवाओं के साथ उन्हीं मार्गों (हिप्पैलस् द्वारा ज्ञात) को पकड़ते थे।

सुपत्तन अर्थात् आधुनिक मद्रास से भारतीय समुद्र के पूर्वी किनारों में मसलिया (मछलीपत्तन), भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी भूमि प्रदेश के दशार्ण नामक देश, उत्तर-पूर्व के किरात क्षेत्रों, गंगा नदी और गंगासागर की भी **पेरिप्लस्** में चर्चाएँ हैं, किन्तु तत्सम्बन्धी सूचनाएँ पश्चिमी किनारों के बन्दरगाहों-नगरों से सम्बन्धित सूचनाओं की तुलना में बहुत

---

(१) इन बन्दरगाहों में नीरा अर्थात् कन्नानूर, टिण्डिस् अर्थात् पोन्तानी और मुजिरिस् अर्थात् मुयिरिकोट्ट अथवा क्रंगानूर आजकल के क्रमशः मलयालमभाषी मलावार, कोचीन और उत्तरी ट्रावनकोर के क्षेत्रों में पड़ते थे, जिन्हें प्राचीनकाल में केरलपुत्र कहा जाता था। नेलकन्द अर्थात् नीलकण्ठ = कोट्टयम् पाण्ड्य क्षेत्र में स्थित था। इस सम्बन्ध में देखिए, स्कॉफ्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६५-२००।

सीमित हैं। वहाँ उत्तर में चीन देश तथा मंगोल, भोटिया और पहाड़ी जातियों द्वारा भारतीय बाजारों में लाये जाने वाले माल-विशेषतः रेशमी धागे, वस्त्र, लोहबान, जटामासी और दालचीनी के व्यापार सम्बन्धी उल्लेख हैं।

प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन में उपर्युक्त यूनानी-रोमक, विशेषतः **पेरिप्लस्** के साक्ष्यों का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। **पेरिप्लस्** के साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा कि विश्व इतिहास के एक समृद्ध-युग में सारा उत्तरी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका, अरब, फारस और भारतीय महाद्वीप के पश्चिमी और दक्षिणी किनारे एक जीवन्त आर्थिक सम्बन्ध में बंधे हुए थे। दोनों दिशाओं के बीच व्यापारिक आदान-प्रदान के ग्राफ की सवसे ऊपरी विन्दु पश्चिम में रोम साम्राज्य के सर्वाधिक सम्पन्न युग और भारतीय इतिहास के शक-सातवाहन काल में स्थापित हुई थी। उसके मूल में रोमकों द्वारा ४७ ई. में सबसे पहले दक्षिणी-पश्चिमी मानसून (हिप्पैलस्) की जानकारी थी, जिसके फलस्वरूप दोनों दिशाओं में आने-जाने वाले विशाल समुद्री जहाजों की संख्या और फलतः दोनों दिशाओं में जाने वाले माल की मात्रा और परिमाण में जबरदस्त वृद्धि हुई होगी। एक और बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि भारतवर्ष से होने वाले निर्यात में मोती-मूँगें, पुखराज, प्रवाल, मरकत, नीलम, लाल और चकमक जैसे बहुविध प्रकार के बहुमूल्य पत्थरों, मलमली, रेशमी और बढ़िया सूती कपड़ों, काली मिर्च, पिप्पलि, दालचीनी जैसे मसालों; चन्दन, चीड़, देवदार, शीशम, सागौन और आवनूस जैसी मूल्यवान लकड़ियों; हाथीदाँत; लोहबान, सुगन्धित तेल, इत्र, घी, चीनी, जटामासी, कूठ, शीलाजीत, संखिया, रामबान (पर्ण अथवा त्रिपर्ण) और आँजन जैसे सम्पन्न और राजसी परिवारों में काम आने वाली तथा रोम में बहुत ही चाही हुई वस्तुओं का मुख्य स्थान था। इनके बदले पश्चिमी देशों – विशेषतः रोम – से भरपूर मात्रा में सोना भारत को प्राप्त होता था। भारत में भी पश्चिम से अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर, सोने और चाँदी के सिक्के, खजूर, बढ़िया शराब, कुछ दास-दासियाँ, ताँबा, टिन, जरता कुछ बढ़िया कपड़े, शीलाजीत, लोहबान, आँजन, राजदरबारों के लिए चाँदी के बहुमूल्य बर्तन, गायक लड़के, राजमहलों के लिए सुन्दर युवतियाँ और बढ़िया कीमती मलहम जैसी वस्तुएँ मँगायी जाती थीं, जो या तो राजदरबारों के लिए होती थी अथवा धनी और सम्पन्न वर्ग के लोगों के लिए। स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार-आयात और निर्यात दोनों ही धनी और राजशक्ति सम्पन्न तथा अभिजात और कुलीन लोगों के लिए ही होते थे। सम्भवतः वह व्यापार उन्हीं के हाथों में भी था।

चीनी धर्मयात्रिओं के साक्ष्य

इस पुस्तक के विवेच्ययुग (हर्षपूर्व) की आर्थिक जानकारियों के विदेशी साधनों में चीनी धर्मयात्रिओं की लेखनियों से जो कुछ प्राप्त है, वह भी नगण्य नहीं है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक सूचनाओं की दृष्टि से उनके उल्लेख उसी मात्रा में व्यापक और बहुविध हैं जैसे यूनानी और रोमक लेखकों के। तथापि जो थोड़ी-बहुत आर्थिक (भौतिक) जानकारियाँ वे दते हैं, वे यूनानी-रोमक सूचनाओं की तुलना में प्रायः बहुत अधिक सटीक

और ग्राह्य हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि यूनानी-रोमक लेखक अधिकांशतः जहाँ मेगास्थनीज़ के आधार मात्र पर अथवा अन्यों से सुनी हुई सूचनाओं के आधार पर अपने अधिकांश उल्लेख उपस्थित करते हैं, वहीं चीनी धर्मयात्रिओं ने भारतवर्ष में एक लम्बी अविध तक निवासकर, यहाँ की भाषा को सीख और जानकर, देश के भीतर दूर-दूर तक लम्बी-लम्बी यात्राएँ करके तथा प्रत्यक्ष अनुभवों और जानकारियों के आधार पर, अपने विवरणों को तैयार किया। यह सही है कि चीनी धर्मयात्रिओं के भारत आगमन और इस देश में उनके निवास के उद्देश्य पूर्णतः धार्मिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक (बुद्धधर्म की पुस्तकों के संग्रह तथा सच्चे विनय की जानकारी आदि) मात्र थे। वस्तुतः इस देश की आर्थिक दशाओं के विवरण देने का उनका कोई इरादा नहीं था। तथापि, यहाँ के लोगों के स्वाभाव, चरित्र, यहाँ की भूमि और जलवायु सम्बन्धी साधारण बातें, कभी-कभी उत्पादों के विवरण और भौतिक जीवन की आधारभूत बातों को बताने से वे चूकते नहीं हैं। भारतवर्ष आने वाले प्रमुख चीनी धर्मयात्रिओं में केवल चार मात्र - फा-श्येन्, सुंग-युन्, ह्वेई-सांग और श्वान् च्वाङ्ग् – मात्र की ओर हम यहाँ निर्देश करेंगे। इन चारों में भी भौतिक विवरणों की दृष्टि से श्वान्-च्वाङ्ग् ही हमारे लिए अधिक उपयोगी है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि वह इस कृति के विवेच्य-युग (हर्षपूर्व) का न होकर बाद का धर्मयात्री था, किन्तु इस तर्क में इस नाते कोई दम नहीं है कि उसके जो भी विवरण हैं, वे उसी के समय के लिए नहीं अपितु उसके समय से बहुत पूर्व से ही लागू माने जायेंगे। वास्तव में वह हमारे युग के प्रायः अन्त का ही माना जाना चाहिए। अतः उसके साक्ष्यों की ग्राह्यता हर्षपूर्व युग के अन्यान्य साक्ष्यों की अपेक्षा कम करके नहीं आँकी जा सकती। चूँकि उसके भौतिक विवरण सोद्देश्य न होकर एकदम आकस्मिक और परिचयात्मक हैं, उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

इन यात्रिओं में फा-श्येन् (३९९ ई. - ४१३-४१४ ई.) सबसे पहला था। किन्तु उसके भौतिक विवरण अत्यन्त ही सीमित हैं। थोड़ी बहुत बातें वह मध्यदेश मात्र की करता है। उसका मध्यदेश मथुरा के दक्षिण-पूर्व का बह विशाल क्षेत्र था, जो बिहार तक विस्तृत था। वही क्षेत्र उसकी दृष्टि में है। आर्थिक क्षेत्रों सहित शासन के सभी क्षेत्रों में वह राजकीय हस्तक्षेप की शून्यता से इतना अधिक प्रभावित था कि इसकी वह विशेष रूप से चर्चा करता है। वह कहता है – 'यहाँ की जलवायु कुछ गरम और सुखद है, जहाँ न तो बर्फ पड़ती है और न पाला। लोग बड़े सम्पन्न हैं। उन्हें न तो पथकर देने पड़ते हैं और न तो राजकीय नियन्त्रणों का ही सामना करना पड़ता है। जो राजकीय भूमि पर खेती करते हैं, उन्हें ही अपने लाभ का कुछ भाग राज्य को देना होता है। वे जहाँ जाना चाहते हैं, जाते हैं और जब रुकना चाहते हैं तो रुक जाते हैं।'' फा-श्येन् का यह विवरण आधुनिक राजनीतिशास्त्र के उस लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का एक जीवन्त उदाहरण है जिसमें कथित है कि 'वही सरकार सबसे श्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है।'

फा-श्येन् के बाद सुंग-युन् और ह्वेई-सांग नामक दो चीनी यात्री वेईवंशी चीनी रानी तै-हाऊँ के शासन काल में भारत पहुँचे थे। उनकी यात्राएँ उत्तरी भारत के केवल कुछ भागों मात्र तक सीमित थीं और वहाँ भी वे केवल तीन वर्षों (५१८-५२१ ई.) मात्र तक रहे।

उनकी लेखनी से हमें कोई भौतिक महत्त्व की जानकारी नहीं प्राप्त होती।

वास्तव में हमारे काम की कुछ बढ़ियाँ सूचनाएँ मात्र श्वान्-च्वाङ्ग् से प्राप्त होती हैं। भोज्य पदार्थों में गोरस और उससे बनायी हुई वस्तुओं के अतिरिक्त ईख के रस, रस से बनने वाले गुड़ और राब आदि का उल्लेख वह कई क्षेत्रों के बारे में करता है। साठ दिनों में पककर तैयार हो जाने वाले उस 'विचित्र धान' का भी वह उल्लेख पारियात्र[1] क्षेत्र की उत्पत्तियों के सम्बन्ध में करता है, जो अभी हाल तक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में साठा-साठी नाम से प्रसिद्ध था और अपनी मिठास के लिए बहुज्ञात था। पाटलिपुत्र के आस-पास उत्पन्न किये जाने वाले एक 'अत्यन्त ही मोहक, सुगन्धमय, लम्बे और बढ़िया दाने वाले धान-चावल' की प्रशंसा श्वान्-च्वाङ्ग् और फा-श्येन् दोनों ही करते हैं। श्वान्-च्वाङ्ग् कहता है – 'भूमि उपजाऊ और बढ़िया है तथा उत्पादों की अधिकता है। एक विचित्र प्रकार का धान यहाँ होता है, जिसके दाने लम्बे, सुस्वादु और बड़े ही खुशबूदार होते हैं। अपनी चमक और रंग के लिए वह बहुत ही विदित है। इसे बड़े आदमियों का चावल कहा जाता है।'[2]

देश के अन्यान्य नगरों, नगर-राजधानियों और बन्दरगाह नगरों की चर्चाओं के सिलसिले में श्वान्-च्वाङ्ग् ऐसी अनेक सूचनाएँ देता है जो बड़े व्यापारिक महत्त्व की हैं और उन नगरों की तत्कालीन सम्पन्नता और आर्थिक महत्त्व की द्योतक हैं। कन्नौज के बारे में वह कहता है – "बड़ी मात्रा में यहाँ बहुमूल्य व्यापारिक वस्तुएँ इकट्ठी हैं। लोग सम्पन्न और सन्तुष्ट हैं। उनके घर सम्पत्ति और सामानों से भरे हुए हैं। सब जगह फूल और फल बड़ी मात्रा में हैं। भूमि समय से बोयी और काटी जाती है। लोग पहनने के लिए अलंकृत और चमकदार कपड़े धारण करते हैं।" कन्नौज की इस सम्पन्नता के पीछे निश्चय ही वहाँ की प्रचुर उत्पत्ति और देश के भीतरी और बाहरी व्यापार से उसके जीवन्त सम्बन्ध ही प्रमुख कारण रहे होंगे। इसी प्रकार वाराणसी नगर "बहुत ही अधिक संख्या वाला, अलभ्य और बहुमूल्य वस्तुओं से भरे हुए घरों वाला एवं असीम सम्पत्तियुक्त था।" उज्जैन की "जनसंख्या घनी" और "लोग धनी थे।" वहाँ के लोगों के ढंग और व्यवहार को वह सुराष्ट्र के लोगों के ढंग और व्यवहार की तरह बताता है, जो "पश्चिम" की ओर जाने वाले समुद्री मार्ग पर स्थित था" और वहाँ के "सभी निवासी समुद्र से ही अपनी जीविका चलाते" थे और "व्यापार द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय का काम करते थे।"

समुद्र के किनारों पर बसे हुए अनेक नगरों की व्यापारिक सुख-समृद्धि का वर्णन वह निरपवाद रूप से करता है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय भी भारतवर्ष के विदेशों से व्यापार-सम्बन्ध पूरी तरह कायम थे। उसी कारण विभिन्न समुद्री नगरों की सुख-समृद्धि में

---

(१) इस सम्बन्ध में देखें – विशुद्धानन्द पाठक, पाँचवी-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृ. १७५।

(२) ये और आगे के सभी अर्द्ध विरामाश्रित उद्धरण सैम्युअल् बील के सि-यू-कि के अंग्रेजी अनुवाद 'रेलिजस रेकार्डस् ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड' से लिये गये हैं और सम्बद्ध स्थलों से मिलाये जा सकते हैं। इनका एक समाहार लेखक की कृति 'पाँचवी-सातवीं शताब्दियों का भारत-चीनी धर्मयात्रिओं की दृष्टि', इलाहाबाद, १९९१ में प्राप्य है।

कोई कमी नहीं आयी थी। अधिकांशतः ये नगर दक्षिणी और पश्चिमी भारत में बसे हुए थे। किन्तु दक्षिण-पूर्वी तट का ताम्रलिप्ति नगर भी उसी कोटि में आता है, जहाँ के निवासी "विभिन्न देशों से बहुमूल्य वस्तुओं एवं रत्नों के वहाँ इकट्ठे होने के कारण प्रायः बहुत ही धन सम्पन्न थे।" यही स्थिति ओड्र (उड़ीसा) के तट पर बसे हुए चरित्र नामक नगर की भी थी। दक्षिण में काञ्ची की भूमि की उर्वरता और वहाँ प्राप्त होने वाली "बहुमूल्य रत्नों और अन्य वस्तुओं" का वह प्रशंसात्मक उल्लेख करता है। मलकूट (मलयकूट अथवा मलयगिरि) की भूमि तो बहुत उपजाऊ नहीं थी किन्तु "पास पड़ने वाले छोटे-छोटे द्वीपों में जो भी बहुमूल्य वस्तुएँ इकट्ठी की जाती थीं, वे वहाँ लायी जाती थीं और उनके स्वरूप तथा मूल्य पर वहाँ ही विचार किया जाता था।" स्पष्ट है कि यह स्थान व्यापारिओं तथा जौहरिओं के बाजार जैसा था जहाँ विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं, विशेषतः रत्नों, के भाव और मूल्य तय किये जाते थे। वहाँ से वे अवश्य ही देश के भीतरी भागों में भेजी जाती रही होंगी और विदेशों को भी जाती होंगी। बहुमूल्य पत्थरों और रत्नों का काम करने वाले शिल्पी वहाँ अवश्य ही रहे होंगे। इसी प्रकार श्वान्-च्वाङ्ग् मलयगिरि के चन्दनों की भी बड़ी प्रशंसा करता है जो निश्चय ही देश के भीतर अन्य स्थानों को तथा पश्चिमी देशों को निर्यात किये जाते रहे होंगे।

मालवा के दक्षिण-पश्चिम में एक समुद्री खाड़ी थी। वहाँ से २४००-२५०० ली उत्तर-पश्चिम में अटलि नामक एक व्यापारिक नगर को वह "घनी आबादी वाला तथा रत्नों और बहुमूल्य वस्तुओं से भरपूर" बताता है। बलभी में "एक सौ ऐसे परिवार थे, जिनके पास करोड़ों की सम्पत्ति" थी और "दूर-दूर से वस्तुएँ लायी जाकर वहाँ इकट्ठी की जाती थीं।" स्पष्ट है वह नगर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक केन्द्र था।

नमूनों के स्वरूप में चीनी धर्मयात्रिओं के भारतीय भौतिक जीवन से सम्बद्ध ये उल्लेख तत्कालीन भारत की साधारण सुख-समृद्धि के परिचायक हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अभी भी समुद्र यात्राएँ त्याज्य नहीं समझी जाती थीं।

०००

चौथा अध्याय

पुरातात्त्विक पृष्ठभूमि

भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक भारतीय पुरातत्त्व प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के समन्वेषण (एक्स्प्लोरेशन्) और संरक्षण मात्र तक सीमित था। हड़प्पा-मोहेञ्जोदाड़ो और तक्षशिला की खुदाइयाँ अपवाद मात्र थीं। १८६७ ई. में सर अलेक्ज़ैण्डर कनिंघम् भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के प्रधान सर्वेक्षक (सरवेयर जनरल) और कुछ ही वर्षों बाद (१८७० ई.) उसके प्रधान निदेशक (डाइरेक्टर जनरल) नियुक्त किये गये। उनका सर्वप्रमुख कार्य था गंगा घाटी तथा मध्यभारतीय पठार के पुरातात्त्विक महत्त्व के उन अनेकानेक स्थानों की खोज और पहचान, जिन्हें आधुनिक पुरातात्त्विक शब्दावली में ऐतिहासिक पुरातत्त्व के युग का स्वीकार किया जाता है। किन्तु १९२०-२१ में हड़प्पा और १९२१-२२ में मोहेञ्जोदाड़ो की खोज और खुदाइयों के पूर्व भारत में उत्खनन की कोई विशेष प्रक्रियाएँ प्रारम्भ नहीं हुई थीं। १९४४ ई. में सर मार्टिमर ह्वीलर के भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के प्रधान निदेशक के रूप में नियुक्ति के साथ इस विभाग में एक नयी गतिशीलता आयी। उनकी सबसे बड़ी देन थी भारतीय पुरातत्त्वज्ञों की एक नयी पीढ़ी का खुदाई की विधा में प्रशिक्षण। उन्होंने ही सर्वप्रथम उत्खनन में स्तरण के महत्त्व को आँका। उनके नेतृत्त्व में तक्षशिला, हड़प्पा, ब्रह्मगिरि और अरिकामेडु की खुदाइयाँ भी हुईं। भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हीं की संस्तुति से भारतीय विश्वविद्यालयों को उत्खनन कार्य का उत्तरदायित्त्व सौंपा जाने लगा। समय की दृष्टि से प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रोफेसर गोवर्धन राय शर्मा के नेतृत्त्व में कौशाम्बी का उत्खनन इनमें सबसे पहला था, जिसकी पूरी जिम्मेदारी एक भारतीय विद्वान् को सौंपी गयी। इस पथसर्जक पग के बाद तो कुछ ही वर्षों के भीतर कदाचित् ही कोई प्रमुख विश्वविद्यालयीय प्राचीन भारतीय इतिहास का विभाग बचा, जिसने भारतीय इतिहास के उद्घाटन में उत्खननों द्वारा अपना योगदान न दिया हो। सम्प्रति इस प्रक्रिया ने मानों एक शैक्षणिक आन्दोलन का रूप जैसा धारण कर लिया है।

इन खुदाइयों के परिणामस्वरूप प्रागैतिहासिक और आद्यैतिहासिक काल से ऐतिहासिक काल तक की ऐसी अनेक संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो हमारे इतिहास के अध्ययन के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन ला चुका हैं तथा उसे एक नयी दिशा दे रहा है। परिणामतः, पुरातात्त्विक उत्खननों से प्राप्त वस्तुओं की पीठिका में इतिहास के साहित्यिक स्रोतों के तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हो चुके हैं। इस प्रक्रिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान आर्थिक इतिहास के अध्ययन क्षेत्र में हुए हैं। फलस्वरूप भारतीय इतिहास के अध्ययन की विधा में कुछ नयी पद्धतियों का समावेश हुआ है।

सम्प्रति पुरातत्त्व-विधा का संयोजन भौतिकीशास्त्र की कुछ वैज्ञानिक खोज पद्धतियों से स्थापित हो जाने के कारण तिथि-निश्चय बहुत ही पक्के रूप में होने लगा है। इस सम्बन्ध

में रेडियो कार्बन् १४ तिथिकरण की पद्धति से उत्खनन से प्राप्त प्राचीन अनेक वस्तुओं की वास्तविक आयु के निश्चयीकरण में बम्बई (टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल् रिसर्च) और अहमदाबाद (नेशनल फिजिकल् रिसर्च लेबोरेटरी) का पुरातत्त्वज्ञों को प्राप्त होने वाला सहयोग एक बहुत बड़ा वरदान साबित हुआ है। इस पद्धति से अब तक एक हजार से अधिक ही कार्बन् तिथिओं का निश्चय किया जा चुका है। यद्यपि इस बात की यत्र-तत्र सम्भावनाएँ हो सकती हैं कि प्राप्तियों के मनुष्य के हाथों से छू जाने तथा मिट्टी आदि से आच्छादित रहने जैसी कुछ परिस्थितियों के कारण उनकी कार्बन् १४ तिथियों के निकालने में इधर-उधर कुछ १००-५० वर्षों के अन्तर आ जाँय, तथापि उनकी सामान्य विश्वसनीयता स्वीकृत है। इस प्रक्रिया से तिथि-निर्धारण के कारण भारतीय सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास के विकास के अध्ययन को एक तैथिक आधार प्राप्त हुआ है। किन्तु यहाँ यह इङ्गित करना आवश्यक है कि अब भी इन पुरातात्त्विक अध्ययनों में अधिकांश का विशेष झुकाव प्रायः नूतनपाषाण और ताम्राश्म पुरैतिहासिक संस्कृतियों के उद्घाटन की ओर ही दिखायी देता है। आद्यैतिहासिक और ऐतिहासिक युग के उद्घाटन पर अपेक्षाकृत कम ही ध्यान दिया गया है।

अभी हाल तक यह स्वीकार किया जाता था कि भारतवर्ष में नूतन पाषाण युग का प्रारम्भ २५०० ई.पू. के आस-पास हुआ था। किन्तु राजस्थान की साम्भर झील की भूमि परतों के जमाव के विश्लेषण एवं उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों से प्राप्त नूतनपाषाणीय सामग्री से यह निश्चय सा हो चुका है कि कुछ भारतीय क्षेत्रों में इस युग का प्रारम्भ ५वीं-७वीं सहस्राब्दी ईसा पूर्व में हो चुका था। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की बेलनघाटी की खुदाई से यह स्पष्ट हो चुका है। ५०००-७००० ईसा पूर्व के आस-पास वहाँ जंगली धान (नीवाड़ अथवा तिन्ना) के अतिरिक्त कृषि द्वारा बढ़ियाँ धान उत्पन्न किया जाता था।[1] इसी समय के आसपास के फार्मोसा और स्याम में भी धान की कृषि के पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त हुए हैं। ये ऐसी खोजें हैं जो कृषि के इतिहास का अध्ययन करने वाले सिद्धान्तों की उस बद्धमूल भावना को चुनौती देती हैं कि धान की सर्वप्रथम खेती हित्ती सभ्यता को देन थी।[2]

ईसापूर्व की तीसरी सहस्राब्दी में सिन्धुघाटी में नगरीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष को छू रही थी। इस संस्कृति की विशेषताएँ थीं – दुर्गनुमा नगरों का सुनियोजित और चित्राधारित निर्माण; उनकी सड़कें तथा गलियाँ; पानी के निकास की ऊपरी और भीतरजमीनी प्रणालियों की संयोजना; मकानों के भीतर के आँगन; मुख्य सड़कों के बजाय गलियों में खुलने वाले खिड़कीहीन मकान; विशाल स्नानागार, खलिहान और हवादानों से युक्त अन्नकोठार जैसी सामुदायिक सुविधाएँ।

चूँकि इस संस्कृति का प्रथम उत्खनित स्थान हड़प्पा था, इसे हड़प्पा संस्कृति के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस विशाल आयत्त वाली संस्कृति के विभिन्न स्थानों की

(१) देखें, गो.रा. शर्मा, भारतीय संस्कृति के पुरातात्त्विक आधार। लेखक की मृत्यु के बाद बीरवल साहनी इन्स्टीट्यूट ऑफ पैलियोबॉटनी, लखनऊ ने कार्बन १४ तिथिकरण द्वारा वहाँ से प्राप्त धान को ६००० ई.पू. का बताया। देखें, हिन्दुस्तान टाइम्स, १३ जून, १९८६।

(२) डार्लिंग्टन् का धर्मपाल अग्रवाल द्वारा उद्धरण, आर्कैयालॉजी ऑफ इण्डिया, पृ. ६१।

प्राप्तियों में नाप-तौल प्रणाली, नगरनियोजन, मृद्भाण्ड, वास्तु तथा अन्य कलात्मक और शिल्पसम्बन्धी एक विस्मयकारी एकरूपता है। किन्तु इसके बारे में अब भी यह निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता कि क्या यह किसी साम्राज्य की प्रतीकसंस्कृति थी अथवा व्यापारिक क्रियाकलापों के अत्यन्त अधिक फैलाव के क्षेत्र की कोई प्रतिनिधि संस्कृति थी। तृतीय सहस्राब्दी ई.पू. में इस प्रकार की एकरूपता कुछ विशेष ही महत्त्व रखती है। यद्यपि अभी हाल के कुछ अध्ययनों से इनके कुछ पारस्परिक भेद भी दिखायी देते हैं।

हड़प्पा संस्कृति के प्रमुख क्षेत्र पश्चिम में मकरान, पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले तथा पंजाब के माण्टोगोमरी जिले, अल्लाहदीनो (कराँची से २५ कि.मी. पूर्व), कालीबंगन् (राजस्थान के गंगानगर जिले में प्राचीन सरस्वती (आधुनिक घग्घर) नदी के किनारे), लोथल (गुजरात में अहमदाबाद से ८० कि.मी. दक्षिण-पूर्व खम्भात की खाड़ी के मुहाने पर), भगतरव (दक्षिणी गुजरात), पूर्वी पंजाब में रोपड़ और उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर तक फैले हुए हैं। इन स्थानों की खुदाइयों से नित्यप्रति के उपयोग में आने वाले धातुनिर्मित औजार तो मिले हैं, किन्तु युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्रों का अभाव है। दो नर्तक बालाओं की आकृतियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी धातुनिर्मित मानवाकृति अथवा देवाकृति नहीं प्राप्त हुई है। जो कलात्मक उपयोग की वस्तुएँ प्राप्त हैं वे प्रायः उपयोगी किस्म की ही हैं। किन्तु धातुनिर्मित वर्तन और कड़ाहियाँ प्रचुर रूप में मिली हैं। खिलौने जैसे ताँबे के बने कुत्तों तथा बत्तख एवं हाथी और बैलों की आकृतियाँ भी मिली हैं। इस संस्कृति के लोगों को मिश्रित धातुओं का ज्ञान था, जिनमें सर्वाधिक प्रचलित कांसा था।

हड़प्पा संस्कृति के लोगों का किन्हीं बाहरी देशों से व्यापार होता था या नहीं, यह विषय विवादास्पद है। प्राचीन मेसोपोटामियाँ के लिखित साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दिलमुन, मगन और मेलुहा से मेसोपोटामियाँ का एक जीवन्त व्यापारिक सम्बन्ध था। उपर्युक्त व्यापारिक केन्द्रों के माध्यम से सिन्धुघाटी के लोगों का मेसोपोटामियाँ से अप्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध था, इस बात की अत्यन्त अधिक सम्भावना है। इसका प्रमाण यह है कि दिलमुन (तुरांत, बहरीन और कुवैत) और मेसोपोटामियाँ में वैसी ही बाटपद्धति का प्रचलन था जैसी हड़प्पा के क्षेत्रों में था। दिलमुन से फारस की खाड़ी के क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली एक ऐसी मुहर प्राप्त हुई है जिसका प्रकार लोथल के ऊपरी सतहों से भी मिला है। हड़प्पायी लोगों के व्यापार का दिलमुन के अतिरिक्त एक अन्य केन्द्र मगन या मकन था, जिसकी समता विभिन्न विद्वानों द्वारा अबूधाबी के अम्मान-नर अथवा तिज् (चहबहर) अथवा ईरान के शहर-ए खोस्ता से अलग-अलग की गयी है। गेल्ब ने इसकी पहचान फारस की खाड़ी और अरब समुद्र के दक्षिणी किनारे पर स्थित किसी स्थान से की है। पुनः हड़प्पायी व्यापार का एक तीसरा लक्ष्य केन्द्र था मेलुहा, जिसकी पहचान इतनी विवादास्पद है कि उसके बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। सम्भवतः मेलुहा मेसोपोटामियाँ के पूर्व में पड़ने वाले उस सम्पूर्ण क्षेत्र को ही कहा जाता था जो सिन्धुघाटी तक विस्तृत था। हड़प्पायी लोग दिलमुन, मगन और मेलुहा अपनी व्यापारिक वस्तुएँ भेजते थे और पुनः वे वहाँ से मेसोपोटामियाँ भेजी जाती थीं। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में अनेक प्रकार की इमारती

लकड़ियाँ, ताँबा, स्वर्णधूलि, चाँदी, आबनूस, हाथीदाँत की बनी बन्दरों और पक्षियों की आकृतियाँ, लाल पत्थर तथा अन्य प्रकार के बहुमूल्य पत्थर हुआ करते थे।

इस संस्कृति तथा कुछ अन्य नूतन पाषाणकालीन स्थानों से जो अन्नों के प्रमाण मिले हैं, वे निम्नवत् हैं –

गेहूँ

मोहेञ्जोदाड़ो, चहनुदाड़ो, हड़प्पा, इनामगाँव (पूना के पास) और नवदाटोली (मध्य प्रदेश)।

जौ

मोहेञ्जोदाड़ो, हड़प्पा, कालीबंगन् (राजस्थान - गंगानगर जिला), चिराँद (बिहार), इनामगाँव और नवदाटोली।

धान

लोथल (खम्भात की खाड़ी के पास), कालीबंगन्, चिराँद, आहाड़ (राजस्थान), पाण्डुराजारधीवी और महिषयल (पश्चिमी बंगाल)।

शमी

हल्लूर (कर्नाटक) और पैय्यमवल्ली (तमिलनाडु) की नूतन पाषाणकालीन सतहों से (१५०० ई.पू.)।

बाजरा

हल्लूर (१००० ई.पू.) और रंगपुर तृतीय (गुजरात - १००० ई.पू.)।

ज्वार

इनामगाँव (१५०० ई.पू.)।

मटर–मसूर–चना

चिराँद, इनामगाँव और नवदाटोली की नूतन पाषाणकालीन सतहों से मटर और मसूर के तथा चिराँद और तेक्कलकोट (कर्नाटक) से चने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

अद्यतन खुदाइयों से उभरी हुई सम्पूर्ण आर्थिक संस्कृति का विवरण न तो यहाँ सम्भव है और न आवश्यक ही। परन्तु कुछ विशेष स्थानों और दिशाओं में हुए उत्खननों से उद्घाटित तत्त्वों का एक मोटा-मोटी स्वरूप तो उपस्थित ही किया जाना चाहिए।

इस दिशा में १९५८ में सुब्बाराव ने अपने ग्रन्थ **दि परसोनैलिटी ऑफ इण्डिया** में साहित्य और पुरातत्त्व के गठबन्धन की प्रक्रिया का पहला प्रयास किया। उनका प्रमुख सिद्धान्त यह था कि पारिस्थितिकी को समझे बिना हम ऐतिहासिक क्रम का सही अध्ययन नहीं कर सकते। इस पारिस्थितिकी की दृष्टि से उन्होंने भारतवर्ष के कुछ क्षेत्र विभाजन

बताये जो इतिहास के चरणों में न्यूनाधिक मात्रा में मानव संस्कृति के आकर्षण केन्द्र रहे। तदनुसार, पाकिस्तानी-ईरानी सीमा क्षेत्र, सिन्ध, पंजाब और राजस्थानी क्षेत्र, दोआब क्षेत्र और मध्यवर्ती पठार की गिनती उन्होंनें विभिन्न क्षेत्रों के रूप में की। किन्तु उनका यह आकर्षक सिद्धान्त एक प्रकार से अजातमृत्यु की स्थिति में ही समाप्त हो गया। उसके विपरीत धर्मानन्द कोसाम्बी ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों – **दि मिथ एण्ड रियलिटी** (१९६२) और **दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ इण्डिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन** (१९७०) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इतिहास का सही अध्ययन जीवनयापन और उत्पादन (प्रोडक्शन) की तकनीकों के विकास के चरणक्रमों की सही जानकारी के आयाम में ही किया जा सकता है। इसी क्रम में उन्होंने **जर्नल ऑफ इकॉनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ ओरियण्ट**, ज़िल्द ६(१९६३) में एक बहुप्रसिद्ध लेख 'दि बिगिनिङ्ग ऑफ आइरन एज इन इण्डिया' भी लिखा और भारतीय इतिहास और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में लौह-प्रयोग के युगान्तरकारी स्वरूप की चर्चा की। भारतीय इतिहास की भौतिकवादी व्याख्याओं में यह एक प्रमुख सिद्धान्त है, जिसके गुणत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। धीरे-धीरे इस प्रकार की व्याख्याएँ बहुत प्रचलित हो चुकी हैं और परम्परावादी व्याख्याता भी इससे किसी न किसी मात्रा में प्रभावित हैं। सम्प्रति इस पद्धति के सर्वप्रमुख विचारक प्रोफेसर रामशरण शर्मा हैं। उनकी दो कृतियाँ **लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानॉमी** (१९६३) तथा **मैटिरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया** (१९८३) भारतीय आर्थिक और सामाजिक इतिहास की पुरातात्त्विक व्याख्या की प्रमुख उदाहरण हैं। इन पथस्रष्टा कृतियों की छाप अब प्राचीन भारतीय इतिहास की अनेक पुस्तकों में स्पष्टरूप से दिखायी देने लगी है। पुरातात्त्विक प्राप्तियों के आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन का जो आयाम उन्होंने उपस्थित किया है वह कदाचित् किसी अन्य लेखनी से अब तक नहीं प्राप्त हो सका है। इस क्रम में उनकी नवीनतम कृति है – **अर्बन् डिके इन् इण्डिया** (३००-१२०० ई.), जिसमें १३० से कुछ अधिक ही नगरों के प्रारम्भ, विकास और अवनति का उन्होंने एक शुद्ध पुरातत्त्वाधारित और यदाकदा साहित्यसन्तुलित अध्ययन उपस्थित किया है।

अतः प्रोफेसर शर्मा के उद्भावक सिद्धान्तों का एक समाहार देना यहाँ समीचीन प्रतीत होता है। तदनुसार, अधिशेष (सरप्लस्) के आधार पर वर्ग-व्यवस्था और वर्ग-स्वरूपीकरण से सम्बद्ध उत्पादों के तरीकों और तकनीकों का अध्ययन ही इतिहास के अध्ययन का कार्यकारी प्रमेयक अथवा उपकल्पक (हाइपॉथिसिस) है तथा इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण में वर्णव्यवस्था का अन्तरबोध ही प्रमुख तन्तु है। इस प्रकार के अध्ययन में पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में उत्पादों के मूल कारकों को आधार कहा जाता है जिनसे सभी मानव-क्रियाएँ प्रभावित होती हैं और सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनों को अधिरचनात्मक ठाट की संज्ञा दी जाती है जो उत्पाद के तरीकों में परिवर्तन, नवीनीकरण अथवा परिष्कार भी लाते रहते हैं। सामाजिक विकास की चरम अवस्था में वर्ग और राज्य का आविर्भाव होता है। कृषि पर आधृत अन्नोत्पादन की समुन्नत तकनीकों और विशेष शिल्पों का जब बहुत ही अधिक प्रयोग प्रारम्भ होता है तब कृषक इतना अधिक अन्न उत्पन्न करने लगता है कि वह उससे मात्र अपना भरण-पोषण ही नहीं करता अपितु शासक, पुरोहित, पण्डित,

युद्धवृत्ति में लगे हुए सैनिक तथा शासक की राजधानी के सभी निवासी एवं व्यापारी तथा शिल्पीजन भी उसके उत्पाद से ही अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। दुनियाँ की अनेक पुरानी संस्कृतियों में राज्य और नगरीय जीवन का प्रारम्भ प्रायः एक साथ हुआ। वैदिक और वैदिक पश्चात् युग में उत्पादन के तरीकों के परिवर्तन के कारण अनेक प्रकार के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। उन्होंने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि उत्तरवैदिक ग्रन्थों के आर्थिक सन्दर्भों को उत्खननों द्वारा प्राप्त लौह-आधृत चित्रित धूसर मृद्भाण्डों की संस्कृति से समीकृत किया जाना चाहिए। उनके अनुसार, उन दोनों के क्षेत्र और युग एक ही थे। इसी पद्धति से उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात आर्थिक परिवेश का तादात्म्य उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्डों के युग और क्षेत्रों से किया है जो गंगाघाटी की विशेषता थी। इसी प्रकार पुरातत्त्व और साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति द्वारा प्राचीन भारतीय सामाजिक विकास और संगठन की भी व्याख्याएँ की गयी हैं। किन्तु साथ ही यह भी कथित है कि पुरातात्त्विक स्तरण एवं साहित्यिक स्तरण का कोई सही-सही मेल न बैठ पाने के कारण विकास के चरणों की सही-सही निश्चितता का निर्धारण करना कठिन है। तथापि उनका यह निष्कर्ष है कि उत्तरवैदिक संहिताओं एवं चित्रित धूसर मृद्भाण्डों का युग लगभग ५०० वर्षों तक के विस्तार का था। इस युग के अन्त में लौह-उपकरणों का प्रयोग गंगाघाटी के ऊपरी काँठों में होने लगा था तथा उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्डों के युग में वे मध्य गंगा घाटी में भी प्रयुक्त होने लगे थे।

उनके निष्कर्षों के समाहार यह बताते हैं कि ऋग्वैदिक युग के साहित्यिक साक्ष्यों से मेल बिठाये जा सकने वाले कोई भी पुरातात्त्विक साक्ष्य अभी हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं। ऋग्वेद की भौगोलिक परिधि – पंजाब-पाकिस्तान और अफगानिस्तान के कुछ भागों में हड़प्पा संस्कृति के अन्त और चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के युग के पूर्व का जो बीच वाला युग था उससे सम्बद्ध पुरातात्त्विक प्राप्तियों की कमी है। लौहप्रयोग से हीन जो कुछ पुरावशेष वहाँ से प्राप्त भी है, उनका ऋग्वैदिक गोचारक और पशुपालक जीवन से कोई तादात्म्य नहीं है। किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ऋग्वैदिक लोग कबायली अवस्था से आगे नहीं बढ़ सके थे। १०००-५०० ई.पू. के उत्तर वैदिक काल में आर्यजन पूर्व और दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ते हुए हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान तक पहुँच गये और लोहे का प्रयोग उनमें प्रारम्भ हो गया। उन्हीं की संस्कृति चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति[1] थी। उत्तरी भारत में प्रमुखतया युद्ध और शिकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोहे का प्रयोग लगभग १००० ई.पू. के आसपास प्रारम्भ हो गया था। इस समय का समाज मुख्यतः कृषि पर आधारित और स्थायी निवासों में बैठकी का आदी हो चुका था। किन्तु अभी शहरों का विकास (द्वितीय नगरीकरण) प्रारम्भ नहीं हुआ था। लौह उपकरणों और चित्रित धूसर मृद्भाण्डों का समन्वय इस बात की ओर निर्देश करता है कि कृषि का विकास तेजी से हो रहा था और दो-तीन शताब्दियों के भीतर ही गंगा-घाटी में गाँव ही गाँव बस गये। किन्तु अब भी लोहे का प्रयोग प्रायः युद्ध, शिकार और शत्रुदमन के लिए ही अधिकांशतः होता था

---

(१) डॉ. विभा त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'दि पेण्टेड ग्रे वेदर - ऐन आयरन एज कल्चर ऑफ नार्दन इण्डिया' में इस संस्कृति के स्थानों की एक लम्बी सूची दी है। देखिए परिशिष्ट १।

और शिल्प, उद्योग, जंगलों की सफाई तथा कृषि उपकरणों के रूप में उनका उपयोग अत्यल्प ही था। उत्तर वैदिक युग में धातुनिर्मित सिक्कों के भी प्रचलन के प्रमाण नहीं हैं।

प्रारम्भ में कृषि लकड़ी के फालों वाले हलों तक ही सीमित थी और यज्ञों में अनगिनत पशुओं के काटे जाने से उनका प्रयोग भी सीमित था। किन्तु मध्य चित्रित धूसर मृद्भाण्ड युग में खेती के उपकरणों और शिल्प एवं उद्योगों में लोहे के प्रयोग बढ़ गये। ५०० ई.पू. के आस-पास चाँदी के ठप्पेदार सिक्कों का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया जिनसे शहरीकरण की प्रक्रिया को बल मिला तथा व्यापार और व्यापारिओं की वृद्धि हुई। लोहे के फालों वाले हलों को खींचने के लिए स्वस्थ बैलों को अधिक संख्या में रखने की आवश्यकता दिखायी दी और गोबध वर्जित होने लगा। इसी पृष्ठभूमि में बौद्ध साहित्य में पशुहिंसा के विरोध के विवरणों को समझा जाना चाहिए। ३०० ई.पू. के आस-पास हड़प्पा संस्कृति की तरह गंगाघाटी में भी पकायी हुई ईंटें तथा उनसे बने गोल कुएँ ओर नगरी भवन प्राप्त होने लगते हैं। सूद पर रुपया चलाना, कर्ज को चुकाने की अनिवार्यता और व्यापार के क्षेत्र की अनिवार्यताओं को बौद्ध साहित्य अपनी पूरी स्वीकृति देता है, जो ब्राम्हणों की दृष्टि में निन्ध थे। इस प्रकार वैदिक और बौद्ध साहित्य तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों के समवेत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि धीरे-धीरे पहले की अपेक्षा ज्यों-ज्यों आर्य लोग आगे पूरब और दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में बढ़ते गये उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक विकसित, नयी तकनीकों से सम्पन्न, लौह धातु के बने सिक्कों के प्रचलन और शिल्प, व्यापार, उद्योग एवं कृषि के विकास के कारण अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न, अधिशेषयुक्त, वर्गीकृत, स्थायी तथा नगरों और ग्रामों के संकुलों से युक्त होता गया। सिंहभूम और मानभूम के आस-पास से प्राप्त होने वाले लौह खनिज की सुलभता के कारण बिहार का गांगेय क्षेत्र संस्कृति का प्रमुख केन्द्र हो गया। तिथि की दृष्टि से यह युग ३०० ई.पू. के दानें ओर स्वीकार किया जाना चाहिए।

प्राचीन भारतीय नगरों और नागरजीवन पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। किन्तु अधिकांशतः वह साहित्याधारित ही रहा है। सिन्धुघाटी की प्रागैतिहासिक संस्कृति वाले नगरों मात्र के अध्ययन पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर आधृत थे। वास्तव में उसकी लिपि के अब तक सही और सर्वमान्य रूप में न पढ़े जा सकने के कारण उसके अध्ययन का कोई साहित्यिक आधार भी नहीं था। ऐतिहासिक कालीन नगरों के जीवन के अध्ययन प्रथमतः प्रमुख रूप से साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से ही उपस्थित किये गये। किन्तु इधर अनेक ऐतिहासिक कालीन प्राचीन नगरों की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके भी पुरातत्त्वाधारित अध्ययन प्रारम्भ हो चुके हैं और सम्बन्धित पुरातात्त्विक साक्ष्यों की गहराई से छानबीन की जाने लगी है।[1]

तथापि कठिनाई यह है कि अब भी इन खुदाइयों के परिणाम अधिकांशतः या तो उत्खनकों की रिपोर्टों तक सीमित हैं, अथवा जहाँ प्रकाशित भी हुए हैं, वहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में। कई स्थानों के उत्खनन के परिणाम लिखित रूप में तो अभी सामने ही नहीं आये

---

(१) देखें, यज्ञदत्त शर्मा, एक्सप्लोरेशन् ऑफ हिस्टारिकल साइट्स, ऐंशियेण्ट इण्डिया, १९५३; अमलानन्द घोष, दि सिटी इन् अर्ली हिस्टॉरिकल् इण्डिया, १९७३।

हैं। केवल उनकी सूचनाएँ मात्र प्राप्त हुई हैं। विवश होकर उत्खनकों की जवानी जो ज्ञात हो जाय उसी से सन्तोष करना पड़ता है। एक दूसरा पहलू यह है कि अधिकांशतः ये खुदाइयाँ उद्धर्वरेखी पद्धति (वर्टिकल) से की गयी हैं। मोहेञ्जोदाड़ो, राजघाट (वाराणसी), कौशाम्बी, मोहेञ्जोदाड़ो, वैशाली, हस्तिनापुर, श्रावस्ती और कुम्रहार जैसे कुछ ही स्थान ऐसे रहे हैं जिनमें छोर से छोर तक (हॉरीजॉण्टल) खुदाई की पद्धति अपनायी गयी हैं। उद्धर्वरेखी खुदाइयों का एक परिणाम यह होता है कि प्राप्त होने वाली वस्तुएँ प्रतिनिधि मात्र होती हैं और उनसे खुदाई वाले स्थान की समग्र पहचान नहीं हो पाती। तथापि ऐतिहासिक काल के लगभग १५० नगरों के उत्खनन सम्पन्न हो चुके हैं, जिनके फलस्वरूप पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर नगर निर्माण, नगर जीवन, उनकी कलात्मक, औद्योगिक, व्यापारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि, उनके धातुकीय और मौद्रिक आधार, उनके उदय, विकास और पतनक्रम तथा इन सबके समवेत आधार पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के चरणक्रमों का एक प्रकार से पुनर्निर्धारण सा किया जाने लगा है। नगरों के प्राचीन स्वरूपों के उद्घाटन में आर्थिक आधार को सामने रखकर की जाने वाली सर्वप्रथम खुदाई-प्रक्रिया को प्रारम्भ करने का श्रेय कदाचित् ह्वीलर को ही जाता है। अरिकामेडु की खुदाई में उन्होंने वहाँ व्यापार के सिलसिले में आये रोमक सिक्कों को खोज निकालने पर जोर दिया। आगे उनके शिष्यों ने इस विशेषता को कायम रखा और अब जितने भी ऐतिहासिक नगर जमीन के गर्भ से बाहर निकाले जा चुके हैं, उनके प्रारम्भ, विकास और अन्त का क्रम साफ-साफ दिखायी देता है। यहाँ प्रो. रा.श. शर्मा का उल्लेख पुनः आवश्यक हो जाता है। वास्तव में एक पुरातात्त्विक उत्खनक न होते हुए भी उन्होंने उत्खनकों के फावड़ों से प्राप्त विविध स्थानों की विविध सामग्री का जो समग्र, पैना और बेजोड़ उपयोग किया है, उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। उनके क्रमिक निष्कर्षों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न पक्षों के पठन-पाठन की अब तक जो सनातनधर्मी पद्धति रही है उसे पूरी तरह हिलाने वाला मानों एक आर्यसमाजी चिन्तक उपस्थित हो गया है।

उनका निष्कर्ष है कि पूर्वमध्यकालीन कृषिपरक न होने वाली बस्तियों से जिन पुरावशेषों और मानव कलाकृतियों की प्राप्ति हुई है उनकी तुलना यदि अन्य प्राचीन कालीन बस्तियों की प्राप्तियों से की जाय तो उनसे प्रतीत होगा कि धीरे-धीरे सामन्ती और धार्मिक प्रवृत्तियों के पदार्पण होने लगे थे। उन्होंने "नगरीय ह्रास को कृषि विस्तार से प्रभावित उत्पाद के नये तरीकों के साथ एक अभेदपरक रूप" में देखा है। "इस नये संगठन में राजकीय अधिकारिओं और करसंग्राहकों के स्थान पर भूमि के बड़े-बड़े मालिक (जमींदार), सामन्त, ब्राह्मण, मठ और मन्दिरों जैसे नये तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं जो किसानों और शिल्पिओं से स्वयं प्रत्यक्षरूप में अधिशेष सेवाएँ और वस्तुएँ वसूलते हैं। फलतः मौद्रिक विनिमय पर आधारित अर्थतन्त्र के चलते रहने का कोई स्थान नहीं रह जाता और नगरीय क्रियाकलापों का भी अन्त हो जाता है। राज्य के अवयवों पर जमींदारों का प्रभुत्त्व स्थापित हो जाता है, जो लघु सामन्तों की क्रमशः छोटी होती जाने वाली अनेक सरणियों को जन्म देते हुए विभेदीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देते हैं।"

चित्रित धूसर मृद्भाण्डों की विभिन्न स्थानों की प्राप्ति के आधार पर डॉ. विभा त्रिपाठी ने उन बस्तियों के आयत्त का एक चित्र खींचा है।[1] तदनुसार, "प्रायः ये बस्तियाँ नदियों के किनारे थीं। कुछ नदियाँ तो आज भी वहीं बहती हैं, जहाँ वे प्राचीन काल में थीं जैसे यमुना की सहायक हिन्डन्। किन्तु कई अन्य नदियों ने अपना बहाव मार्ग बदल दिया है। उदाहरण के लिए हस्तिनापुर से अब नदी पाँच मील की दूरी पर है। बीकानेर जिले में सरस्वती और दृषद्वती के सूखे पेटों में घोष ने और सतलज के पेटे में के.एन्. दीक्षित ने जो खुदाइयाँ की हैं उनसे भी यह ज्ञात होता है कि उन नदियों के किनारे अनेक चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्थान बसे हुए थे।"

"इन लोगों ने पहाड़ी क्षेत्रों को नहीं पसन्द किया जैसा कि सिन्ध और बलूचिस्तान के प्राक् हड़प्पायी अथवा मध्यप्रदेश के ताम्राश्म संस्कृति वाले लोगों ने किया था। इनको चारागाहों वाले, हरे-भरे कृषि के लायक मैदान पसन्द थे, जहाँ उनका गोचारक जीवन आसानी से बीत सकता था और भविष्य में विस्तारण की भी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के प्राप्ति-स्थानों पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से अधिकांश स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पड़तें हैं। पंजाब और हरियाणा दूसरे नम्बर पर आते हैं और अन्त में राजस्थान है जहाँ इस संस्कृति की सबसे कम बस्तियाँ मिली हैं।"[२]

"ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान की नदियाँ ज्यों-ज्यों सूखती गयीं, लोग त्यों-त्यों पूरब की ओर खिसकते गये। इस संस्कृति का सर्वाधिक फैलाव पश्चिमी दोआब अथवा 'मध्यदेश' वाले भारतीय भूखण्ड के हृदयस्थल पर ही दिखायी देता है।"

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति का आर्थिक आधार बहुत विकसित न होकर प्रायः ग्रामीण था। विभिन्न स्थानों से मिट्टी की मनिकाएँ और गुरियाँ प्राप्त हैं जिनके स्वरूप और प्रकारों के विवरण यहाँ आवश्यक नहीं हैं। गोमेद, इन्द्रगोप, सूर्यकान्तमणि और नीलम जैसे पत्थरों एवं शीशा तथा हड्डियों की भी मनिकाएँ हस्तिनापुर, रोपड़ और अत्रंजिखेड़ा से मिली हैं। हस्तिनापुर से बहुमूल्य पत्थरों-लाल, सूर्यकान्तमणि और बिलोरी चकमक से बने हुए दो गोलाकार और सादे चक्र मिले हैं, जो उत्खनकों के मत में बाट का काम करते थे। हड्डियों से बने हुए आखेट के औजारों से लेकर सिर के बालों में लगाने वाले पिनों तक अनेक सामान प्राप्त हुए हैं जिनमें तीर, सॉकेट, सुइयाँ, दबाने वाले भार, चूड़ियाँ और कंघे प्रमुख हैं। किन्तु पत्थर से बनी अनेक वस्तुओं का प्रयोग अभी भी होता था। हस्तिनापुर से

---

(१) पूर्वोक्त, पृष्ट ३६ और आगे।

(२) खुदाई सम्पन्न हो जाने वाले स्थान हैं – अहिछत्रा (बरेली), आलमगीरपुर (मेरठ), अल्लापुर (मेरठ), अत्रंजिखेड़ा (एटा), हस्तिनापुर (मेरठ), खलीवा (आगरा), मथुरा, नोह (भरतपुर), रोपड़ (अम्बाला), सरदारगढ़ (बीकानेर) और श्रावस्ती (बहराइच-गोण्डा)। कुछ ऐसे अन्य स्थान भी हैं, जिनकी पहचान चित्रितधूसर मृद्भाण्ड-स्थानों से नहीं की जाती किन्तु ऐसा माना जाता है कि उनका इस संस्कृति के स्थानों से सम्पर्क था, वे स्थान हैं – चिरांद (छपरा-बिहार), प्रहलादपुर (वाराणसी), राजघाट (वाराणसी), कौशाम्बी (इलाहाबाद), कयथा (उज्जैन), सोनपुर (गया), उज्जैन और वैशाली।

सान लगाने वाला एक पत्थर भी मिला है। पत्थर की मनिकाएँ और गुटके भी प्राप्त हुए हैं। सरदारगढ़ और दौलतपुर से पीसने वाली पत्थर की सीलें मिली हैं। अत्रंजिखेड़ा से मिली लाल बलुआ पत्थर की एक सील इनमें प्रमुख है। किन्तु मनुष्य की आकृतियों का कोई उदाहरण नहीं प्राप्त है जबकि अनेक पशुओं की आकृतियाँ मृद्‌भाण्डों पर चित्रित मिलती हैं। इनमें डीलदार बैल या सांढ़, साधारण बैल और घोड़े के चित्रण हस्तिनापुर से प्राप्त हुए हैं। आलमगीरपुर से एक भेड़े और बैल की आकृतियाँ मिली हैं। एकाध पक्षियों की भी आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। खिलौनों में मिट्टी के पासे, मनके, मुहरें, खेलकन्दुक (बिना पकाये हुए), मिट्टी की चूड़ियाँ, कान के झूमक (हस्तिनापुर) और मिट्टी की मनकों वाली गले की मालाएँ (अत्रंजिखेड़ा) भी प्राप्त हुई हैं।

❂❂❂

पाँचवाँ अध्याय

ग्राम एवं भूमि

ग्राम : उदय और विकास

ग्राम, ग्राम संकुल और ग्रामीण संस्कृति का विकास मूलतः किस क्रम में हुआ होगा, इसका केवल अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। भूमि की मूर्त इकाई के रूप में ग्राम का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है तथा इसकी स्पष्ट जानकारी वैदिक युग से ही प्राप्त होती है। किन्तु प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ बनने के पूर्व भी ग्रामों के उदय और विकास का इतिहास अनेक शताब्दियों से गुजरा होगा। ग्राम मूलतः उस संक्रमण की अन्तिम कड़ी के रूप में उदित हुए होंगे जो क्रमशः यायावरीय, शिकारभोजी जीवन से अन्नसंग्रहण (फूड गैदरर्) और पुनः आगे बढ़कर अन्नोत्पादन (फूड प्रोडक्शन्) की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते हुए स्थायी निवासों के रूप में उभरे। इसमें सदियों अथवा सहस्राब्दियों का समय लगा होगा। पशुचारण की वृत्ति से आगे बढ़कर मनुष्य जब अन्नोत्पादन की वृत्ति अपनाने लगा तो उसे स्थायी निवास की आवश्यकता हुई। यह स्थायी निवास खेती योग्य भूमि को अपनाकर उस पर खेती करने की प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम था। सम्भव है कि पहले इक्के-दुक्के लोग कहीं एक जगह इस प्रक्रिया में बसे हों। किन्तु हिंस्र पशुओं जैसी प्राकृतिक कठिनाइयों अथवा मनुष्यों के ही शत्रु समूहों को झेलने के लिए जब एक से अधिक व्यक्ति अथवा परिवार एक जगह रहने लगे तो ग्रामों के विकास का एक निश्चित स्वरूप भी प्रारम्भ हो गया। कृषि के लिए स्थायित्त्व की आवश्यकता के अतिरिक्त सुरक्षा की आवश्यकता भी ग्राम के उदय का एक प्रमुख कारक तत्त्व रही होगी। वैदिक शब्दों और ऋचाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इन विभिन्न क्रमों का विद्वत्तापूर्ण उद्घाटन हाल में ही प्रकाशित एक शोध प्रबन्ध द्वारा डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र ने किया है।[1] तद्नुसार, यायावरी, चक्रधर और शालेय संस्कृतियों का रूप निरन्तर संचरणशीलता के पश्चात् गृहनिवास और ग्राम निर्माण के रूप में निखरा। ग्राम निवास का द्योतक था अन्नोत्पादन, जो ग्राम विकास का प्रथम सोपान हुआ। ग्राम का मूल अर्थ है मानव-समूह[2] और अन्नोत्पादक समूह ही ग्राम हुआ।

यह कल्पना की जा सकती है कि हड़प्पा संस्कृति के नागर स्वरूप के पीछे भी ग्रामों का और उनसे परिवृत्त कृषि का एक सुदृढ़ आधार रहा होगा। किन्तु उसके बारे में हमारी जानकारी विशेष नहीं है। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों ग्रामों का विकास जोर पकड़ता गया, उनकी संख्या बढ़ती गयी और अन्यान्य आर्थिक गतिविधियों का गुणन होता गया। परिणामतः, किसी न किसी प्रकार के शासन और अन्ततः राज्य संस्था की आवश्यकता हुई। कालान्तर में राज्य को भी बढ़ती हुई सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के कारण नये-नये ग्रामों

---

(१) प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम जीवन, पूर्वा प्रकाशन, गोरखपुर, १६८४।

(२) ऋग्वेद, प्रथम, १००.१०; तृतीय ३३.११।

को राजकीय प्रोत्साहनों द्वारा बसाने की आवश्यकता हुई, जिसे ग्राम-सन्निवेश के एक सैद्धान्तिक रूप में कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[१] उपस्थित करता है। वैदिक युग के प्रारम्भिक ग्राम भी शान्त, हिलेमिले और संघटित जीवन के ही प्रतीक थे, जो वन्य जीवन की हिंसक और असुरक्षित अवस्था की तुलना में अधिक सुरक्षित थे।[२]

ग्राम स्वरूप एवं ग्राम सन्निवेश

अपनी विकसित अवस्था में अनेक घरों और परिवारों में रहने वाले लोगों के संकुल से युक्त, बाग-बगीचों, पशुओं, गोठों, चारागाहों, बंजर भूमि, आवागमन के रास्तों और कृषिपरक भूमि, उनकी मेड़ों, पानी की नालियों तथा खलिहान आदि के आयत्त ग्रामों का निर्माण करते थे। ग्रामों की संख्या और ग्रामीण संस्कृति का विस्तार ही भारतीय संस्कृति के विस्तार का बीज है। स्ट्रैबो और प्लिनी जैसे क्लासिकी इतिहासकारों ने भारत के उत्तरी-पश्चिमी भागों में जिन ५ हजार नगरों का[३] उल्लेख किया है, वे भी सम्भवतः ग्राम ही थे। वे उन नगरों की लम्बाई-चौड़ाई ५५० स्टेडिया अथवा २-२½ मील के बराबर बताते हैं और 'कोस' शब्द का प्रयोग करते हैं जो संस्कृत भाषा के क्रोश शब्द का तद्भव है। **आपस्तम्बधर्मसूत्र** में कथित है कि ग्रामों की एक दूसरे से दूरी एक कोस की होनी चाहिए और नये बसे हुए ग्रामों को अपना क्षेत्रफल १-२ कोस तक रखना[४] चाहिए। बौद्ध जातक[५] मगध जैसे गांगेय-क्षेत्र के राज्यों को हजारों ग्रामों से युक्त बताते हैं।

ग्राम निर्माण का एक निश्चित स्वरूप और प्रायः उसकी एक निश्चित पद्धति थी। प्रायः नदियों के किनारे उर्वर भूमि के बीच बसे हुए ग्राम मिट्टी, लकड़ी, बाँस अथवा बेंत के बने हुए घरों के संकुल के चारों ओर बगीचों से घिरे हुए होते थे।[६] ग्रामों की पूर्णता उनके वास्तु (घरों), चैत्य (पवित्र स्थान), देवगृह, सेतुबन्ध (बाँध), श्मशान, सत्र (दानशाला), प्रपा (पानी पीने के स्थान) और प्रेक्षागृहों से होती थी और उनमें बाँस, शीशम, बेल, बरगद. पीपल, पाकड़, ताड़, बेर, आम, महुआ, जामुन, कदम्ब, कटहल, कैंत (ककुत्थ) जैसे वृक्षों में किसी एक की प्रधानता होती थी। प्रायः वृक्ष विशेष के नाम पर ही गाँव का नामकरण होता था। आज भी सिसवाँ, बेलही, बड़गाँव, पिपरा, पकड़ी, तरकुलवा, बइरिया, अमवाँ, महुअवाँ जमुनही, कदमा, कटेहर, कइँतियाँ जैसे हजारों ऐसे ग्रामनाम विहार और पूर्वी उत्तर

---

(१) प्रथम अधिकरण। १३वीं शताब्दी का एक दक्षिण भारतीय अभिलेख एक शासक द्वारा एक पूरा भूमिखण्ड ही उसके मूल मालिकों से खरीदकर १०८ ब्राह्मणकुलों के लिए एक नया ग्राम बसाने का उल्लेख करता है, जो नवागन्तुक निवासियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अन्यान्य सुविधाओं से युक्त किया गया। देखें, मद्रास, एपि. ऐनुअल रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ. ९२।

(२) अर्थ., द्वितीय ३३.४; तैत्तिरीयसंहिता, पञ्चम, २.५.५।

(३) देखे, एग्रेरियन् एण्ड फिस्कल् इकानॉमी, न.ना. खेर, पृ. १२।

(४) ११वाँ, १०.२६-२७।

(५) जातक, फाँसबॉल, जिल्द ३, पृ. ३६५; जिल्द ५, पृ. २५८।

(६) खुदाइयों से पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार में उत्तरी कृष्णमार्जित मृण्भाण्डयुग के घरों में प्रायः मिट्टी, बेंत, बाँस और ईंटों के प्रयोग प्राप्त हुए हैं। देखें, रामशरण शर्मा, मैटिरियल् कल्चर एण्ड सोशल् फॉर्मेशन इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. १०७।

प्रदेश में मिलते हैं, जो वृक्ष विशेषों के नामों पर ग्राम नामकरण परम्परा के सूचक हैं। यह प्रथा गंगा-यमुना दोआब के उन क्षेत्रों में विशेष रही होगी जहाँ प्रभूत वर्षा और उर्वर भूमि के कारण बाग-बगीचों-वनों की वृद्धि, सहज, सरल और स्वाभाविक थी। प्राचीन काल में आज की तरह हरियाली, वृक्षावली और वनसम्पदा की कमी नहीं थी। सारा गांगेय क्षेत्र हरे-भरे बगीचों और वनों से भरा था, जिनमें प्रचुर मात्रा में पक्षी, चीते, व्याघ्र, सिंह और जंगली हाथी स्वतंत्र विचरण करते थे। पालि ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध जहाँ भी जाते थे, वहाँ किसी न किसी पार्श्ववर्त्ती वन (सिंसपावन, आम्रवन, केतकीवन, वेणुवन, सालवन) में निवास करते और उपदेश देते थे। ये वन छोटे-मोटे बगीचे न होकर छोटे-छोटे जंगलों के रूप में ही थे। बुद्धकालीन अनेक नगरों के नाम या तो पेड़ों के नाम पर या लकड़ी के नाम पर अथवा घास के नाम पर ग्रामों के आधुनिक नामकरण की परम्परा के जनक प्रतीत होते हैं जैसे पाटलिगाम (पाटलि वृक्ष के नाम पर), कौशाम्बी (कुसुम्ब के नाम पर), पिप्फलिवन (पीपल के नाम पर), कुशीनगर (कुश घास के नाम पर), कुशाग्रपुर (पुरानी राजगिरि), चम्पा, कजंगल ओर थूण (पेड़ की थून्ही = मोटी यष्टि) आदि।

छोटे-छोटे ग्रामों के छोटे-छोटे बगीचों के अतिरिक्त कुछ दूरी पर गाँवों के जंगल, चरागाह और खेत होते थे, जिनका सम्भवतः कोई निश्चित नक्शा नहीं हुआ करता था। स्मृतियों में प्रत्येक गाँव के लिए इनकी अनुशंसा[१] है और विशेष रूप से कथित है कि उनमें कम से कम १०० धनु (लगभग ६०० फीट) के चरागाह अवश्य ही होने चाहिए। बगीचों और चरागाहों के अतिरिक्त कुएँ, तालाब, आरामघर और सीमांकन[२] चिह्न गाँवों की विशेषताएँ हुआ करती थीं। इस प्रकार के विवरण कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[३], जातकों[४] तथा अभिलेखों[५] में भी प्राप्त होते है। ग्राम प्रायः लकड़ी के खम्भों अथवा बाँस की बल्लियों द्वारा चारों ओर से सुरक्षा हेतु अनुवेष्ठित होते थे। विभिन्न प्रकार की सीमाओं के विवरण, सीमा विवादों के निर्णयों की व्यवस्था और उनके आधार निश्चित थे।[६]

प्रत्येक गाँव कुलों का समूह होता था। वैदिक साहित्य में कुलप्रधानों को **कुलपा** कहा गया है। जातकों में उनमें निवास करने वाले कुलों की संख्या ३० से १००० तक की बतायी गयी है।[७] कौटिल्य की अनुशंसा है कि नये बसाये हुए ग्रामों में १०० से ५०० तक परिवार होने चाहिए।[८] इस प्रकार छोटे अथवा बड़े, लघु जनसंख्या वाले अथवा बड़ी जनसंख्या वाले

---

(१) मनु., ८.२३७, याज्ञ.; ८, १६७।

(२) मनुस्मृति इनके अतिरिक्त पेड़ों द्वारा भी सीमाओं के निर्माण की अनुशंसा करती है –
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधानअश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीसालतालांश्चक्षीरिणश्चैव पादपान्।। (अष्टम, २४६)

(३) नदीशैलवनयृष्टिदरी सेतुबन्धशाल्मलीक्षीरवृक्षान्तेषु सीम्ना स्थापयेत्। (अर्थ., द्वितीय १)

(४) फॉसबाल, जिल्द १, पृ. २३९; जिल्द २, पृ. ७६, ११०, ११५, ३०१ आदि।

(५) देखिए, फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृ. १०३, १११, १२४, १२५ और २४८।

(६) मनुस्मृति, अष्टम, २४६-२६५।

(७) रतिलाल मेहता, प्री-बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. २०९; जातक सं. ३१७, ५४० आदि।

(८) कुलशतावरम् पञ्चशतकुलपरम्। (अर्थ., द्वितीय, १) विनयचन्द्र सेन, इकनॉमिक्स् इन कौटिल्य, पृ. १५।

सभी प्रकार के गाँव होते थे। नगरों से गाँवों की ओर और गाँवों से नगरों की ओर जनसंख्या के आवागमन के कारण गाँवों की जनसंख्याएँ घटती-बढ़ती रहती होंगी। गाँवों में कुल अथवा परिवार भूमि के आवण्टन की इकाई माने जाते थे। यदि एक परिवार की औसत संख्या ५ रही हो और एक गाँव में औसतन ५०० परिवार रहते हों तो प्रायः एक औसत गाँव की जनसंख्या २५०० की रही होगी। चूँकि गाँवों के बीच की दूरी एक-डेढ़ कोस की रहती थी, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य युग अथवा उसके बाद भी राज्य की ओर से इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि नये ग्रामसन्निवेश की योजनाओं में यह देखा जाय कि गाँव इतनी घनी आबादी वाले न हो जायँ कि उन्हें अपनी कृषि अथवा अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय सुविधाओं से पूरी तरह न हो पाये। कौटिल्य नये गावों को बसाने की योजना में उन पुराने स्थानों को प्रथम वरीयता देता है, जहाँ पहले बस्तियाँ बसी हुई थीं, किन्तु कालान्तर में वे किसी कारण से उजड़ गयी थीं।[1] ऐसी नवीन ग्राम-बस्तियों में शूद्रों और कृषकों को वरीयता देने का भी वह पक्षपाती है।[2] इससे स्पष्ट है कि नवीन ग्रामसन्निवेशों का उद्देश्य यह था कि कृषि विकसित की जाय और साथ ही समाज के कमजोर वर्गों के लिए जीवन-यापन के साधन जुटाये जाँय। नये ग्रामों को बसाने में पुराने ग्रामों की आबादी को बहुत अधिक बढ़ जाने से रोकना भी एक उद्देश्य रहा प्रतीत होता है, किन्तु इसके और भी अनेक लाभ समझे गये होंगे। नवीन ग्रामों के बसाने में राज्य की ओर से नवागन्तुकों को अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ और छूटें दी जाती थी, जिनमें कई वर्षों तक भूमिकर से विमुक्ति भी एक थी। इस नीति के पीछे राज्य के कुछ निश्चित उद्देश्य हुआ करते थे। नयी कृषि-भूमि के उपयोग से होने वाली आय, अतिरिक्त जनसंख्या का फैलाव, कृषि श्रमिकों और कृषकों के लिए काम की व्यवस्था, ग्रामीण परिपार्श्व में नये व्यापारिक और औद्योगिक वर्गों का विकास, अधिकाधिक अन्नोत्पत्ति तथा सम्बद्ध उत्पादों का विकास एवं इन उत्पादों से होने वाली आय के द्वारा राज्य की करवृद्धि इन विविध उद्देश्यों में गिने जा सकते हैं।

बौद्ध साहित्य से, विशेषतः जातकों से, ज्ञात होता है कि गाँव या तो मिली-जुली (खिचड़ी) जनसंख्या वाले या ब्राह्मण जैसी विशेष जातियों से निवसित अथवा उद्योग प्रधान लोगों द्वारा निवसित अथवा सीमाओं पर बसे हुए (पच्चन्त गाम = प्रत्यन्तग्राम) जैसे कई प्रकार के होते थे। मिली-जुली जनसंख्या वाले गाँवों में सभी जातियों और आजीविकों के लोग कृषि के अतिरिक्त विभिन्न कार्यों में लगे हुए होते थे। अधिकांश गाँवों का स्वरूप ऐसा ही था। इन गाँवों के निवासी पारिवारिक सम्बन्धों से जुड़े होने के अतिरिक्त सामुदायिक सम्बन्धों से भी जुड़े होते थे। गाँवों की कृषिपरक उन्नति और अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्णता की दृष्टि से ऐसे गाँवों में प्रायः सभी जातियों – कुम्हार, बढ़ई, लोहार, मोची, धोबी, झाडू लगाने वाले, नाई और ग्वाले आदि के लोग निवास करते थे। तथापि जाति-विशेष द्वारा निवसित गाँवों की चर्चाएँ भी बार-बार बौद्ध जातक-कथाओं में आती हैं

---

(१) विनयचन्द्र सेन, पूर्वोक्त, पृ. १६।

(२) शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरम् पञ्चशतकुलवरम् ग्रामं क्रोशाद्विक्रोश सीमान्तेन्योन्यारहां निवेशयेत्। अर्थ., द्वितीय, १।

जैसे – शिकारियों, कुम्हारों, लुहारों, बुनकरों, टोकरी बनाने वालों, धीवर अथवा केवटों और ग्वालों के गाँव। ऐसे गाँव प्रायः नगरों के आसपास बसे होते थे जहाँ उन्हें आसानी से अपना तैयार माल बेंचकर जीवनयापन के साधन सुलभ हो जाते थे। ब्राह्मण प्रधान गाँव प्रायः राजाओं द्वारा दान में दी गयी भूमि में ही बसे होते थे।[१] इसी प्रकार के इच्छानंगल नामक एक गाँव को **सुत्तनिपात**[२] में महासाल ब्राह्मणों का गाँव कहा गया है। आन्ध्र सातवाहन युग के बाद इन **ब्रह्मदेय** ग्रामों की संख्या भी काफी हो गयी, जिनके बार-बार उल्लेख परवर्ती अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के गाँव भी प्रायः खेती-बारी में ही निरत होते थे।

अर्थशास्त्र में गाँवों की अवर, मध्यम और हीन जैसी तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं। यह भी कथित है कि विभिन्न रूपों में राजकीय देय को देने वाले इन ग्रामों के अलग-अलग वर्ग थे – यथा वे ग्राम जो करमुक्त थे, वे जो राजकीय सेवा के लिए सैनिक देते थे, वे जो विभिन्न वस्तुओं के रूप में अपना कर चुकाते थे तथा वे जो **विष्टि** प्रदान करते थे अथवा वे जो करों के बदले दूध-दही-घी आदि देते थे।[३]

सीमावर्ती गाँवों का एक अलग ही रूप होता था। उन्हें चोर डाकुओं और लुटेरों का प्रायः सामना करना पड़ता था और सुरक्षा की दृष्टि से उनकी स्थिति बड़ी ही कमजोर होती थी। इसका एक कारण सम्भवतः यह था कि उनमें निवास करने वाले लोग प्रायः बधिक, शिकारी और चिड़ीमार जैसी पिछड़ी जातियों के होते थे। इसी कारण **अर्थशास्त्र**[४] और **महाभारत**[५] में इनकी सुरक्षा के लिए राजा द्वारा कारगर उपायों के अपनाये जाने की अनुशंसाएँ प्राप्त होती हैं। इन प्रत्यन्त अर्थात् सीमावर्ती ग्रामों में सुरक्षा का अनुपात केन्द्रीय सत्ता की शक्तिमत्ता अथवा शिथिलता तथा वहाँ बसने वाले लोगों के समय-समय पर चरित्र और नैतिकता के अनुपात से ही अनुशासित होता था। वहाँ की सुरक्षात्मक स्थिति सर्वदा खराब ही रहती रही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। **वाल्मीकि रामायण** के अयोध्याकाण्ड के कच्चित्सर्ग में निर्दिष्ट है कि कोसल राज्य में सीमावर्ती गाँवों में भी खेतीबारी अच्छी तरह होती थी और लोग सुखी जीवन व्यतीत करते थे।[६]

ग्रामप्रधान

ग्रामप्रशासन का एक प्रधान[७] हुआ करता था, जिसे वैदिक साहित्य में ग्रामणी, बौद्ध

(१) कोसलराज प्रसेनजित द्वारा इस प्रकार दान में दिये हुए अनेक गाँव थे, यथा चंकि ब्राह्मण को प्रदत्त ओप्पसाद (म. नि. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ. ३६७), पौष्करसाति ब्राह्मण को प्रदत्त उकट्ठा (दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ. ३२), अम्बष्ठ ब्राह्मण को प्रदत्त इच्छानंगल (वहीं तथा अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो., जिल्द ३, पृ. ३०)।

(२) हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, पृ. १५६ (वासेट्ठसुत्त)।

(३) अर्थ., द्वितीय अधिकरण, ३५वाँ अध्याय।

(४) अर्थशास्त्र, द्वितीय।

(५) शान्तिपर्व, ८७.२५ और आगे।

(६) १००वाँ अध्याय।

(७) देखें, क्रमशः वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द १ पृ. २४७; पानीयजातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ. ३१६; अर्थशास्त्र, तृतीय, १०.१६ और आगे, चतुर्थ, ४.६-१०; मनु. सप्तम, ११५; एइ.; जिल्द १, पृ. ३८७; इऐ. जिल्द ५, पृ. १५५; कार्पस्, जिल्द ३, पृ. २५६; मीराशी, वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, पृ. ५३; अ.स. अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, पृ. २२७।

साहित्य में **ग्रामभोजक** अथवा **गामणी**, कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में **ग्रामिक** अथवा **ग्रामकूट**, मनुस्मृति में **ग्रामपति**, उत्तर भारतीय अभिलेखों में **ग्रामेयक** या **ग्रामिक**, वाकाटक अभिलेखों में **ग्रामकूट** अथवा **पट्टकील** तथा कर्नाटक में **गावुन्द** जैसी अलग-अलग संज्ञाएँ प्राप्त थीं। इसे ही आगे चलकर कन्नौज साम्राज्य के क्षेत्रों में **महत्तर**, **महत्तक** और **महन्तक** कहा गया।

मनुस्मृति (सप्तम., ११५-११६) प्रत्येक गाँव या गाँवों के दस, बीस, सौ या हजार के समूहों पर ग्रामपति अथवा ग्रामपतिओं की नियुक्ति की व्यवस्था देती है। वहाँ कथित है कि गाँव में किये गये अपराधों के लिए अपराधिओं को दण्डित करना **ग्रामपति** का कर्तव्य है। **अर्थशास्त्र** का साक्ष्य है कि **ग्रामिक** को सारे ग्राम के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना होता था और वह सभी ग्रामवासिओं से सहायता प्राप्त करने का अधिकारी था। वह दोषिओं को गाँव से निकाल सकता था। किन्तु कर्तव्य प्रमाद के लिए वह केन्द्र द्वारा दण्डित भी किया जा सकता था।[1] गाँव की सुरक्षा-व्यवस्था की देखरेख तथा वहाँ शान्ति बनाये रखने के अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में उसके मुख्य कार्य थे स्थानीय मुकदमों का निपटारा, राजकीय करों की वसूली, राजकीय अर्थदण्डों की वसूली तथा आपातकाल में ग्रामवासिओं के लिए आवश्यक सहायताओं को जुटाना।[2] गाँव के सभी उत्पादों और सम्पत्ति पर उसका सामान्य नियन्त्रण होता था। **अर्थशास्त्र**[3] से यह भी स्पष्ट होता है कि ग्रामिक का यह कर्तव्य था कि गाँव से होकर गुजरने वालों सार्थों की सम्पत्ति को वह संरक्षण दे और यदि वह इस उत्तरदायित्त्व के निर्वाह में प्रमाद करता था तो राज्य की ओर से दण्ड का भागी होता था। **अर्थशास्त्र** और **मनुस्मृति** एवं **वाल्मीकि रामायण** के राम के रामराज्याभिषेक सम्बन्धी सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रामप्रधानों का राजकीय शासन में बड़ा ही अधिक महत्त्व होता था।[4]

अर्थशास्त्र (पञ्चम २.११) में ग्रामभृतक शब्द भी आता है, जिसे कॉंग्ले ने ग्रामिक का ही पर्याय स्वीकार किया है।[5] उसके अधिकारों में चोरों और व्यभिचारिओं का ग्राम से निष्कासन सम्मिलित था।[6] इससे स्पष्ट है कि वह न्यायिक कार्य भी करता था। उसकी सहायता हेतु ग्रामवृद्धों की सभाएँ होती थीं। ये सभाएँ ग्रामीण झगड़ों और मुकदमों के निपटारे, ग्रामभूमि के आवण्टन और विक्रय; जनोत्सवों के संचालन, मन्दिर तथा जनस्वामित्त्व की सम्पत्तियों से सम्बद्ध निर्णयों तथा ग्राम प्रशासन के सामान्य नियन्त्रण में ग्रामिक को

---

(१) अर्थशास्त्र, तृतीय अधि., दसवाँ अध्याय।

(२) देखें, जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ. १६६, ३५४, ४८३; जिल्द २, पृ. १३५; जिल्द ४, पृ. ११०, ३१५; जिल्द ५, पृ. ४८४।

(३) अर्थशास्त्र, चतुर्थ, १३.८; मनु. (सप्तम, १८०) का कथन है –
तेषां ग्राम्याणिकार्याणि पृथक्कयिणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः।।

(४) अर्थ.; चतुर्थ १३.८; मनु., सप्तम, ११८; युद्धकाण्ड, ११७.१६।

(५) दि अर्थशास्त्र ऑफ कौटिल्य, भाग ३, पृ. १६७।

(६) अर्थ., ३.१०-१८।

(७) अर्थ., उपर्युक्त; पानीय और कट्टहाल जातक।

परामर्श और सहयोग देती थीं।[७] अभिलेखों में इन ग्रामसमाजों के प्रायः उल्लेख हुए हैं और उन्हें गोष्ठी, निकाय, परिषद अथवा संघ कहा गया है।[1] **अर्थशास्त्र**[2] से यह प्रतीत होता है कि ग्रामवृद्ध गाँव के मन्दिरों तथा नाबालिगों की सम्पत्तियों के न्यासधारी माने जाते थे, जिनकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। ऋणग्राहक ऋणदाता की अनुपस्थिति में ऋण का भुगतान भी ग्रामवृद्धों को कर सकता था जो ऋणदाता के आगमन तक न्यस्त रूप में उसे रखते थे (अर्थ., तृतीय १२.१२)। कृषकों के खेतों की सीमाओं सम्बन्धी विवादों को सुलझाना (अर्थ., तृतीय ९.१५) तथा गाँव की किसी भी भूमि अथवा सम्पत्ति की बिक्री के समय उपस्थित रहकर ग्रामिक की सहायता करना भी ग्रामवृद्धों के कर्तव्य माने जाते थे।

किन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि ग्रामिक अथवा ग्रामवृद्धों के इन विविध कर्तव्यों के साथ उनके बहुत अधिकार भी थे। ग्रामिक स्पष्टतः केन्द्रीय सत्ता की ओर से नियुक्त एक सेवक मात्र था जो ग्राम में रहने के कारण राज्य के प्रति ग्राम का प्रतिनिधित्त्व भी करता था। धर्मशास्त्रीय[3] ग्रन्थों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह केन्द्रीय सरकार द्वारा नियमित रूप से नियुक्त किया जाता था और ग्राम से करों की वसूली उसके कार्यों में एक था। उसके कार्यों का अन्तिम नियन्त्रण केन्द्रीय **समाहर्ता** के हाथों में था और **अर्थशास्त्र** से स्पष्ट है कि किसी भी कर्तव्यप्रमाद के लिए वह दण्ड का भागी होता था। अतः यह कहना कि प्राचीन भारत में ग्राम व्यवस्था का स्वरूप एक स्वतंत्र ग्राम्य लोकतन्त्र की तरह था बहुत सही और समीचीन नहीं प्रतीत होता। ग्राम प्रशासन सम्पूर्ण राज्य प्रशासन की सबसे निचली इकाई मात्र था जो केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त नहीं था। ग्रामप्रधान किस आधार पर चुना जाता था, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। सम्भव है कि अत्यन्त प्रारम्भ में रक्त और वंश के आधार पर ग्रामवासियों द्वारा वह चुना जाता रहा हो, किन्तु बाद में वह प्रायः केन्द्रीय सरकार द्वारा ही नियुक्त किया जाने लगा, जिसमें उसका ग्रामनिवासी होना और ग्राम में सामाजिक दृष्टि से महत्त्व रखना उसकी नियुक्ति सम्बन्धी योग्यताएँ मानी गयीं। कभी-कभी ग्रामणी और ग्रामभोजक लोगों के पुत्र-पौत्र भी उनके पदों पर नियुक्त कर दिये जाते थे और वैसी दशा में इस पद के साथ आनुवंशिकता भी जुट जाती थी। किन्तु उसके प्रधान कार्य सर्वदा ही आर्थिक और प्राशासनिक ही रहे और गाँव की धार्मिक अथवा सामाजिक गतिविधियों में उसाका स्थान नगण्य ही था।

भूमि

भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देशा में भूमि का महत्त्व यहाँ के निवासियो द्वारा बहुत

(१) लूडरर्स् लिस्ट, न.ना. खेर (पूर्वनिर्दिट) द्वारा उद्धृत, पृ. १८।

(२) द्वितीय १.२७ तथा तृतीय ५.२०।

(३) मनुस्मृति (सप्तम, ११५-११७) से स्पष्ट है कि एक, दस, बीस, तीस, एक सौ अथवा एक हजार गाँवों के अलग-अलग अधिकारी (ग्रामपति से प्रारम्भ कर शतेश और सहस्रपति तक) नियुक्त होते थे; और यदि ग्रामपति अपने क्षेत्र की समस्याओं (दोषों - चोरों आदि से उत्पन्न दोषों) का समाधान नहीं कर पाता था तो वह उन्हें अपने ऊपर (ग्रामपति दस गाँवों के स्वामी को, वह बीस गाँवों वाले अधिकारी को, वह सौ गाँवों वाले को और वह सहस्रपति को) के अधिकारी को निवेदित करता था। प्रायः इसी प्रकार के मिलते-जुलते विवरण शान्तिपर्व (८७.३-७) में भी प्राप्त होते हैं।

प्रारम्भ में ही समझ लिया गया होगा, यह अस्वाभाविक नहीं है। पूर्व वैदिक युग का प्रधान पेशा यद्यपि गोचारण और पशुपालन ही था, कृषिकर्म उस समय भी काफी प्रचलित हो चुका था। उत्तरवैदिक कालीन **अथर्ववेद** का पृथिवीसूक्त भूमि के महत्त्व को स्पष्ट करने वाला कदाचित् वह पहला सन्दर्भ है जहाँ ऋषि अपने को पृथिवीपुत्र और भूमि को अपनी माता कहता है। किन्तु कृषियोग्य भूमि अब भी अधिकांशतः कठोर ही थी और उसे तोड़ने के लिए दो से चौबीस बैलों तक के एक ही हल में जोते जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। पालि निकायों में गामखेत्त (ग्रामक्षेत्र) के उल्लेख बार-बार आते हैं जो ग्रामों से सटी हुई कृषियोग्य भूमि के बोधक हैं। **संयुत्तनिकाय** (चतुर्थ ३१४-३१७) में भगवान बुद्ध क्रमशः उत्तम, मध्यम और हीन बौद्ध भिक्षुओं, उपासकों एवं अन्य सम्प्रदायों के श्रमण-ब्राह्मणों-उपासकों की तुलना उत्तम, मध्यम और हीन (अनुर्वर, वन्य और पथरीली) जैसे तीन भूमि प्रकारों से करते हुए उनके गुणावगुण की चर्चा करते हैं। इसी प्रकार **अंगुत्तरनिकाय** (चतुर्थ, २३७ और आगे) के खेत्तसुत्त में आठ प्रकार की हीन भूमियों का उल्लेख है, जिनमें उत्पत्ति नगण्य ही होती थी। ये थी ऊँची-नीची कंकरीली, क्षारीय, ठीक गहराई तक न जोती हुई, पानी के आवक से हीन, पानी के निकास से हीन, जल सुविधाविहीन और मेड़ों से हीन। ऐसे खेतों में बीजवपन व्यर्थ का ही प्रयत्न कहा गया है। मोटे तौर पर बौद्ध साहित्य कृषियोग्य उर्वर भूमि को **जातपथवी** और अनुर्वरभूमि को **अजातपथवी** की संज्ञा देता है।[1] जातकों में उर्वर भूमि की तुलना मधुमक्खी के छत्ते से की जाती हुई उसे चिकनी और महीन बताया गया है।[2]

राजनीतिशास्त्रकारों ने राज्य के विभिन्न घटकों का उल्लेख करते हुए एक घटक जनपद की विशेषताओं का विशद विवेचन किया। जनपद से तात्पर्य जनसंख्या का तो था ही, उसका अभिप्राय देश अथवा भूमि के गुणावगुणों से भी था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[3] देश अथवा जनपद शब्द की व्याख्या करते हुए इसे हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त विस्तृत बताता है जहाँ के विशाल क्षेत्र में जंगल, पहाड़, गाँव, समतल और असमतल भूमि आदि सब कुछ विद्यमान हैं और जिसमें प्रजापालन के अन्यान्य विधान रचे जा सकते हैं। उसमें भवन-निर्माण योग्य भूमि (वास्तु), कृषि योग्य उर्वर भूमि (सीता, उर्वरा, कृष्ट, सित्य और ग्राम्य), जलीय भूमि (केदार), समतल भूमि, नीची भूमि, दलदल भूमि, फेनाघात भूमि (जों नदियों के फेनयुक्त जल से दबायी गयी हो), बाढ़ग्रस्त (परिवाहान्त) भूमि, कुओं के पास की भूमि (मूलवाप), नियमित होने वाली वर्षा से आप्लावित भूमि, क्षारीयभूमि, बंजरभूमि, ऊसर और अनजोती भूमि (अनुर्वर, ऊसर, अकृष्ट और खिल), जंगली भूमि, पथरीली भूमि, असमतल भूमि, वन्य भूमि (धन्वन्), गड्ढोंयुक्त कंकरीली भूमि, गहरी खाइयों वाली भूमि, असमतल ऊँचाई वाली भूमि (स्थाल), सड़कों और रास्तों वाली भूमि, चरागाह (गोचर अथवा विवीत), बागबगीचों वाली भूमि (आराम) एवं खानों-खदानों वाले क्षेत्रों की गिनती की गयी है।

वास्तु भूमि में प्रत्येक प्रकार के भवनों (देवगृह, चैत्य, सेतुबन्ध, श्मशान, सत्र, प्रपा,

(१) पाचित्तिय, १०वाँ।

(२) देखिये फॉसबाल, जिल्द १, पृ. १६४, २४०, ३८८; जिल्द ३, पृ. ४०१।

(३) नवम्, १।

पुण्यस्थान और धर्मसेतु (दातव्य भवन) की गिनती की जाती थी। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमि वह थी जिस पर खेती की जाती थी और जो प्रायः उपजाऊ होती थी। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों एवं समस्त अभिलेखों में जिन भूमियों के दान देने के हजारों-हजारों उल्लेख पाये जाते हैं, उनमें सम्पूर्ण गाँवों से लेकर कुछ खास-खास भूखण्डों वाले क्षेत्र होते थे। किन्तु उनमें अधिकांशतः खेती के उपयोग की ही भूमि होती थी जिसकी आय से दानग्रहीताओं - संस्थाओं - व्यक्तिओं के आवर्तक खर्च चलते थे। खेती योग्य उर्वर भूमि में समतल, सिंचाई के साधनों से सम्पन्न, थोड़ा बहुत पानी इकट्ठा होने वाली क्यारियों (केदार), नदियों के किनारों पर पड़ने वाले क्षेत्रों, उनकी बाढ़ से आप्लावित भागों, नमी वाले क्षेत्रों, कुओं के पास पड़ने वाले खेतों अथवा सिंचाई के सुविधाजनक साधनों से सम्पन्न क्षेत्रों की गिनती की जाती थी। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** के अनेक स्थानों (पञ्चम, २; द्वितीय, १७.२४ एवं ३६) में इनके विवेचन प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जोते-बोये जाने वाले खेतों (खेत्त, सित्य, सीता, क्षेत्र) का अत्यधिक महत्त्व था और वह इसी हेतु कि सारी जनसंख्या का भरण-पोषण उसी पर उत्पन्न वाले अन्नों से होता था। इसी कारण कौटिल्य जहाँ देश अथवा जनपद की विशेषताओं का उल्लेख करता है, वहाँ उसी को श्रेष्ठ बताता है जिसमें मिहनतकश किसान (कर्मशीलकर्षक) और उर्वर भूमि हो।

अकृष्ट, ऊसर, अनुर्वरा और खिल उस भूमि प्रकार की संज्ञायें थीं, जिनमें या तो कभी खेती की ही नहीं गयी हो अथवा वे खेती के अयोग्य (ऊसर) हों अथवा बीजवपन के बाद भी उनमें शक्तिहीनता के कारण थोड़ी भी अच्छी खेती की सम्भावना न हो। कौटिल्य की अनुशंसा है कि ऐसी भूमि को भी पानी की व्यवस्था करके, बगीचों को लगाकर और वहाँ रहने लायक स्थानों का निर्माण करके खेती की परिधि में लाना चाहिए।[३] खिल उस भूमि को कहते थे जो अनुर्वर तो नहीं हो किन्तु उस पर खेती कभी न की गयी हो। **नारदस्मृति** एक वर्ष तक किसी प्रकार की खेती न की जाने वाली भूमि को अर्धखिल और लगातार तीन वर्षों तक खेती के लिए अप्रयुक्त भूमि को खिल की संज्ञा देती है।[४]

वन अथवा वन्यों का उपयोग चरागाहों के रूप में, यतियों-मुनियों के आश्रमों हेतु, राजकीय आखेट के क्षेत्र के रूप में, शिकारिओं के शिकार क्षेत्र और हाथियों के विचरण क्षेत्र के रूप में किया जाता था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २) इसका विवरण भूमिच्छिद्रविधानम् नामक अध्याय के अन्तर्गत करता है।

पथरीली, दलदली, असमतल, मरुभूमि, कंकरीली और गड्ढों-खाइयों वाली नीची भूमि खेती के योग्य नहीं होती थी और **अर्थशास्त्र** के अनुसार किसी भी अच्छे राज्य में इनकी अधिकता नहीं होनी चाहिए। प्रायः ऐसे भूमि प्रकार या तो पहाड़ों की तलहटियों में, पठारों में, रेगिस्तानों में अथवा समुद्री किनारों पर हुआ करते थे, जिनका मूल्य खेती की दृष्टि से

---

(१) अर्थ., द्वितीय, अध्याय ४।

(२) महाभाष्य, १.१.७२; १.१.८६।

(३) अर्थ., द्वितीय १ और २।

(४) ११वाँ, २६।

बहुत ही नगण्य था। किन्तु इन क्षेत्रों में अनेक ऐसे पेड़-पौधे होते थे जो अच्छी प्रकार की लकड़ी प्रदान करते थे।

भूमि के एक बड़े भाग का सड़कों, मार्गों अथवा पथों के रूप में भी प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में किया जाता रहा। इनके सन्दर्भ **छान्दोग्य उपनिषद्** (अष्टम, ६.२), अशोक के अभिलेखों, कौटिलीय **अर्थशास्त्र**, मेगास्थनीज़ की **इण्डिका** तथा बौद्ध ग्रन्थों सहित अन्यान्य ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। कौटिल्य तो छह प्रकार की सड़कों का उल्लेख करता है।[1] इनमें से तीन किसी भी दुर्ग से पूर्व-पश्चिम की ओर जाती थीं और तीन उत्तर-दक्षिण की ओर। इन्हें राजमार्गों अथवा पथों की संज्ञायें दी गयी हैं। **मनुस्मृति** (सप्तम, १८५) के टीकाकारों ने इन्हें तीन प्रकार का बताया है जो या तो समुद्रों के नजदीक के झाड़झंखाड़ी झुरमुटों से होकर, अथवा समतल मैदानी भागों से होकर अथवा जंगली रास्तों से होकर गुजरते थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह प्रमाणित है कि मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र जैसे नगर इन्हीं सड़कों पर पड़ते थे। उत्तर-पश्चिम में यही मार्ग यूनानी राज्य बैक्ट्रिया तक जाता था जहाँ से भारत का विकसित व्यापार होता था। यही नहीं, पाटलिपुत्र उत्तर-पश्चिम में गंधार प्रदेश से, पूर्व-दक्षिण में गंगासागर और सुवर्णद्वीप तक एक विशद राजमार्ग द्वारा जुड़ी हुई थी, जिस पर अनूपशहर, कन्नौज, इलाहाबाद, बनारस और पाटलिपुत्र से पश्चिम में कौशाम्बी, मथुरा और उज्जैन होते हुए एक राजमार्ग भृगुकच्छ तक, दूसरा वाराणसी, इलाहाबाद, उज्जैन होते हुए दक्षिण में प्रतिष्ठान तक और तीसरा वैशाली होते हुए उत्तर में नेपाल को जाता था।[2]

गाँवों के बाहर, अन्य क्षेत्रों की सीमाओं पर अथवा दो परस्पर संघर्षरत गाँवों को बाँटने की दृष्टि से उनके बीच में चरागाह हुआ करते थे, जिन्हें व्रज अथवा विवीत कहा जाता था। अशोक के अभिलेखों में **व्रजभूमिक** और **अर्थशास्त्र** में **विवीताध्यक्ष** नामक अधिकारिओं के उल्लेख इस बात की ओर निर्देश करते हैं कि चरागाहों की रक्षा गोचारण और पशुधन की दृष्टि से आवश्यक समझी जाती थी।

गाँवों की परिधि में जैसे ग्रामक्षेत्र (गामखेत्त) अर्थात् जुताई-बुआई किये जाने वाले खेत हुआ करते थे अथवा उनके सीमान्तों पर चरागाह हुआ करते थे, ठीक उसी प्रकार उनके पास बाग-बगीचों और उद्यानों अथवा वनों की भी स्थिति होती थी, जिनसे उनके लिए आवश्यक फल और लकड़ियाँ प्राप्त होती रहें। इन्हें वात, वादक, वाटिका, आराम, उद्यान (पालि-उयान) अथवा वन कहा जाता था। पालि निकायों में प्रायः प्रत्येक गाँव के पास किसी न किसी वृक्ष विशेष के वन अथवा नगरों के पास के वनों के होने के प्रभूत उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो साल, सागौन, शीशम, कदली, कनेर, आम्र, बाँस, बेंत, महुआ, जामुन, ताल अथवा ऐसे ही वृक्षविशेषों की अधिकता के कारण तदनुरूप नामित थे। श्रावस्ती का जेतवन, राजगृह का वेणुवन, साकेत का अञ्जनवन एवं वैशाली का (आम्रपालि का) आम्रवन तथा

(१) द्वितीय, ४।

(२) देखें, सुधाकर चट्टोपाध्याय, शकज़् इन इण्डिया, पृ. ८० और आगे;
कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, पृ. ४६६;
रीज़ डेविड्स्, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. १२० और आगे;
वा.रा., द्वितीय, १७.३; द्वितीय ४६.२६ इत्यादि।

कुसिनारा का सालवन जैसे वन कदाचित् छोटे-बड़े बगीचों के ही बोधक थे।

भूमि सर्वेक्षण और सीमांकन

विविध प्रकार के भूस्वामित्त्व, प्रत्येक गाँव की अलग-अलग भूमि और खेत, पुनः, वहाँ भी अलग-अलग व्यक्तियों के भूस्वत्त्व, उन पर लगने वाले राजकीय करों के निर्धारण, विभिन्न प्रकार की भूमिओं की सीमाएँ, विविध प्रकार की भूमि को एक दूसरे से अलग करने की आवश्यकताएँ जैसी अनेक बातें ऐसी थीं, जिनमें भूसर्वेक्षण और सीमांकन राज्य का एक निश्चित कर्तव्य बन जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य को इस आवश्यकता की पूर्ति का भान ऋग्वैदिक युग में ही हो गया था।[1] **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** में खेतों की सीमाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] पाणिनि क्षेत्रकर नामक एक ऐसे राज्याधिकारी का उल्लेख करता है जो खेतों की सीमाओं के निर्धारण हेतु उनकी माप करता था एवं उन पर कर निश्चित करता था।[3] किन्तु भूमि की पैमाइश, उसकी चौहद्दी को निश्चित करना, उस पर लगने वाले निशानों को लगाना, उस पर लगने वाले करों को लगाना, किसी प्रकार का संघर्ष होने पर निशानों के मिट जाने अथवा बाढ़ आदि से नष्ट हो जाने पर पुनः उन प्रक्रियाओं को दुहराना आदि तथा भूमि बन्दोबस्त, भूसर्वेक्षण और भूमाप की विविध क्रियाओं का जो विशद विवेचन कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में प्राप्त होता है वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। भारतीय उपमहाद्वीप में जो भी अन्यान्य शासक अंग्रेजों के समय तक अथवा स्वतंत्र भारतवर्ष तक आये, वे सभी किसी न किसी मात्रा में **अर्थशास्त्र** की तत्सम्बन्धी व्यवस्थाओं के ऋणी हैं।

अर्थशास्त्र[4] और अन्यान्य स्मृतियों[5] में खेतों और गाँवों की सीमाओं के स्पष्ट निर्धारण की व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। ये सीमाएँ या तो वहाँ पर वर्तमान प्राकृतिक तत्त्वों (नदी, पहाड़, टीला, जंगल, खोह-कन्दरा और तालाब, जैसे) से अथवा मानवनिर्मित, किन्तु स्थायित्व वाले, वास्तुओं (जैसे - पुल-पुलिया (सेतु-बन्ध), कुआँ, पानी की टंकियों, मन्दिरों, झरनों, कन्दमूल वाले वृक्षों आदि) अथवा सेमर, शीशम, शाल जैसे दीर्घजीवी वृक्षों और वेणुवनों जैसे अर्धप्राकृतिक तत्त्वों द्वारा निश्चित की जाती थीं।[6] पहली-दूसरी शताब्दियों से जब दानपरक अभिलेखों के लेखन और प्रकाशन की परम्पराएँ बद्धमूल हो गयीं, तब हमें उन लेखों से ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ दानदत्त गाँवों की सीमाएँ या तो पहाड़ों से निर्धारित की गयी हैं अथवा नदियों से।[7] इसी प्रकार कभी-कभी दानदत्त भूमि का सीमांकन नगर सीमाओं के सन्दर्भ में भी किया जाता था। महाराज हस्ति और सर्वनाथ का एक दानपत्र उनके क्षेत्रों के बीच एक स्तम्भ लगाने का उल्लेख करता है (फ्लीट, गुप्त अभिलेख कार्पस् ३, पृ. १११)।

---

(१) दशम, ३३.६; प्रथम, ११०.५; प्रथम, १००.१८ आदि।

(२) प्रथम, ३.६,१६; प्रथम ३.११.६।

(३) वा.श. अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ. १४२, १६७।

(४) द्वितीय, १।

(५) मनु., अष्टम, २४६-२४८; याज्ञ., द्वितीय, १५१।

(६) कार्पस, तृतीय, पृ. १२५।

(७) देखें जुन्नार का बौद्ध गुहालेख लूडर्स् लिस्ट सं. ११६३; वासिष्ठीपुत्र पुलमावि के समय का १४२ ई. का नासिक बौद्ध गुहालेख, एइ., जिल्द ८, पृ. ६१-६२; उसी का १४५ ई. का लेख, एइ., अष्टम, पृ. ६८।

मनुस्मृति[1] की अनुशंसा है कि खेतों की सीमाओं के निर्धारण हेतु पत्थरों, हड्डियों, गोपुच्छ, भूसे, राख, टूटे हुए वर्तनों, बालुका खण्डों, ईटों, छाई तथा ऐसी ही अन्य दीर्घजीवी वस्तुओं को सीमाओं के नीचे जमीन में दबा देना चाहिए। **बृहस्पतिस्मृति**[2] सीमा निर्धारण करने वाली वस्तुओं के और भी अधिक स्थायित्त्व के लिए उन्हें मर्तबानों अथवा वैसे ही अन्य बन्द डिब्बों और बर्तनों में रखने की व्यवस्था देती है। भौमिक सम्पत्ति के दायाद-उत्तराधिकार और बँटवारों से सम्बद्ध जो ये धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाएँ हैं, उनसे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि खेतों और उनके खण्डों के सर्वेक्षण और सीमांकन के निश्चित विधान और उपाय अपनाये जाते रहे होंगे। बौद्ध साहित्य[3] से ज्ञात होता है कि प्रस्तर स्तम्भ, बड़ी कीलें, लकड़ी के बाड़े अथवा नदियों के सोते एवं झरने भी खेतों को सीमाओं के रूप में एक दूसरे से अलग करते थे।

गाँवों, खेतों, भूखण्डों अथवा बगीचों आदि की सीमाओं की हेराफेरी और परिवर्तन के प्रति राज्य सख्ती अपनाता था। इसके दोषिओं को २४ पण के जुर्माने का विधान **अर्थशास्त्र**[4] में प्राप्त होता है। किन्तु **मनुस्मृति**[5] इस अपराध के प्रति और भी कठोर है और उसकी अनुशंसा है कि इस प्रकार के दोषी का अंगच्छेद किया जाना चाहिए। **याज्ञवल्क्य** और **विष्णुस्मृति** जैसी परवर्ती स्मृतियों[6] एवं **महाभारत** में भी तत्सम्बन्धी दण्डों के विधान हैं और ये व्यवस्थाएँ दी गयी हैं कि दोषी व्यक्ति सीमांकनों को पुनः बरकरार करने हेतु विवश किया जाना चाहिए।

किन्तु मानव स्वभाव सर्वदा ऋजु और पूर्णतः ईमानदार नहीं होता और भूसीमांकन सम्बन्धी विवाद आज ही की तरह प्राचीन भारत में भी उठा करते रहे होंगे। राज्य को उन विवादों के निपटाने हेतु सम्बद्ध भूस्वामिओं के जातिबान्धवों, ग्रामवृद्धों, ग्रामसभाओं, पड़ोसिओं, श्रेणियों, निगमों और इसी प्रकार अन्य जानकार एवं विश्वसनीय व्यक्तिओं के साक्ष्य और गवाहियाँ लेनी पड़ती थीं।[7] साथ ही **अर्थशास्त्र**[8] से यह भी ज्ञात होता है कि सीमांकनों के बिगड़ जाने पर यदि मध्यस्थ उनका पुनर्निधारण सही-सही रूप में नहीं कर पाता था तो उसे स्वयं राजकीय दण्ड का भागी होना पड़ता था। धर्मशास्त्रों[9] की भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। सम्बद्ध सन्दर्भों से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि यदि शासन मध्यस्थों अथवा जानकारों के माध्यम से इन सीमाओं को पुनः शुद्ध नहीं करा पाता था तो

---

(१) अष्टम, २५०-२५१।

(२) १९वाँ, २०-२१।

(३) जातक, फॉसबॉल, द्वितीय, पृ. ३७६ और आगे; चतुर्थ, पृ. १६६ और आगे; २८१ और आगे; मिलिन्दपञ्हो, सं. ट्रेंकनर, पृ. २६३।

(४) तृतीय, ६।

(५) अष्टम, २६१।

(६) याज्ञ. द्वितीय १५८; विष्णु, पञ्चम, १७२; महा., शान्तिपर्व, ५६ वाँ, ६२-६३ तथा ७२-७३।

(७) वसिष्ठस्मृति, १६वाँ, १३-१५; अर्थशास्त्र, तृतीय, ६; मनु., आठवाँ, २५८, २६२-२६३; याज्ञ., द्वितीय, १५३-१५४।

(८) तृतीय, ६।

(९) आपस्तम्ब धर्मसूत्र, द्वितीय, २, ६ (७-८); गौतम धर्मसूत्र, १३वाँ, १६; बौधायन, प्रथम, १०, १६, १२; मनु., अष्टम, ६६, २५७।

राजा स्वयं वह कार्य करता था।

कर वसूली की दृष्टि से गाँव कई प्रकार के होते थे।[1] यथा – परिहार ग्राम (विशेष अवस्थाओं में कर मुक्ति); आयुधीय ग्राम (जिन गाँवों से राजकीय सेना के लिए सैनिक प्राप्त होते थे); वे गाँव जो उपज का षष्ठांश न देकर अन्य प्रकार के धान्य, पशु और हिरण्य (सोने) के रूप में कर चुकाते थे; वे गाँव जो कुप्य अर्थात विभिन्न वस्तुओं के रूप में कर प्रदान करते थे; वे गाँव जो **विष्टि** अर्थात् पुरस्कार रहित परिश्रम (बेगार) करके कर चुकाते थे अथवा वे गाँव जो गोरस (दूध, दही, मक्खन, घी) के रूप में अपना कर चुकाते थे।

गाँवों की सीमाओं का निर्धारण एवं करनिर्धारण की सारी पृष्ठभूमि **गोप** नामक अधिकारी तैयार करता था जो दस गाँवों की प्राथमिक इकाई का उत्तरदायित्त्व सभाँलता था। इस हेतु वह गाँव की सम्पूर्ण ऊँची-नीची, सिंचित-असिंचित, बोयी-अनबोयी, बोयी गयी विभिन्न फसलों, सागभाजी, बाग-बगीचों, चरागाहों, उर्वर-अनुर्वर भूमि, वनों-जंगलों, मन्दिरों-देवस्थानों, बलिस्थानों, तीर्थस्थलों, सड़कों, सिंचाई के साधनों आदि का पूर्ण हिसाब-किताव अपने रजिस्टरों में अंकित करता था। गाँव की पूरी जनगणना, सम्पत्तिगणना, व्यक्तिशः आय, व्यय, चरित्र और आजीव्य (जीविका) आदि के भी पंजीकरण उसके कागजों में होते थे। उपर्युक्त उत्तरदायित्त्व गाँवों के सम्बन्ध में जैसे **गोप** का होता था, वैसे नगरों के सम्बन्ध में वह काम **नागरक** का होता था, जिसे मेगास्थनीज़ और स्ट्रैबो मजिस्ट्रेट कहते हैं। **गोप** द्वारा की गयी इन विभिन्न पंजितियों के आधार पर ही करनिर्धारण का काम सही और उचित रूप में होता था। **अर्थशास्त्र** में अध्यक्षप्रचार (द्वितीय अधिकरण) के अन्तर्गत **गोप** के ऊपर **संग्रहण, सार्वटिक, द्रोणमुख** और **स्थानीय** नामक दस, एक सौ, दो सौ और चार सौ गाँवों के बँटवारों का उल्लेख है। जातकों में **राजकम्मिक, रज्जुक, रज्जुगाहक अमच्च** (अमात्य) जैसे विरुद खेतों की माप और सर्वेक्षण करने वाले अधिकारिओं के आते हैं।[2] वे इस बात के द्योतक हैं कि रस्सी (रज्जु) ही भूमिमाप का प्रमुख साधन थी। रज्जुकों के उल्लेख अशोक के अभिलेखों (तृतीय प्रस्तराभिलेख, चतुर्थ और सप्तम स्तम्भाभिलेख) में भी प्राप्त होते हैं। इन सभी सन्दर्भों से एक बात बड़ी सुस्पष्ट है कि सर्वेक्षण अथवा भूमापन के समय उसके पूरी तरह सही और दुरुस्त होने की पूरी-पूरी चिन्ताएँ की जाती थीं। नदियों की बाढ़ों के कारण खेतों की मेड़बन्दियाँ अक्सर बिगड़ जाती रही होंगी और उन्हें बार-बार ठीक कराना पड़ता होगा। स्ट्रैबो[3] इस बात का उल्लेख करते हुए कहता है कि मिस्र की तरह भारतवर्ष में भी खेतों के पुनर्सीमानिर्धारण हुआ करते थे।

भूमिमान

देश (भूमि) और काल (समय) के विभिन्न मानों अथवा मापकों का जो विशद विवेचन; एक दूसरे के साथ परस्पर सबका सम्बन्ध बताते हुए; एक ही मान के कभी-कभी

---

(१) देखें, एम.ए. बुच, इकनॉमिक लाइफ इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ३४३ और आगे।

(२) जातक, फॉसबॉल, द्वितीय, पृष्ठ ३७६; चतुर्थ, पृष्ठ १६९; रिचार्ड फिक्, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ. ११८।

(३) पन्द्रहवाँ, १.५०।

कई पर्यायों को स्पष्ट करते हुए; एक ही मानक की प्रयोगानुसार अलग-अलग लम्बाई अथवा दूरी बताते हुए; कौटिलीय **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २०) उपस्थित करता है, वह कदाचित् किसी भी अन्य प्राचीन भारतीय साक्ष्य में समवेत रूप में एक साथ प्राप्त नहीं होता। भूमि की माप करने वाले सर्वेक्षक के लिए उसकी अनुशंसा है कि उसे (मानाध्यक्ष को) उन विभिन्न मानों की जानकारी रखना अत्यावश्यक था। **अर्थशास्त्र** के अतिरिक्त इन मानों के उल्लेख पालि निकायों, **विनयपिटक**, पाणिनीय **अष्टाध्यायी**, पातञ्जलि **महाभाष्य**, परवर्ती बौद्ध साहित्य, **महाभारत**, **रामायण** और अन्यान्य अभिलेखों में बिखरे पड़े हैं। यद्यपि यहाँ उनकी चर्चा करते समय इन सभी सन्दर्भों को आवश्यकतानुसार उपयुक्त किया जायगा, आगे आने वाले सम्बद्ध उल्लेखों का मूलभूत आधार **अर्थशास्त्र** का विवेचन ही होगा।

भूमिमान स्वभावतः लम्बाई में निश्चित किये जाते थे, क्योंकि किसी भी दूरी को नापने की प्रक्रिया लम्बाई में ही हो सकती है। अतः उसकी रेखाधारित पद्धति ही सर्वमान्य थी। यद्यपि कौटिल्य तत्सम्बन्धी अपना विवेचन परमाणु और धूलिकण से प्रारम्भ करता है, यह स्पष्ट है कि ये मान सैद्धान्तिक मात्र थे, जिनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में भूमिमापन अथवा अन्य किसी भी वस्तु की लम्बाई-मापन में सबसे छोटी इकाई अंगुल की ही होती थी। अंगुल किसी भी मध्यम ऊँचाई (लगभग छह फीट) वाले स्वस्थ मनुष्य की बिचली अंगुलि के बिचले पोर की बराबरी का माना जाता था।[1] आधुनिक मानकों में अंगुल को ३/४ इञ्च अथवा दो सेण्टीमीटर से कुछ कम स्वीकार किया जायगा। क्रमशः चार और आठ अंगुलों का एक-एक धनुर्ग्रह और एक-एक धनुर्मुष्टि होता था और इसी प्रकार बारह अंगुलों का एक वितस्ति। वितस्ति को उत्तर प्रदेश और बिहार की बोलियों में बित्ता अथवा बालिश्त कहा जाता है। वितस्ति के उल्लेख पातञ्जलि **महाभाष्य** (पञ्चम, २. ३७) और बौद्ध ग्रन्थों[2] में भी प्राप्त होते हैं। **अर्थशास्त्र** वितस्ति को छायापुरुष भी कहता है। **महाभाष्य** भी इसके लिये प्रादेश नामक एक दूसरी संज्ञा का प्रयोग करता है।[3] वासुदेवशरण अग्रवाल के मत[4] में बितस्ति अथवा प्रादेश की एक तीसरी संज्ञा दिष्टि भी थी।

कौटिल्य के अनुसार चौदह अंगुलों का एक शम अथवा शल अथवा परिरय अथवा पद होता था। लगता है कि पद (मनुष्य के पैर के पञ्जा) को छोड़कर ये सभी मानक प्रचलित कम थे, सैद्धान्तिक अधिक थे। पद का उल्लेख **महाभाष्य** (२.४४) भी करता है और इसकी मान्य लम्बाई १४ अंगुल या लगभग १० इञ्च होती थी। पद से अधिक़ प्रचलित माप हस्त था जो दो वितस्तियों (बित्तों) के बराबर होता था। हस्त का परिमाण एक मध्यमकद (लगभग ६ फीट ऊँचे) के स्वस्थ व्यक्ति की कुहनी से उसके हाथ की बिचली अंगुलि के पोर के अन्त तक का था। हस्त को अरत्नि अथवा प्राजापत्य (हस्त अथवा हाथ) भी कहा जाता था जो अंगुलि के अन्तिम पोरान्त तक होती थी। किन्तु भूमि, जंगल और चरागाहों को मापने के

---

(१) मध्यमस्य पुरुषस्य मध्यमाया अंगुल्या मध्यप्रकर्षो वाङ्गुलम्। अर्थ., द्वितीय, २०।

(२) जातक, फॉसबाल, जिल्द १, पृ. ३३७, जिल्द ३, पृ. ३१८, जिल्द ६, पृ. ३४१; मिलिन्दपञ्हो, सं. ट्रेंकनर, पृ. ८५, रिज़ डेविड्स, पालि इंगलिश डिक्शनरी, पृ. ७६।

(३) प्रथम, ४.८४।

(४) इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ. २५५।

लिये अलग-अलग लम्बाई वाले हाथों का प्रचलन था, जो कदाचित् भूमि सर्वेक्षकों और मापकों द्वारा अलग-अलग रूप में प्रयुक्त होते थे। कौटिल्य कहता है (द्वितीय, २०) कि एक प्राजापत्य हाथ (हस्त) में ४ अंगुल और मिल जाने पर एक ऐसा हस्तमान होता था जो पौतव (काष्ठतुला) और चरागाहों के नापने में काम आता था। इस हस्तमान को किष्कु अथवा कंस कहा जाता था। इसी प्रकार लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई लोगों का हाथ ४२ अंगुलियों का होता था। जिसे काचकिक किष्क कहा जाता था। दुर्गपड़ाव, दुर्गनिर्माण अथवा राजकार्यों में मापन हेतु इसी हाथ का प्रयोग होता था।

वितरित, हस्त एवं पाद के अतिरिक्त दण्ड (लकड़ी का पतला डण्डा अथवा आजकल की लग्गी) भी एक अन्य भूमिमापक था। **अर्थशास्त्र** में इसकी लम्बाई ९६ अंगुल बतायी गयी है।[1] इसे ही बौद्ध ग्रन्थों[2] में यट्ठि अथवा यष्टि (छड़ी) कहा गया है, जिसकी लम्बाई सात रतन अथवा हस्त के बराबर होती थी। किन्तु **अर्थशास्त्र** में ब्राह्मणों को दान में दी गयी भूमि के मापक दण्ड की लम्बाई १९२ अंगुल बतायी गयी है।[3] इस प्रकार अलग-अलग सन्दर्भों में दण्ड ४, ७ अथवा ८ हस्त के बराबर होता था। इसी कारण यह निष्कर्ष निकाला गया है[4] कि कदाचित् दण्ड के ये मापक क्रमशः भूमिकर लगाने, बौद्ध भिक्षुओं को भूमि दान देने और ब्राह्मणों को दिये जाने वाले **ब्रह्मदेय** गाँवों को मापने हेतु अलग-अलग प्रयुक्त किये जाते थे – सम्भवतः इस हेतु कि जहाँ राज्य अपने लिए अधिक कर (आय) की व्यवस्था करना चाहता था, वहीं बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण विद्वानों के प्रति उदारता भी बरतता था।

अर्थशास्त्र[5] में धनु (धनुष) नामक एक अन्य मापक का उल्लेख है जो चार हस्त (हाथ) अथवा ९६ अंगुलों के बराबर होता था। किन्तु सड़कों और दुर्ग-दीवारों को मापने में १०८ अंगुल अर्थात् साढ़े चारहाथ के धनु का प्रयोग किया जाता था।[6] निष्कर्ष यह निकाला गया है[7] कि दण्ड और धनु प्रायः छह फीट अथवा ९६ अंगुलों के बराबर हुआ करते थे।

पातञ्जलि **महाभाष्य** में अयश नामक एक अन्य भूमिमापक का उल्लेख है, जिसे वैजनाथ पुरी ने १०४ अंगुलों के बराबर माना है।[8] स्पष्ट है कि यह दण्ड अथवा धनु से कुछ बड़ा होता था।

किन्तु जिस भूमिमापक का बौद्ध साहित्य और उसके अतिरिक्त भी बार-बार उल्लेख आता है उसकी संज्ञा रज्जु थी, जिसका प्रयोक्ता अधिकारी रज्जुग्राहक अमात्य (रज्जुगाहक अमच्च) अथवा रज्जुक या **राजुक** कहा जाता था। **अर्थशास्त्र** में भी इसका उल्लेख आता

(१) द्वितीय, २०।
(२) महावस्तु, पाटेसो., जिल्द ३, पृ. ४४१ और आगे।
(३) द्वितीय, २०।
(४) नरेन्द्रनाथ खेर, ऐग्रेरियन् एण्ड फिस्कल् इकानॉमी इन दि मौर्यन् एण्ड पोस्ट मौर्यन ऐज, १९७३, पृ. ५५।
(५) द्वितीय, २०।
(६) वहीं।
(७) नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ५५।
(८) महाभाष्य, प्रथम २.४५; इण्डिया इन दि टाइम ऑफ पातञ्जलि, पृ. १३८।

है और, तद्नुसार, इसकी लम्बाई ४ अरन्तियों अथवा ९६ अंगुलों की लम्बाई वाले १० दण्डों के बराबर होती थी। यह आजकल के लगभग २० गज अथवा १९ मीटर के बराबर था। **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २०) दश दण्डों के बराबर एक रज्जु और दो रज्जुओं के बराबर एक परिदेश का मान निश्चित करता है। जातक ग्रन्थ उसम नामक एक अन्य मापक का भी बार-बार उल्लेख करते हैं। इसे बीस यष्टियों के बराबर स्वीकार किया गया है।[1] चूँकि यष्टि (यत्थि) सात हाथों की होती थी, एक उसम की लम्बाई १४० हाथों की हुई।

किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, निवर्तन[2] नामक एक अन्य भूमिमापक का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियों के बाद के प्रायः सभी अभिलेख और साहित्यिक ग्रन्थ इसी भूमिमापक का उल्लेख करते हैं। **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २०) और धर्मसूत्रों में इसका उल्लेख आता तो है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इसका प्रयोग कम होता था। कौटिल्य एक निवर्तन को तीन रज्जुओं के बराबर (त्रिरज्जुकं निवर्तनम्) मानता है। किन्तु अभिलेखों में दानदत्त भूमिखण्डों को निवर्तन नामक भूमिमान में बताये जाते हुए भी कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि इसका वास्तविक परिमाण क्या था।[3] डॉ. अ.स. अल्तेकर,[4] डॉ. प्राणनाथ,[5] डॉ. शि.कु. दास[6] और डॉ. रा. श. शर्मा[7] जैसे आधुनिक विद्वान् क्रमशः इसकी बराबरी आजकल के ५ एकड़, एक एकड़, एक व्यक्ति के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त आयत्त वाला भूखण्ड और १$^{1}/_{2}$ एकड़ से क्रमशः करते हैं। उनका पारस्परिक वैमत्य इस बात का निर्देशक है कि अभी तक कोई भी सूत्र ऐसा नहीं मिल सका है जिससे निवर्तन की लम्बाई-चौड़ाई को किसी आधुनिक भूमिमान अथवा उसके किसी हिस्से से समीकृत किया जा सके। कौटिल्य के इस कथन के आधार पर कि एक निवर्तन ३ रज्जुओं के बराबर होता था, नरेन्द्रनाथ खेर[8] ने यह कहा है कि यह ६० x ६० = ३६०० वर्ग गज के बराबर होता था। कौटिल्य पुनः कहता है कि एक निवर्तन में दो दण्ड और बढ़ा देने से एक बाहु बनता था। स्पष्ट है कि यहाँ बाहु बाँह (मनुष्य का हाथ) के लिए प्रयुक्त नहीं है। पुनः आगे कथित है कि दो हजा़र धनुओं का एक गोरुत (संस्कृत का क्रोश = कोस = लगभग दो मील = लगभग ३ किलोमीटर) और चार गोरुत (कोस) का एक योजन होता है। रिज़् डेविड्स्[9] और चाइल्डर्स् ने बौद्ध ग्रन्थों के गाउत की बराबरी गोरुत अथवा कोस से की है।

यद्यपि योजन प्राचीन भारत का बहुप्रचलित और बहूल्लिखित भूमिमान था, आधुनिक

(१) रिज़् डेविड्स्, पालि-इंगलिश डिक्शनरी, पृ. १५७, चाइल्डर्स्, डिक्शनरी ऑफ पालि लैंग्वेज, पृ. ५३७।

(२) जैन ग्रन्थ उवासगदसाओ में इसे ही नियत्तन कहा गया है – जिल्द १, पृ. ७।

(३) बूहलर इसे आधुनिक बीघे का प्राचीन मानक मानते हुए इसकी आयत्तता ४००० वर्ग हस्त बताते हैं – सैक्रेड् बुक्स् ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १४, १११-११२ की पादटिप्पणी, जिसे नरेन्द्रनाथ खेर गलत कहते हैं।

(४) इण्डियन् कल्चर, जिल्द २, पृ. ४२६।

(५) ए स्टडी इन दि इकॉनॉमिक कण्डीशन् ऑफ ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ८३।

(६) जगदीशचन्द्र जैनकृत - लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐज़ डेपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स्, पृ. ६० पर उद्धृत।

(७) जबिरिसो, १९५८, पृ. २२७।

(८) उपरिनिर्दिष्ट, पृ. ५७।

(९) पालि-इंगलिश डिक्शनरी, पृ. ७६, डिक्शनरी ऑफ पालि लैंग्वेज, पृ. १४५।

विद्वानों में इस बात पर मतैक्य नहीं है कि आधुनिक दूरीमापकों की शब्दावली में इसकी वास्तविक दूरी कितनी थी। बार्नेट् और फ्लीट जैसे विद्वान् यह मानते हैं कि योजन दो प्रकार के होते थे - एक बड़ा और दूसरा छोटा जो क्रमशः ९ मील और उसकी आधी लम्बाई (४१/२ मील) के थे।[1] पुनः, फ्लीट बड़े योजन को मागध योजन की संज्ञा देते हैं। यही नहीं, श्वान्-च्वाङ्ग् के साक्ष्यों के आधार पर वे एक तीसरे योजन की भी कल्पना करते हैं, जिसकी दूरी १२.१२ मील होती थी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि योजन की लम्बाई की इन विभिन्न कल्पनाओं के पीछे कोस अथवा क्रोश (गोरुत, गाउत अथवा गव्यूति) की दूरी की अलग-अलग कल्पनाएँ ही कारण थीं। यों, **अर्थशास्त्र** स्पष्टतः यह कहता है कि एक योजन दो हजार धनुओं वाले प्रत्येक गोरुत का चौगुना होता है (द्विधनुसहस्रगोरुतं चतुर्गोरुतं योजनम्)। चूँकि गोरुत और क्रोश एक ही थे, एक योजन की लम्बाई आठ मील ठहरती है जो परम्परया भारतीय लोगों द्वार अब भी मान्य है। **अर्थशास्त्र** के टीकाकार भट्टस्वामिन् भी इसी व्याख्या को स्वीकार करते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के कुछ जिलों से मिलने वाले अभिलेखों[2] से हल नामक एक अन्य भूमिपरिमाण का परिचय प्राप्त होता है और यह अनुमानित है कि यह इतने आयत्त वाला भूमिक्षेत्र था, जिसकी जुताई-बुआई एक हल से की जा सकती थी। किन्तु उसका आयत्त क्या हो सकता था, इस पर आधुनिक विद्वानों में मतवैभिन्य है। भिक्षुहल, दोहलिक और कुल (मनु., सप्तम, ११९) नामक अन्य भूमिपरिमाणों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जो सभी अस्पष्ट हैं। पालि निकायों में करीष नामक एक और भी भूमिमान चर्चित है, परन्तु उसकी भी ठीक-ठीक आयत्तता ज्ञात नहीं है।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में भूमिमापन के एक नहीं प्रत्युत् अनेक प्रतिमानों के प्रयोग किये जाते थे जो कालान्तर और देशान्तर से अलग-अलग होते रहे होंगे। **अर्थशास्त्र** यह अनुशंसा करता है कि इन प्रतिमानों का निर्माण राजकीय कार्यशालाओं में होना चाहिए और वे राजकीय मुद्राओं से मुद्रित किये[3] जाने चाहिए। ये ही प्रतिमान राज्याधिकारिओं और आम लोगों द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे और मुद्रांकित प्रतिमान ही मान्य थे। स्ट्रैबो[4] भी कहता है कि नगर के मजिस्ट्रेटों का एक वर्ग सभी प्रकार के बाट-माप, मान, प्रतिमान अर्थात् तौलने और नापने वाली इकाइयों को देखता था। **मनुस्मृति**, (सप्तम, ४०३) की भी अनुशंसा है कि विभिन्न मापकों को राज्य की ओर से कम से कम दो बार मुद्रांकित और परीक्षित किया जाना चाहिए। इसी आधार पर प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में ये व्यवस्थाएँ दी गयी हैं कि प्रतिमानों में हेराफेरी करके यदि कोई भी धोखाधड़ी होती है तो राज्य की ओर से दोषी व्यक्तिओं को दण्ड दिया जाना चाहिए।[5]

---

(१) बार्नेट्, ऐण्टीक्विटीज़ ऑफ इण्डिया, पृ. २१८; जराएसो, १९०६, पृ. १०११।

(२) दि.च. सरकार, सेलेक्ट इन्शक्रिप्शनस्, भाग-२, पृ. २१९, २२०, २२२, २२७; एइ, जिल्द १, पृ. ६; नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ५९।

(३) द्वितीय, १९।

(४) पन्द्रहवाँ, १.५१।

(५) वसिष्ठस्मृति, नवम् १३; विष्णु., पञ्चम्, १२२; याज्ञ., द्वितीय, २४३।

भूस्वामित्त्व

प्राचीन भारत में भूमि का मालिक कौन था, यह प्रश्न भारत पर अंग्रेजी शासन काल के समय सिद्धान्तवाद की कुछ विचित्र पेचीदगियों में उलझा हुआ था और मुख्यतः इसके दो पक्ष थे – एक योरोपीय साम्राज्यवादी इतिहासकारों का और दूसरा कुछ योरोपीयों सहित भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों का। विन्सेण्ट स्मिथ, विल्सन् और जेम्स् स्टुअर्ट मिल् जैसे अंग्रेज साम्राज्यवादी इतिहासकारों[1] का मत था कि समस्त भूमि राजा अथवा राज्य के स्वामित्त्व में होती थी और जो उसे जोतता बोता था वह भूमि के बदले प्रतिकर देकर ही वैसा करता था। उनके मतों के आधार कौटिल्य[2] के कुछ ऐसे सन्दर्भ और व्यवस्थाएँ थीं जिनके अनुसार मछली मारने, नाव के पार-उतार, शाक-सब्जी के व्यापार, तटाक, झील, खानों, जंगलों आदि पर राजकीय अधिकार होता था। **अर्थशास्त्र** के टीकाकार भट्टस्वामी का कथन है कि "जो शास्त्रों के जानकार हैं वे यह मानते हैं कि राजा भूमि और उदक दोनों का ही स्वामी है और जनस्वामित्त्व इनके अतिरिक्त वस्तुओं पर ही है।" किन्तु जैमिनि के आधार पर दूसरी ओर बेडेन पावेल[3], ब्रिग्स्, सर जान कैम्पवेल जैसे इतिहासकार प्राचीन भारत में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व के हिमायती थे। भारतीय इतिहासकारों में इस पक्ष के सबसे प्रबल समर्थक थे काशी प्रसाद जायसवाल, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **हिन्दू पॉलिटी** में इसका जोरदार प्रतिपादन किया। उनके मत में भूमि से वसूल किया जाने वाला राजकीय भाग उस पर राज्य के भूस्वामित्त्व का बोधक न होकर राज्य द्वारा कृषि को दिए गये संरक्षण का प्रतीक मात्र था। किन्तु अनेकानेक ऐसे अध्ययन अव आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों ही मान्यताएँ अपेक्षया कुछ अधिक ही सैद्धान्तिक और अतिवादी हैं और प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में ऐसे वहुत से सन्दर्भ हैं जो भूमि (केवल बोये-जोते वाले खेत ही नहीं अपितु सभी प्रकारों की भूमि) पर जातीय अथवा सामुदायिक, व्यक्तिगत और राजकीय इन तीनों ही प्रकार के स्वामित्त्व के प्रमाण उपस्थित करते हैं। वास्तव में **अर्थशास्त्र** जैसे प्रमुख विचारक ग्रन्थों में इस सम्बन्ध के जो विभिन्न उल्लेख आते हैं, वे स्वयं में ही परस्पर विरोधी हैं और वे किसी भी प्रकार केवल किसी एक निष्कर्ष की ओर इंगित नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के प्रकारों की विभिन्नता के कारण ही उन पर स्वामित्त्व की भिन्नताएँ भी थीं। उनमें किसी एक प्रकार की एकरूपता का आरोपण नहीं किया जा सकता।

यहाँ यह भी पूरी तरह विचारने की आवश्यकता है कि भूस्वत्त्व अथवा भूस्वामित्त्व से तात्पर्य क्या है? स्वत्त्व अथवा स्वामित्त्व केवल भोग अथवा उपयोग मात्र से भिन्न एक ऐसी विधिक स्थिति का द्योतन करता है जिसमें स्वत्त्वधारी अथवा स्वामित्त्वधारी सम्बद्ध भूखण्ड अथवा सम्पत्ति के राजकीय पंजिकाओं में स्वनाम में होने, उसकी बिक्री करने, उसको दान

---

(१) अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १९२४, पृ. १३७ और आगे।

(२) राजा भूमेर्पतिर्दृष्टो शास्त्रज्ञैरुदकस्य च।
ताभ्यामन्यत्तु यद्रव्यं तत्र स्वाम्यं कुटुम्बिनाम्।। अर्थ. द्वितीय, २४ वाँ अध्याय।

(३) बेडेन पावेल का लेख, जराएसो, जिल्द १०, 'इण्डियन विलेज कम्यूनिटीज'।

देने तथा अन्य प्रकार के उनके हस्तान्तरण में स्वतंत्र हो और उसकी मृत्यु हो जाने पर उत्तराधिकार में उसके वैध उत्तराधिकारिओं के हाथों उसके जाने में किसी प्रकार की बाधा न हो। **मनुस्मृति** (नवम. ४४) में कथित है कि "नीची भूमि (केदार) उसी की होती है जो उसके स्थाणु" (धासपातशैवालककणादि) "को साफ करता है और मृग उसी का होता है जो पहले उसका शिकार करता है।" इस कथन में स्वामित्त्व और भोग दोनों ही के भाव छिपे हुए हैं। धर्मशास्त्रों[1] से स्पष्ट है कि स्वामित्त्व में भूमि के विक्रय द्वारा हस्तान्तरण, उसके दान, रेहन और उसके उत्तराधिकार के तत्त्व सम्मिलित थे। कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[2] भी इससे सहमत है।

सामुदायिक स्वामित्त्व

राज्य संस्था के उदय के पूर्व अथवा उसकी कुछ अविकसित अवस्थाओं के समय भी भूमि अथवा अन्य प्रकार की सम्पत्तियों के मूल उपयोग, उपभोग अथवा सहभोग के कारण मानव मन में मेरा और तेरा का भाव अवश्य उत्पन्न हुआ होगा। चूँकि अत्यन्त प्रारम्भिक समाज व्यक्तिपरक न होकर कुलपरक, प्रजातिपरक अथवा जातिपरक था, स्वत्त्व के ये भाव भी जातीय और सामुदायिक ही रहे होंगे। साथ ही प्रकृति द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक भूखण्ड अथवा भूप्रकार थे, यथा – पर्वत, नदी, तटाक, सोते-झरने, वन-बाग, रास्ते, परिवह, चरागाह आदि – जिनका सभी लोग समान रूप से उपभोग करते थे। सामुदायिक स्वत्त्व का बोध यहीं से प्रारम्भ हुआ होगा। बाद में राज्य संस्था के पूर्ण प्रकारेण विकसित हो जाने पर भी कभी भी यह बोध पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ। यह आदिम साम्यवाद था, जब इन भूप्रकारों के उपयोग की सामुदायिकता में किसी प्रकार की रोक नहीं थी। किन्तु राज्य अपनी सर्वकश शक्ति के विकास के साथ इसमें हस्तक्षेप करने लगा और कालान्तर में वह प्रकृत्या प्रदत्त सभी सुविधाओं का धीरे-धीरे मालिक बन बैठा।

इस बात के अनेक उदाहरण संस्कृत महाकाव्यों, उत्तरवैदिक ग्रन्थों, पालि निकायों, स्मृतियों, यहाँ तक कि **अर्थशास्त्र** से प्राप्त होते हैं कि भूमि के बहुविध प्रकारों पर सामुदायिक स्वामित्त्व स्वीकृत था। जो जातियाँ (राज्य) नृपतन्त्रात्मक न होकर संघात्मक अथवा गणात्मक थीं, उनमें यह परिपाटी विशेष रूप से प्रचलित थी। उत्तर पश्चिम के उत्तरकुरुओं की प्रशंसा करते हुए **महाभारत** और **दीघनिकाय** यह कहते हैं कि उनमें व्यक्तिगत स्वामित्त्व की प्रथा का अभाव था।[3] जातकों से (फॉसबाल, द्वितीय, ७६ और आगे; १०६ और आगे) खेतों पर सामुदायिक स्वत्त्व के निर्देश प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में **कुणालजातक** के **पच्चुपन्नवत्थु** की वह कथा बड़ी प्रसिद्ध है, जिसमें रोहिणी नदी के दो किनारों पर वसे हुए शाक्य और कोलिय गणों के बीच इस बात को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया कि गर्मी से सूखती हुई दोनों तरफ की ईख की फसल के लिए उस नदी पर बने हुए बंधे में रुके हुए थोड़े से पानी का कौन पक्ष पूरा उपयोग करके अपनी फसल को सूखे से बचा ले, क्योंकि

---

(१) गौतमधर्मसूत्र, १६वाँ, १७; बौधायनधर्मसूत्र, तृतीय, १०,१५; मनु., नवम ११४; बृहस्पतिस्मृति, १८वाँ, ६ और आगे।
(२) तृतीय, ९।
(३) अ.ना. बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ४८ पर उद्धृत; महा., आदि., ६८, २ और आगे।

पानी दोनों ओर की फसलों के लिए पर्याप्त नहीं था। वास्तव में नदी के किनारों के ये गन्ने के खेत शाक्यों और कोलियों द्वारा सामूहिक रूप में बोये गये थे, जिसके लिए **गणराजकुलानं** पद का प्रयोग हुआ है। जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रामक्षेत्र (गामखेत्त) के बाहर के चरागाहों वाले क्षेत्र तथा वन्य और जंगली सम्पदा पर ग्रामवासिओं का समानरूप से अधिकार होता था।[1] **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २; तृतीय, १०), **मनुस्मृति** (अष्टम, २; ३७) एवं **याज्ञवल्क्यस्मृति** (द्वितीय, १६७) भी इस बात की व्यवस्था देती हैं कि राजा को समानरूप से उपयुज्य चरागाहों की विशेष व्यवस्थाएँ करनी चाहिए। इसी प्रकार, ग्रामद्वार, तटाक, सड़कें, पुल-पुलिया, शाला (संस्थागार, दानशाला, पुण्यशाला, धर्मशाला) पोखरे-पोखरियाँ, आरामोद्यान जैसे भूखण्डों पर भी सामुदायिक अथवा सामूहिक अधिकार होते थे।[2] किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उन दिनों गाँवों में खेती भी सामूहिक अथवा सामुदायिक रूप में ही होती थी। अनेक सन्दर्भों से यह भी जान पड़ता है कि सामूहिक भोग के (वन्य-जंगलों, नदी, पार-उतार और सिंचाई की सुविधाओं जैसे अन्यान्य भोग) भूखण्डों पर अन्तिम स्वत्त्व राजा अथवा राज्य का ही होता था, जो उनकी विशेष परिस्थितियों के कारण उनके उपयोग-भोग-रखरखाव और प्रबन्ध की अन्तिम जिम्मेदारी सभाँलता था।

मैकडॉनेल और कीथ का मत है[3] कि कम से कम वैदिक साहित्य से तो ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता जिससे यह साबित होता हो कि उस समय सम्पत्ति पर या तो किसी प्रकार का सामुदायिक अधिकार था अथवा खेती ही सामुदायिक रूप से की जाती थी। किन्तु एक बात ध्यातव्य है कि उस युग में भी राजा किसी भूखण्ड का दान तभी कर सकता था[4] जब पास-पड़ोस के लोग भी उस हेतु उससे सहमत हों। इस बात में कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि नवैतिहासिक युग के पूर्व भूमि पर पूर्णरूप से सामुदायिक अधिकार व्याप्त था। वह आगे के स्मृतिकारों की इस व्यवस्था से प्रमाणित होता है कि भूमि का हस्तान्तरण तब तक पूर्णरूप में मान्य नहीं था जब तक उसमें ग्राम, ज्ञाति (बृहत्तरकुल), सामन्त (पड़ोसी) और दायादों की अनुमति न हो।[5] पीछे हम देख चुके हैं कि गणतन्त्रों में भूमि के सामुदायिक दोहन और उपयोग की परम्पराएँ विद्यमान थीं। तदनन्तर, क्लासिकी (यूनानी-रूमी) लेखकों के साक्ष्यों पर यदि ध्यान दिया जाय तो उनसे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[6] कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** की अनुशंसा है (सप्तम, ११) कि परती पड़ी हुई भूमि को राजा उन हीन अथवा शूद्रजातीय लोगों को दे जो उस पर बसने और उस पर प्रथम कृषि करने के लिए

---

(१) जातक, फॉसबाल, प्रथम, १६४ और आगे; द्वितीय, ३५८; तृतीय १३० और आगे तथा १४६; चतुर्थ, ३५६; पञ्चम, १०३; रिज् डेविड्स् बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. २३ और आगे तथा ४५।

(२) अर्थ, द्वितीय, १; तृतीय, १०; जातक; जिल्द १, पृ. १६६, २३६, ३३६ आदि; जराएसो, १६०१, पृ. ८६७ और आगे; बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. २०।

(३) वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द १, पृ. १००।

(४) शतपथ-ब्राह्मण, प्रथम, ७.३.४; अष्टम, १.१.८।

(५) स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च।
हिरण्योदक दानेन षड्भिर्गच्छतिमेदिनी।। याज्ञ., द्वितीय, ११३ पर मिताक्षरा टीका

(६) देखें, नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ४३।

तत्पर हों। सम्भवतः ये नवोपनिविष्ट लोग ऐसी अकृष्ट भूमि में सामूहिक रूप में खेती करते थे और राजा अथवा राज्य को जो कर दिए जाते थे, उनके देय का उनका उत्तरदायित्त्व भी सामूहिक ही होता रहा होगा। कौटिल्य स्वयं कहता है कि ऐसी भूमि पर प्रथम खेती में बहुत ही अधिक द्रव्य, साधन और मनुष्यों की आवश्यकताएँ होती हैं।[1] बढ़ती हुई जनसंख्या को छितराकर बसाने और उसके लिए भोजन की सुविधा उपस्थित करने में तब तक प्रचलित हो चुके लौह उपकरण इन नये उपनिवेशों को बसाने में बड़े ही कारगर सिद्ध हुए होंगे। तथापि ये उपक्रम इक्के-दुक्के व्यक्तियों के वश के नहीं थे। अतः राज्य सामूहिक रूप से, साधन सुविधाओं को जुटाते हुए, सामूहिक लाभांश का लालच देकर, इन नव सन्निवेशों का प्रेरक बनता था।

निजी स्वामित्त्व

प्रारम्भिक धर्मसूत्र और बाद में लिखी जाने वाली स्मृतियाँ सम्पत्ति पर निजी स्वामित्त्व के सिद्धान्त को पूरी तरह स्वीकार करती हैं। उनमें सम्पत्ति (भूसम्पत्तिसहित) की बिक्री, हस्तान्तरण, गिरवी, धरोहर, बँटवारे और उत्तराधिकार के विस्तृत और विवेचित नियम प्राप्त होते हैं। **आपस्तम्बधर्मसूत्र** (प्रथम, ६.१८; द्वितीय, ११.२८) का कथन है कि कोई व्यक्ति जमीन की उपज का कुछ निश्चित भाग लेने के बदले अपनी भूमि किसी अन्य को जोतने-बोने को दे सकता है। अन्य धर्मशास्त्रकार[2] बच्चों और नाबालिगों की सम्पत्ति की तब तक देखरेख करने की राज्य अथवा राजा को व्यवस्था देते हैं जब तक वे वयस्क होकर उसका स्वयं प्रबन्ध करने में सक्षम न हो जाँय। इस अनुशंसा को **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, १) भी मान्यता देता है। वहाँ दूसरों की भूमि को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने वालों को दण्ड की व्यवस्था सहित **समाहर्ता** के अधीन कार्य करने वाले अधिकारिओं को भूमिकर के सही-सही निरूपण हेतु व्यक्तिगत क्षेत्रों के पूरे-पूरे कागजपत्र रखने के निर्देश दिए गये हैं।[3] अल्तेकर महोदय पातञ्जलि **महाभाष्य** के हवाले से भी जोत की भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व का प्रमाण देते हैं।[4]. बौद्ध साहित्य[5] में राजाओं द्वारा सभी करों और भारों से मुक्त कभी-कभी पूरे गाँवों के अथवा भूमिखण्डों के दान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। श्रावस्ती के महासेठ अनाथपिण्डिक द्वारा एक काल्पनिक मूल्य चुकाकर जेतराजकुमार के जेतवन नामक बगीचे की खरीद के लिए स्वयं तैयार हो जाने, किन्तु राजकुमार की अस्वीकृति के कारण उसे अदालत तक खींच ले जाने की प्रसिद्ध कथा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व के कई पक्षों को एक साथ उजागर करती है। आम्रपालि ने इसी प्रकार वैशाली में

---

(१) अर्थ., सप्तम, ११।

(२) गौतमधर्मसूत्र, १०वाँ, ४८; वसिष्ठस्मृति, १६वाँ, ८-९; मनु., अष्टम, २७; विष्णुस्मृति, तृतीय, ६५।

(३) प्रथम, ७ और द्वितीय, ३५। राजकीय भूमि सीता और व्यक्तिगत भूमि भाग कहलाती थी।

(४) स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ४८ और आगे।

(५) जातक, फॉसबाल, जिल्द १, पृ. ९२, १५३; जिल्द २, पृ. ६६; जिल्द ४, पृ. २६२; दिव्यावदान पृ. ४६३; महावस्तु, पाटेसो., जिल्द १, पृ. ३४६; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, पृ. १७८ और आगे।

(६) देखें, हार्डी, मैन्युअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ. २१८; बरुआ, भरहुत, जिल्द २, पृ. ३१; चुल्लवग्ग, ४/९।

बौद्धसंघ को भूमि दान किया था।[६] कसिभारद्वाजसुत्त इस तथ्य का एक प्रमुख उदाहरण है जहाँ भारद्वाज नामक ब्राह्मण प्रसेनजित से प्राप्त एक विशाल भूक्षेत्र पर अपने नौकर-चाकरों (खेतिहर मजदूरों) द्वारा ५०० हलों से खेती कराता था।[१] राजाओं, श्रीमन्तों तथा संघों-श्रेणियों द्वारा भूमिदान की दीर्घकालिक और सारे भारतवर्ष में प्रचलित प्रथा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व का सबसे प्रमुख उदाहरण प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों अथवा निबन्ध ग्रन्थों के वे उल्लेख बड़े ही समीचीन हैं, जहाँ ये प्रश्न उठाये गये हैं कि क्या सार्वभौम राजा अथवा अन्य बड़े-छोटे शासक अपनी राज्याधीन समस्त भूमि का दान कर सकते हैं या नहीं। वहीं ये उत्तर भी प्राप्त होते हैं कि चूँकि वे उस समस्त क्षेत्र के मालिक (स्वत्त्वाधिकारी) नहीं हैं वे उसका मनमाना और स्वतंत्र विनियोग अथवा दान नहीं कर सकते।[२] पहली ईसवी सदी के बाद से भूमिदानों के आभिलेखिक अंकन की अखिल भारतीय प्रथा कृषियोग्य भूमि और बागबगीचों पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व के सिद्धान्त की भलीभाँति पुष्टि करती है। ये दान जहाँ एक ओर राजाओं द्वारा दिये जाते थे, वहीं दूसरी ओर वे व्यक्तिगत लोगों और सामुदायिक संस्थाओं द्वारा भी दिये जाते थे। उनमें दानग्रहीता या तो कोई ब्राह्मण विद्वान्, पुरोहित या मठाधीश होता था अथवा कोई बौद्ध संघ या जैन संघ अथवा कोई विद्यालय या मन्दिर जैसी सांस्कृतिक-सामाजिक संस्था। इन दानों के उद्देश्य दानप्राप्तिकर्ताओं के नित्यप्रति के खर्चों को चलाने पर केन्द्रित थे और दानकर्ता अपने दानकार्य से पुण्यलाभ की कामना करता था।

भूमिदानों के सम्बन्ध में एक तथ्य यह है कि कभी-कभी राजाओं द्वारा सम्पूर्ण ग्राम ही ब्राह्मणों को दान कर दिये जाते थे। किन्तु इन दानों से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि सम्बद्ध गाँवों की कृषियोग्य सारी भूमि पर राज्य अथवा राजा का स्वामित्त्व था जो दान के माध्यम से किसी एक व्यक्ति (दानग्रहीता) को हस्तान्तरित कर दी जाती थी। उनसे दानग्रहीता को सम्बद्ध ग्राम की भूमि पर स्वत्त्व नहीं अपितु उससे प्राप्त होने वाले राजकीय करों मात्र की वसूली की सुविधा प्राप्त होती थी। कृषिभूमि पर स्वत्त्वाधिकार पहले की ही तरह उसके जोतने वाले का ही बना रहता था। तथापि इसके साथ ही, ऐसे भी अभिलेख प्राप्त होते हैं जो भूमिखण्डों पर दानग्रहीता के पक्ष में स्वत्त्वाधिकार के हस्तान्तरण का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।[३] निश्चय ही दान दिये जाने वाले ये भूखण्ड दाता (शासक) के स्वामित्त्व में पहले से ही होते थे। कुछ अभिलेखों में गाँवों में इतस्ततः स्थित राजकीय स्वामित्त्व के ऐसे भूखण्डों को राज्यवस्तु की संज्ञा दी गयी है जो ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे।[४]

---

(१) सुत्तनिपात, सुत्त सं. १/४; संयुत्तनिकाय, पाटेसो, जिल्द १, पृ. १७१।

(२) देखिए, पूर्वमीमांसा पर शबर की टीका –
न भूमिः स्यात्सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्। षष्ठ, ७.३।
य इदानीं सार्वभौमः स तर्हि भूमिं दास्यति। सोऽपि नेति क्रमः। कुतः। सार्वभौमत्त्वे त्वस्येतेदेवाधिकं यदसौ पृथिव्याः सभूतानां व्रीह्यादीनां रक्षणेन निर्दिष्टस्य कस्यचिद्भागस्येष्टे न भूमेः।

(३) देखे – प्रथम ध्रुवसेन का अभिलेख, एइ. जिल्द ३, पृ. ३२१।

(४) धेण्डलूरग्रामे राज्यवस्तु भूत्वा स्थितं क्षेत्रं ब्राह्मणाय प्रदत्तम्।
एइ., जिल्द १, पृ. २३६। ऐसे छिटपुट राजकीय भूखण्डों के दान के प्रमाण सन्दर्भो हेतु देखें – एइ., जिल्द ६. पृ. १०३; एइ., जिल्द ३, पृ. २६०-२६२; एइ., जिल्द ६, पृ. ३६ और २०३; एइ., जिल्द ६, पृ. ५६।

यहाँ इस विषय पर भी विचार करना चाहिए कि भूमि पर निजी स्वामित्त्व के भाव का विकास किस क्रम से हुआ होगा। अत्यन्त प्रारम्भ में भूमि अथवा वैसी ही अन्य वस्तुओं पर निजी स्वामित्त्व का भाव बहुत स्पष्ट नहीं रहा होगा। प्रयोग के कारण ही धीरे-धीरे इस भाव का विकास हुआ होगा। धर्मशास्त्रों और बाद के तदनुसारी ग्रन्थों में इस विकास के क्रम की अग्रसरिता दिखायी देती है। यहाँ **मनुस्मृति** (नवम, ४) के उस कथन को एक बार पुनः उद्धृत किया जा सकता है कि भूमि उसकी हुई जिसने सर्वप्रथम उसकी घासपात निकाली और मृग उसका हुआ जिसने उसे मारा। ठीक इसी प्रकार के सन्दर्भ वा.रा. (द्वितीय, ३२.३०) और जातक कथाओं (फॉसवॉल, चतुर्थ, पृ. २८६) एवं **मिलिन्दपञ्हो**[1] में भी प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे भूमि पर मनुष्य का भोगपरक अधिकार जितना ही पुराना और दीर्घकालिक होता गया, उस पर उसके स्वत्त्व की स्वीकृति उतनी ही प्रबल और सर्वमान्य होती गयी। आगे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों ने इस स्वत्त्वाधिकार को वैध स्वीकृति देते हुए यह व्यवस्था दी[2] कि किसी सम्पत्ति (भूमि सम्पत्ति सहित) का स्वामित्त्व पाँच प्रकारों से स्वीकृत है – उत्तराधिकार, क्रय, विभाजन, हस्तगतीकरण और प्राप्ति। **मनुस्मृति** (दशम, ११५) सात प्रकारों से स्वामित्त्व स्वीकार करती है – उत्तराधिकार (दाय), क्रय, लाभ (मित्रता से प्राप्त), जय (विजय), प्रयोग (अर्थात् सूद के एवज में प्राप्त), किसी कार्य के बदले में प्राप्त अथवा पुण्यात्माओं द्वारा दत्त दान में प्राप्त। **बृहस्पतिस्मृति** (सप्तम २३) की भी प्रायः इसी प्रकार उक्ति है। भूस्वामित्त्व अथवा अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर निजी स्वामित्त्व के इस भाव की स्वीकृति के फलस्वरूप ही इन ग्रन्थों में राज्य को ये अनुदेश दिये गये हैं कि वह उनकी रक्षा में सतत् प्रयत्नशील रहे। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** (तृतीय, १६) में जहाँ यह कथित है कि केवल सीमाबन्धन अथवा घेरेबन्दी से (अर्थात् कोरे अधिकार अथवा भोग मात्र से) स्वामित्त्व की प्राप्ति नहीं होती तो वहाँ भी उस सम्पत्ति अथवा भूमि पर विधिक स्वामित्त्व के अपेक्षाकृत अधिक सशक्त भाव से ही उसका अन्तर दिखाया गया है। किन्तु धीरे-धीरे किसी भी भूमि पर किसी का दीर्घकालिक अधिकार और उसका भोग उस पर उसके निजी स्वत्त्व अथवा स्वामित्त्व का एक प्रधान साधन अथवा कारण माना जाने लगा।[3] यही कारण थे कि ऐसी भी व्यवस्थाएँ दी गयी कि यदि कोई भूमि किसी के वैध स्वामित्त्व में होते हुए भी यदि किसी विवशता अथवा अन्य कारण से दस वर्षों अथवा उससे अधिक समय तक दूसरे के भोग और अधिकार में चली गयी हो तो उस पर उस दूसरे व्यक्ति का वैध अधिकार हो जाता था। यह अवश्य देखा गया था कि इस प्रक्रिया में बल प्रयोग नहीं होना चाहिए। तथापि राज्य के रजिस्टरों में **महाक्षपटलिक** द्वारा अंकित अथवा लिखित प्रमाण ही भूमि पर वैध स्वामित्त्व का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण स्वीकार किया जाता था।[4] प्रायः सभी स्मृतियाँ भूमि के निजी स्वामित्त्व की वैध स्वीकृति हेतु सम्बद्ध भूखण्ड पर वास्तविक अधिकार (भोग) के साथ ही साथ लिखित प्रमाण

(१) टेंकनर का अनुवाद, पृष्ठ २१६।

(२) गौतमधर्मसूत्र, दशम, ३६।

(३) मनु., अष्टम, २५२; विष्णुस्मृति, पञ्चम, १८६-१६७; याज्ञ., द्वितीय, २७ और आगे; अर्थ., तृतीय, १६।

(४) प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति।

को भी आवश्यक बताती हैं।[1]

भूमि पर निजी स्वामित्त्व की राज्य द्वारा स्वीकृति के अनेकानेक प्रमाण कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में बिखरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए, वहाँ यह व्यवस्था है कि यदि किसी कारणवश (यथा कर्ज आदि के बदले) कोई अन्य व्यक्ति किसी की जमीन (कर्ज चुक जाने तक) ले लेता है तो उस समय भी मूल भूस्वामी को उसके भरणपोषण हेतु उसे कुछ (लगान जैसी) वस्तु (अन्न या द्रव्य) प्रति वर्ष देनी होगी। ऐसी दशा में अपनी जमीन पर खेती न करते हुए भी भूस्वामी जमीन की मिल्कियत से हाथ नहीं धोता था। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य की अकृष्ट अथवा अपकृष्ट भूमि को स्वयं जोत-बोकर उसमें सुधार लाता था तो ५ वर्षों के वाद उस सुधार के बदले कुछ पाकर उसे मूल भूस्वामी को वह जमीन लौटा देनी होती थी।[2] यह भी कथित है कि देश (जहाँ किसी का भूस्वत्त्व है) छोड़कर चले जाने पर भी भूस्वामी का जमीन से स्वामित्त्व समाप्त नहीं होता।[3] किन्तु राजकीय कर आदि न चुका सकने की स्थिति में राज्य व्यक्तिगत स्वामित्त्व की भूमि भी नीलाम करा सकता था। ऐसी स्थिति में या दान देने की स्थिति में अथवा अन्य विपत्तिमूलक और विवशता की स्थितियों में जब किसी की जमीन का हस्तान्तरण, विक्रय अथवा दूसरे के यहाँ रेहन रखना अपरिहार्य हो जाता था तो ग्रामवृद्धों को उसकी जानकारी और तदर्थ उनकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होती थी। इसके अतिरिक्त राज्य शासन की जानकारी एवं उसके द्वारा इसका पंजीयन भी आवश्यक होता था।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन भारत में भूमि पर स्वामित्त्व का एक प्रकार निजी स्वामित्व भी था। किन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के वाद यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि धर्मशास्त्रों अथवा **अर्थशास्त्र** के उन सन्दर्भों के वास्तविक अर्थ क्या हैं जहाँ राजा भूमि का पति कहा गया है। **अर्थशास्त्र** के टीकाकार भट्टस्वामी राजा को भूमि और उदक (जल) का पत्रि (राजाभूमेर्पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरुदकस्य च) कहते हैं। इसी प्रकार **गौतमधर्मसूत्र** (११वाँ, १) का कथन है कि ब्राह्मणों को छोड़कर सब कुछ पर राजा का अधिकार होता है। **मनुस्मृति**[4] के अनुसार राजा भूमिगत सभी धातुओं-द्रव्यों तथा गड़ी हुई सम्पत्तियों में आधे का इस कारण हकदार है कि वह सम्पूर्ण भूमि का अधिपति और रक्षक है। **वाल्मीकि रामायण** में इसी अर्थ में अधिराज शब्द का प्रयोग हुआ है। **महाभारत** (वनपर्व, २७५, २३; शान्तिपर्व, ७७.२) का तो यहाँ तक कथन है कि राजा ब्राह्मणों को छोड़कर सभी की सम्पत्ति छीन सकता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि इन सन्दर्भों में पति, अधिपति अथवा अधिराज जैसे विरुदों अथवा विशेषणों के अर्थ क्या है? प्रायः अधिकांश आधुनिक विद्वानों के मत में

---

(१) विष्णु, १६वाँ., १०, १४-१५; याज्ञ., द्वितीय, २८; जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, १९२७-२८, जिल्द २, भाग १, पृ. १२६।

(२) अर्थ, तृतीय, ९-१०।

(३) वहीं, तृतीय, १६।

(४) निधीनां तु पुराणानां धातुनां एवं च क्षितौ। अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः।। (अष्टम, ३९)

इन शब्दों के ये तात्पर्य नहीं हैं कि राजा (राज्य) भूमि सहित सारी सम्पत्ति का मालिक था। यह तो निर्विवाद है कि अनेक प्रकार की भूमि पर उसका स्वत्त्व था, किन्तु व्यक्तिगत लोगों के अधिकार में जोती-बोयी जाने वाली भूमि का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा भी था जिसका वह रक्षक (पति) मात्र था और उसके बदले ही वह भूमिकर (भाग) प्राप्त करता था। इसी कारण ही उसे षड्भागभृत अथवा षडंशवृत्ति कहा जाता था। व्यक्तिगत स्वामित्त्व की कृष्ट भूमि के अतिरिक्त वन, जंगल, पर्वत, खानें, भूमिगत अस्वामिक सम्पत्ति, सरित, तटाक तथा सरोवर जैसे जलस्रोतादिक अकृष्ट भूक्षेत्र राजकीय स्वामित्त्व में इस कारण माने गये कि उन पर किसी भी एक व्यक्ति का अकेले कोई स्वामित्त्व नहीं बैठता था और साधारण जन कुछ शर्तों और देयों के बदले अपनी सुविधा के लिए उनके उपयोगमात्र के अधिकारी थे। अतः राजा को प्राप्त होने वाला भूमिकर (भाग) भूमि (खेतों) को उसके द्वारा प्रदत्त रक्षा के बदले प्राप्त होने वाला कर था, न कि उसके स्वामित्त्व में आने वाली जमीन का लगान। किन्तु जो **सीता भूमि** (राजकीय स्वामित्त्व वाली भूमि) थी, उसे यदि राज्य किसी अन्य को जोतने-बोने को देता था तो उससे उसे लगान या किराया प्राप्त होता था।

भूमि पर राजकीय स्वामित्त्व

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** पर भट्टस्वामी की टीका अथवा **मनुस्मृति** के भूस्वत्त्व सम्बन्धी जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं और उनमें पति, अधिपति और अधिराज जैसे जो विरुद प्राप्त होते हैं, उन्हीं के आधार पर स्मिथ, मिल, बूहूलर और विल्सन प्रभृति अंग्रेज विद्वानों ने सारी भूमि पर राजकीय अधिकार अथवा स्वत्त्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। ऊपर हम इस प्रतिपादन को अस्वीकार कर चुके हैं। तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि राजा अथवा राज्य अनेक प्रकार की भूमि का स्वामी अथवा स्वत्त्वाधिकारी होता था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** सहित सभी शास्त्रकार इस बात पर सहमत हैं कि किसी भूखण्ड का निजी स्वामी भी यदि राजकीय भाग देने से विरत होता है तो राज्य उसे अपनी भूमि से बेदखल करने का अधिकारी है। ऐसी दशा में व्यक्तिगत स्वामित्त्व सशर्त (भाग को अदा करते रहने तक) ही था और किसी न किसी मात्रा में भूमि पर अप्रत्यक्ष अथवा अदृश्य स्वामित्त्व राज्य का ही था। इसे सुसुप्त स्वामित्त्व की अभिधा दी जा सकती है। किन्तु जहाँ भी व्यक्तिगत स्वामित्त्व अथवा सामुदायिक स्वामित्त्व स्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष नहीं था वहाँ भूमि के अनेक प्रकारों पर - यथा पर्वत, जंगल, वन, नदी, सेतु, व्रज, खनि, भूमि, ताल आदि पर राजकीय स्वामित्त्व अपने आप उपस्थित हो जाता था। ऐसा सम्भवतः इस कारण था कि अत्यन्त प्राचीन अथवा आद्यैतिहासिक काल से ही राजा अथवा राज्य अपने समस्त शासन क्षेत्र का गोलमोल रूप में स्वामी स्वीकार किया जाने लगा था। कालान्तर में कृष्ट भूमि के भी बड़े-बड़े भागों को सशक्त शासनों ने अपने अधिकार में कर लिया और उन पर राज्य अपनी ओर से या तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में (किसी को लगान आदि पर देकर) खेती कराने लगा। इस स्थिति के सबसे स्पष्ट और बहुविचारित प्रमाण कौटिलीय **अर्थशास्त्र** से प्राप्त होते हैं जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्त्व की भूमि को **भाग** और राजकीय स्वामित्त्व के अधीन भूमि को **सीता** की अभिधाएँ दी गयी हैं। अशोक ने बराबर की पहाड़ियों के जिन गुहाश्रयों को जैन

भिक्षुओं को दान में दिया था, वे भी राज्याधीन भूमि प्रकार के ही उदाहरण हैं। कुछ ही शताब्दियों बाद (आन्ध्र शासकों के समय से) जिन अनेकानेक भूखण्डों के राजाओं-रानियों द्वारा सभी करों से मुक्तकर दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं, वे उन पर राजकीय स्वत्त्वाधिकार को पूरी तरह प्रमाणित करते हैं। कुछ शासकगण तो इस अधिकार के प्रति इतने जागरूक और चैतन्य थे कि वे भूमि दान भी कुछ शर्तों के साथ ही करते थे। इस प्रकार की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख करने वाला (सशर्त दान का उल्लेख करने वाला) कम से कम एक अभिलेख चम्मक से प्राप्त होता है,[1] जिसे वाकाटक शासक द्वितीय प्रवरसेन ने प्रकाशित किया था। वहाँ कथित है कि यदि दानग्रहीता अथवा उसके उत्तराधिकारी अभिलेखों में निर्धारित शर्तों का पालन न करें तो दान की भूमि उनसे वापस ले ली जायेगी और दानपत्र समाप्त माना जायगा। भूमि पर समग्र राजकीय अधिकार और राज्य अथवा राजा के उस पूर्णाधिकार के प्रति मनोभाव का यह एक जोरदार उदाहरण है।

डायोडोरस् और स्ट्रैबो जैसे क्लासिकी इतिहासकारों का कथन है कि भारतवर्ष में समस्त भूमि पर राजा का स्वत्त्व था और "किसानों द्वारा उस पर कृषि के बदले १/४ कर रूप में देने के अतिरिक्त कुछ लगान भी देय था।"[2] डायोडोरस् की दृष्टि में तो भारतवर्ष में राजा सभी प्रकार की सम्पत्तियों का स्वामी होता था।[3] किन्तु एरियन् जैसे इतिहासकार इस विषय पर मौन हैं और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त यूनानी लेखकों को तत्कालीन भारतीय स्थितियों का पूरा-पूरा और सही-सही पता था ही। यह मत व्यक्त किया गया है कि उन्होंने भारतीय स्थितियों की कल्पनाएँ अपने समकालीन यूनानी स्थितियों की समानता के आधार पर कर ली थीं। अतः उनके कथनों को शब्दशः स्वीकार कर लेना आपत्तिरहित नहीं हो सकता। तथापि महाकाव्यों और धर्मशास्त्रों में भूमि पर राजकीय स्वत्त्वाधिकारपरक अनेकानेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। **गौतमधर्मसूत्र** (११वाँ, १) के अनुसार राजा ब्राह्मणों को छोड़कर सब कुछ का स्वामी होता था। **मनुस्मृति** (अष्टम, ३९) की व्यवस्था है कि राजा अधिपति होने तथा भूमि के रक्षक होने के कारण भूमि के भीतर छिपी हुई समस्त सम्पदाओं और धातुओं का १/२ भाग प्राप्त करने का अधिकारी होता है। **वाल्मीकि रामायण**[4] में दशरथ को कैकेयी के सम्मुख यह दावा करते हुए दिखाया गया है कि ब्राह्मणों की सम्पत्ति को छोड़कर वह सबकी सम्पत्ति पर अधिकार कर सकता है अथवा यह कि पृथ्वी की सारी सम्पत्ति क्षत्रियों (राजाओं) की होती है। इन भावों की पुनरुक्ति **महाभारत** में भी प्राप्त होती है। किन्तु ये सभी सन्दर्भ साधारणजनों की तुलना में क्रमशः विस्तृत होते जाते हुए राजकीय अधिकारों की ओर मात्र इंगित करते हैं और उनसे राज्य अथवा राजा का सम्पूर्ण रूप से भूमिपतित्त्व अथवा सम्पूर्ण भूमि पर स्वामित्त्व नहीं सावित होता। राजा अथवा राज्य भूमि का वास्तविक स्वामित्त्व ग्रहण करने की स्थिति में तभी होता

(१) गुप्त अभिलेख, फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृ. २३६, पंक्तियाँ ३९-४२, पृ. २४८।
(२) स्ट्रैबो, १५वाँ, १.४०।
(३) डायोडोरस्, ११वाँ, ४०.५।
(४) चतुर्थ, १.८६; महा. शान्तिपर्व, ७७.२; १३६.३; वनपर्व, २७३-२३।

था जब व्यक्तिगत भूस्वामी राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में प्रमादी साबित हो, यथा राजकीय करों की समय से पूरी-पूरी अदायगी न करे। किन्तु इस प्रकार राजकीय स्वामित्त्व में चली जाने वाली भूमि का परिमाण निश्चित ही अल्प रहा होगा। जैमिनि के मीमांसा सूत्रों[1] की व्याख्याएँ यहाँ बड़ी सार्थक हो जाती हैं, जहाँ यह कथित है कि चूँकि भूमि सबकी है, राजा उस पर शासक होने मात्र से उस सारी भूमि का दान नहीं कर सकता। तथापि जब अन्यान्य अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न राजाओं ने प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय काल में भूमिदान किये तो यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि अनेक प्रकार की भूमि पर राजकीय स्वत्त्व था और शासकगण मनमाना उसका उपयोग, विनियोग, दोहन और दान कर सकते थे। यही नहीं, दान में दी गयी भूमि पर राजागण सिद्धान्तः अपना सर्वंकश अधिकार मानते थे, यह उस अभिलेख[2] से प्रमाणित है जिसमें दान की भूमि को कुछ दशाओं में बदल देने का भी प्राविधान है। पीछे हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार द्वितीय प्रवरसेन के एक अभिलेख में यह शर्त दिखायी देती है कि दान के मन्तव्य को यदि दानग्रहीता पूरा न करे अथवा उसके उत्तराधिकारी वैसा न करें तो दानभूमि वापस ले ली जायेगी। यह स्थिति आन्ध्र सातवाहन युग के बाद विशेष रूप से दिखायी देती है। किन्तु उसके पूर्व **अर्थशास्त्र** की रचना के समय भी अनेक प्रकार के भूखण्ड ऐसे थे जो राजकीय स्वत्त्व में थे। **सीताभूमि** के अतिरिक्त उनमें खाने, जंगल, ऊसर, बंजर, चरागाह, नदी-नाले, पोखरे राज्य द्वारा निर्मित एवं संरक्षित सिंचाई के विशेष प्रकारों के सभी साधन, भूमितल के नीचे की सम्पत्ति, अपुत्रक-अनुत्तराधिकारी भूमि अथवा ऐसी सभी भूमि जिस पर किसी व्यक्तिविशेष का निजी स्वामित्त्व भली प्रकार और विधिवत् स्थापित न हो पाता हो।[3] **अर्थशास्त्र** राजकीय भूमि को स्वभूमि की संज्ञा देता (द्वितीय, १; द्वितीय, ६; द्वितीय, २४) है। गौतमीपुत्र शातकर्णि का एक अभिलेख (एइ., अष्टम, ७२; सेलेक्ट इन्स्कृशनस्, पृ. १६२ और आगे) बौद्धों का राजकीय भूमि के दान (राजकम् खेत्त) का उल्लेख करता है।

निष्कर्ष रूप में प्राचीन भारत में भूस्वामित्त्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विभिन्न स्रोतों से भूमि पर सामुदायिक स्वामित्त्व, निजी स्वामित्त्व और राजकीय स्वामित्त्व जैसी तीनों ही स्थितियों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। कभी-कभी तो एक ही स्रोत में तीनों ही पक्ष उपस्थित किये हुए दिखायी देते हैं। अतः इस सम्बन्ध में किसी एकान्तिक मतवाद का समर्थन आँख-मूँदकर करना बहुत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

---

(१) षष्ठ, ७.३।

(२) एपि. इण्डिका, अष्टम, पृ. ६५ और आगे; दि.च. सरकार, सेलेक्ट इन्स्कृपशनस्, पृ. २०० और आगे।

(३) अर्थ., द्वितीय, १ और २।

छठाँ अध्याय

कृषि का विकास

प्रागैतिहासिक और आद्यैतिहासिक युग

प्राचीन भारतवर्ष की भौगोलिक बनावट ही कृषि और कृषिपरक क्रियाकलापों के विकास और विस्तार के लिए इतनी अनुकूल थी कि कृषि का यदि यहाँ अत्यन्त प्रारम्भ में ही श्रीगणेश न हो जाता तभी आश्चर्य की कोई बात होती। हिमालय से उद्भूत गंगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र की घाटियों के विस्तृत मैदान, मानसूनी हवाओं द्वारा बरसाये गये प्रभूत जल के कारण भरपूर आर्द्रता तथा मिट्टी की सहज उर्वरता के कारण उत्तरी भारत के मैदानी भाग तो कृषि के अत्यन्त अनुकूल थे ही, मालवा के मैदान, नर्मदा और ताप्ती के दुकूल एवं महानदी, कृष्णा तथा गोदावरी के मैदान भी उनसे बहुत पीछे नहीं थे।[1] स्वाभाविक था कि विश्व के जिन-जिन देशों में खेती का उद्यम सबसे पहले प्रारम्भ हुआ, उनमें भारतवर्ष निश्चय ही एक था।

वैदिक साहित्य, महाकाव्य, सूत्र ग्रन्थ और विशेषतः कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में कृषि और कृषिजन्य उद्योग तथा व्यवसाय चार विद्याओं में एक प्रमुख विद्या (वार्ता) के अन्दर समाहित किये गये हैं। वार्ता को वहाँ जो विशेषताएँ दी गयी हैं, उनसे कृषि की विशेषता अपने आप निर्दिष्ट हो जाती है। **यजुर्वेद**[2] में राजा की योग्यताओं में वार्ता का ज्ञान आवश्यक बताया गया है, जिसमें कृषि, व्यापार और गोपालन सम्मिलित हैं। इसी प्रकार **रामायण** और **महाभारत** में भी वार्ता पर राजा द्वारा जोर दिये जाने के अनेकानेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[3] महाकाव्यों (अयोध्याकाण्ड), १००वाँ अध्याय; महा., सभापर्व, द्यूतप्रकरण और आदिपर्व, ८५वाँ अध्याय) में अर्थ की बड़ी व्यापक परिभाषा देते हुए कृषि के सभी पक्षों - पशु, धान्य, धातु आदि को समाहित किया गया है। **बौधायनधर्मसूत्र**[4] में कृषि का महत्त्व इस कथन में परिलक्षित है कि वेदाध्ययन और कृषि कार्य परस्पराश्रित और परस्परानुरूप हैं। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्ता के भीतर समाहित करते हुए उसे अन्नों, पशुओं, स्वर्ण और वन्य पदार्थों का स्रोत बताता है और आन्वीक्षिकी, त्रयी और दण्डनीति नामक अन्य तीन विद्याओं के समकक्ष उसे उपस्थित करता है। भूमि कृषि का मूल है और "मनुष्यों से युक्त भूमि ही अर्थ है, तत्सम्बन्धी शास्त्र अर्थशास्त्र है, अतः उस भूमि का लाभ (अर्जन) और उसके पालन का उपाय ही अर्थशास्त्र का मुख्य विषय है"[5] - जैसी

---

(१) देखें, उ.ना. घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् पब्लिक लाइफ, जिल्द २, पृ. ८७।

(२) प्रथम, ३११।

(३) वा.रा. अयोध्याकाण्ड, १००वाँ सर्ग, श्लोक सं. ४७ और ६८; महा., शान्तिपर्व, ५.७६-८४; ५६.३३; ८६.७; ६८ ३५; वनपर्व, ५७.३०-३१।

(४) प्रथम, ५.१०, ३०। तुलना के लिए देखें, महा., शान्तिपर्व, ६२.६।

(५) अर्थ., प्रथम, २; प्रथम, ४।

परिभाषाओं से कौटिल्य[1] ने पृथिवी, उस पर की जाने वाली कृषि और उससे उत्पन्न अनगिनत लाभों की कल्पना को एक मूर्तरूप प्रदान किया है। किन्तु कृषि की जननी भूमि अर्थात् पृथिवी की जो महिमा **अथर्ववेद** के पृथिवीसूक्त में गायी गयी है, वह कई दृष्टियों से बेजोड़ है। वहाँ उसे औषधियों का धारक, कृषि की उत्पत्तिकर्तृ, विश्वम्भरा, वसुमती, हिरण्यवक्षा, जगतनिवेशिनी, सभी सम्पत्तियों की धारक, पुत्रों के लिए माता के समान दूध देने वाली, मर्त्यों, द्विपदों और चतुष्पदों के चरने और पलने का स्थान, मनुष्यों के जीवन का कारक तथा सभी वृक्षों और वनस्पतियों को उगाने वाली जैसे अनेक गुणों का धारक बताया गया है। अतः कथित है कि पृथिवी मनुष्य की माता है और वह उसका पुत्र है।

भारतीय कृषि प्रागैतिहास के किस कालखण्ड में प्रारम्भ हुई, इसकी जानकारी अभी हाल तक नहीं थी। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत की अनेकानेक पुरातात्त्विक खोजों से सम्बद्ध आधुनिक ग्रन्थों से इसके प्राचीनकालीन बहुआयामी स्वरूप और विस्तार का ज्ञान अब स्पष्ट होता जा रहा है। नवपाषाण युग में शिकार और मांसभक्षण के साथ ही साथ मनुष्य ने पशुपालन, भूमि की जोताई और उस पर अन्नोत्पादन प्रारम्भ कर दिया था। इसके प्रमाणस्वरूप विभिन्न नवपाषाणयुगीन स्थानों से प्रभूत मात्रा में प्राप्त अन्नों को कूँचने, दलने और पीसने वाले पत्थरों के अवशेषों की ओर निर्देश किया जा सकता है। एक मत[2] यह है कि सर्वप्रथम अन्नोत्पादन करने वाली जातियाँ पश्चिमी भारत में ही अवस्थित थीं और उनके प्रधान केन्द्र बलूचिस्तान, मकरान और सिन्ध थे। पिगॉट के मतानुसार "इन क्षेत्रों में मानुज-निवास की तिथि कम से कम तीसरी सहस्राब्दि ईसा पूर्व तक ले जायी जा सकती है।"[3] किन्तु इन क्षेत्रों की वर्तमान पहाड़ी और शुष्क भौगोलिक पारिस्थितिकी को यदि देखें तो ये निष्कर्ष कुछ असम्भव से लगते हैं। तथापि इस बात के भूगर्भीय और भौगोलिक प्रमाण हैं कि आज से ५-६ हजार वर्षों पूर्व उन क्षेत्रों में न तो वर्षा की इतनी कमी थी और न घने जंगलों और कृषि योग्य खेती का ही अभाव था।

ज्यों-ज्यों पूरब बढ़िये, हड़प्पा संस्कृति के क्षेत्रों में लगभग इसी समय अथवा उसके कुछ बाद की शताब्दियों में कृषि के अधिक विकसित रूप के दर्शन होने लगते हैं। कृष्णरक्त मृद्भाण्डों का प्रयोग करने वाले यहाँ के निवासी एक ऐसी समृद्ध और नागर सभ्यता के जनक थे, जिसका आधार कृषि और व्यापार था और जिसमें अपनी-अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न कर वहाँ के निवासी एक अधिशेष (सरप्लस्) का भी निर्माण करते थे। इस ताम्रपाषाणीय युग के लोगों ने यद्यपि शिकार और मत्स्यमारण के पेशों का त्याग नहीं किया था, कृषि पर मुख्यरूप से उनके आश्रित होने के ढेरों प्रमाण उपलब्ध हैं।[4] मृद्भाण्डों में गेहूँ और जौ के दानों के अवशेष वहाँ की खुदाइयों से प्राप्त हुए हैं, जो ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे आज पंजाब में उगाये जाने वाले गेहूँ के दाने होते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो के बड़े-बड़े अन्नागार और खलिहान वहाँ की कृषि की विशेष उन्नति के प्रमाण हैं। गोर्डन्

(१) अर्थ., प्रथम, १, १५वाँ।

(२) एस.ए.ओ. हुसैनी, दि इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. १७; स्टूअर्ट पिगॉट, प्री हिस्टॉरिक इण्डिया, पृ. ६७।

(३) वहीं, पृ. ६७।

(४) न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट ऐंश्येण्ट ईस्ट, पृ. २०६; और देखें, के.एन. दीक्षित, प्रीहिस्टॉरिक सिविलाइजेशन् ऑफ दि इण्डस् वैली, पृ. ३५।

चाइल्ड का मत है कि वहाँ से प्राप्त तौल-मानों से यह भी स्पष्ट है कि गेहूँ और जौ के अतिरिक्त चावल भी उत्पन्न किया जाता था। यह भी मत[1] व्यक्त किया गया है कि हड़प्पा की निवासी बस्तियों में एक कतार में बसे हुए कुली लोगों के घर थे, जिनके बीच-बीच में अन्न पीटने अथवा आटा पीसने हेतु ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने हुए थे। बड़े-बड़े रोशनदानयुक्त अन्नागारों और चबूतरों से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन कृषि का स्वरूप सामुदायिक था और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उपज या तो सम्पूर्णरूप से अथवा जो भी उसका अधिभाग होता था उसे एक केन्द्रीय स्थान पर सामूहिक उपयोग और वितरण हेतु लाना पड़ता था। यदि यह निष्कर्ष स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी निष्पन्न होता है कि इस सारी व्यवस्था के पीछे कोई राजनीतिक और प्रशासकीय संगठन अवश्य ही रहा होगा। दुर्भाग्यवश, यह ज्ञात नहीं है कि वह संगठन क्या था अथवा कैसा था।

ऊपर जिस हड़प्पा संस्कृति का उल्लेख किया गया है, उसका भौगोलिक आयत्त पूर्व में भारतीय पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, महाराष्ट्र, उत्तरी गुजरात और पश्चिमोत्तर मध्य प्रदेश तक फैला हुआ था, जहाँ उस संस्कृति के प्रायः एक समान निर्मित नगर, एक समान प्रयुक्त बर्तन और वस्तुएँ, एक समान उत्पन्न कृषि-उत्पाद और अन्यान्य पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं। उदाहरणस्वरूप, विभिन्न स्थानों से प्राप्त अन्नों की एक छोटी सूची दे देना लाभप्रद होगा। पाकिस्तान के मोहञ्जोदाड़ों, चह्नुदाड़ों और हड़प्पा (२४००-२००० ई.पू.) से, पूना के पास इनामगाँव से और मध्य प्रदेश के नवदाटोली (१५००-१००० ई.पू.) जैसे ताम्रपाषाणीय स्थानों से गेहूँ की खेती के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार मोहञ्जोदाड़ो, हड़प्पा, कालीबंगन् (राजस्थान), चिराँद (बिहार), इनामगाँव (महाराष्ट्र) और नवदाटोली (मध्य प्रदेश) से (भूसी और कोयले के रूप में) तथा अन्य प्रकार के कई अन्नों के प्रमाण पुरातात्त्विकों को प्राप्त हुए हैं। इनमें से कई स्थान ताम्रपाषाणीय होने के साथ ही साथ नवपाषाण संस्कृति वाले भी हैं। धान अथवा (ब्रीहि) की खेती के पुरातात्त्विक प्रमाण लोथल (गुजरात), कालीबंगन् और आहाड़ (राजस्थान), चिराँद (बिहार), इनामगाँव (महाराष्ट्र), नवदाटोली (मध्य प्रदेश), पाण्डुराजारधीवी तथा महिषयल (पश्चिमी बंगाल) से प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत में कर्नाटक के हल्लूर और तमिलनाडु के पय्यम्पल्ली (लगभग १५०० ई.पू.) की नवपाषाणीय सतहों से रागी, हल्लूर और रंगपुर तृतीय (गुजरात, लगभग १००० ई.पू.) से बाजरा एवं इनामगाँव से ज्वार तथा चिरांद, इनामगाँव, नवदाटोली, पय्यमपल्ली, तेक्कलकोट (कर्नाटक) की नवपाषाणीय सतहों से मटर-मसूर और चने के भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं।[2]

ऊपर दिये गये उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आद्य भारतीयेतिहास के ताम्रपाषाणीय और नवपाषाणीय युगों में (लगभग २५००-१००० ई.पू.) भारतीय कृषि के कई मुख्य उत्पाद भारतवर्ष के अन्यान्य क्षेत्रों में बहुतायत से उगाये और प्रयुक्त किये जाने लगे थे। किन्तु कुछ अन्य विद्वानों द्वारा कुछ अन्य भारतीय पुरातात्त्विक स्थलों के सर्वेक्षण और खुदाइयों से पुरातात्त्विक इतिहास की अब तक की प्रचलित मान्यताओं में कुछ मूलभूत

(१) डी.एच. गोर्डन्, प्रीहिस्टॉरिक बैकग्राउण्ड ऑफ् इण्डियन् कल्चर, पृ. ७०-७१।

(२) इस सम्बन्ध में देखें, धर्मप्रताप अग्रवाल, आर्केलॉजी ऑफ् इण्डिया।

परिवर्तनों की ओर निदेश किये गये हैं। अभी हाल तक यह स्वीकार किया जाता था कि भारतीय नवपाषाण युग का प्रारम्भ २५०० ई.पू. के आसपास ही हुआ था। किन्तु सांभरझील (राजस्थान) की भूमि परतों के जमाव के विश्लेषण और उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की बेलन घाटी की गो.रा. शर्मा (इलाहाबाद) द्वारा उत्खनन से प्राप्त सामग्री से यह निश्चय सा हो चुका है[1] कि भारत में इस युग का प्रारम्भ ५वीं-७वीं सहस्राब्दियों के बीच हो चुका था। बेलनघाटी की खुदाई से श्री शर्मा को ऐसे प्रमाण मिले, जिनसे ज्ञात हुआ कि जंगली धान (नीवाड़ अथवा तिन्ना) के अतिरिक्त कृषि की पद्धति से बढ़िया धान भी लगभग ५०००-७००० ई.पू. के बीच वहाँ उत्पन्न किया जाने लगा था। वहाँ के कोलडिहवा नामक स्थान से प्राप्त धान के दानों की कार्बन् १४ तिथिनिश्चय की पद्धति द्वारा बीरबल साहनी इन्स्टीट्यूट ऑफ पैलियोबॉटनी, लखनऊ, ने ६००० ई.पू. की तिथि निश्चय की है।[2] यह एक ऐसी खोज है जो कृषि इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानों की उस बद्धमूल भावना को एक जबरदस्त चुनौती देती है जो यह मानते है कि धान की खेती की सर्वप्रथम देन मध्य एशियायी सभ्यता वाले हित्ती लोगों की थी। बेलनघाटी के समय (६००० ई.पू.) के आसपास ही फार्मोसा और स्याम के क्षेत्रों में भी धान की खेती किये जाने के पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त हुए हैं।[3] उपर्युक्त से स्पष्ट है कि भारतवर्ष (भारतीय उपमहाद्वीप) में धान की सर्वप्रथम खेती के क्षेत्र हड़प्पा संस्कृति वाले स्थान न होकर उत्तर प्रदेश के नवपाषाणीय बेलनघाटी (मिर्जापुर जनपद) के पर्वतीय प्रदेश थे, जहाँ आजकल तो बड़ी शुष्कता और जीवनयापन की कठिन परिस्थिति है, किन्तु उन दिनों उस प्रदेश में पानी काफी बरसता था और कृषि की सभी मूल सुविधाएँ उपलब्ध थीं।

पूर्वी भारत में कृष्ण और लाल मृद्भाण्डों के प्रयोक्ता लोग धान की खेती निश्चित रूप से करने लगे थे। वहाँ १२०० ई.पू. के आसपास धान की खेती के प्रमाण प्राप्त होते हैं। खुदाइयों से पाण्डुराजारधीवी (पश्चिमी बंगाल) के प्रथम जीविकोपार्जी युग की धान की भूसी मृद्भाण्डों के बीच प्राप्त हुई है और उसके दूसरे युग में धान के दाने मिले हैं जो कार्बन् १४ तिथि निर्धारण की पद्धति द्वारा १००० ई.पू. के ठहराए गये हैं। गया जिले के सोनपुर नामक स्थान से लगभग ७०० ई.पू. के समय के धान के जले हुए दाने प्राप्त हुए हैं।[4] हमें यह तो ज्ञात नहीं है कि वहाँ के किसान धान की खेती में रोपनी की विधि का प्रयोग करते थे या नहीं, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि देश के इस भाग (पूर्वी भारत) में ६०० ई.पू. के आस-पास प्रारम्भ होने वाले औपनिवेशनों के पूर्व वहाँ धान की खेती की जाने लगी थी।[5]

---

(१) देखिए, गो.रा. शर्मा कृत, भारतीय संस्कृति के पुरातात्त्विक आधार।

(२) यह निर्णय उत्खनक प्रो. गो.रा. शर्मा की मृत्यु के बाद आया। देखिए, हिन्दुस्तान टाइम्स, १३ जून, १९८६।

(३) डार्लिग्टन् सी.डी., धर्मपाल अग्रवाल द्वारा उद्धृत, आर्कैलॉजी ऑफ् इण्डिया, पृ. ८१।

(४) रा.श. शर्मा, मैटिरियल् कल्चर एण्ड सोशल् फार्मेशन् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. १०३।

(५) वहीं।

कृषि विकास में भारतीय सामाजिक संगठन की भूमिका

यद्यपि परम्परागत वर्णव्यवस्था के हिमायती सूत्र ग्रन्थों और स्मार्त साहित्य में वर्णों के आधार पर विभिन्न कर्मों की कल्पनाएँ और अनुशंसाएँ की गयीं और कृषि-कर्म वैश्यों मात्र के लिए ही आवण्टित किया गया, भारतीय इतिहास में ऐसे अनगिनत साक्ष्य हैं जो इस अनुशंसा के विपरीत सभी वर्णों और जातियों को कृषिकर्म में लगे हुए दिखाते हैं। बुद्धकालीन ग्रन्थ इस बात की अनेक सूचनाएँ देते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही वर्ण विभिन्न रूपों में खेती से जुड़े हुए थे और जहाँ एक ओर अन्यों द्वारा प्रदत्त दान अथवा कृषि अधिशेष से वे पलते थे, वहीं वे बड़े-बड़े भूमिखण्डों के मालिक भी होते थे और स्वतः भी उस अधिशेष का निर्माण करते थे।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, वर्णव्यवस्था में कृषि, वार्ता और गोरक्षा (कृषि का अभिन्न अंग) वैश्यों के वैध कर्म थे[१] और राजा के लिए यह एक आवश्यक कर्म था कि वह उन्हें, अन्य वर्णों की तरह ही, अपने कर्मों (स्वधर्म) में लगे रहने को विवश करे।[२] कौटिल्य जैसा शुद्ध अर्थशास्त्रकार और राजनीतिवेत्ता भी परम्परया इस व्यवस्था को स्वीकार करता है।[३] किन्तु ऐसा स्पष्ट सा लगता है कि वर्णव्यवस्था में विहित वर्णधर्मों (कार्यों) का कड़ाई से पालन कराने हेतु राजा (राज्य) को उपदेश देने वाले धर्मशास्त्रकार भी इस वास्तविक तथ्य से पूरी तरह परिचित थे कि जीविका के सबसे बड़े और सर्वसुलभ साधन कृषि को कोई भी पूरी तरह त्याग नहीं सकता था। अपनी दैहिक और भौतिक स्थिति की मूलभूत आवश्यकता हेतु सभी को, चाहे वह किसी वर्ण और जाति का हो, कृषि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर होना अवश्यम्भावी था। प्रायः इसी कारण धर्मशास्त्रकारों ने भी विशेष-विशेष परिस्थितियों की कल्पना करके वैश्यों के अतिरिक्त अन्य वर्णों को भी किसी न किसी परिहार के साथ कृषि करने की छूट दे दी। ब्राह्मण के लिए स्वयं कृषिकर्म करने का वैध विधान तो नहीं था, किन्तु अपना पेट भरने के लिय कटाई के बाद खेतों में छिटके हुए अन्न के दानों को बीनने की अनुशंसा उसके लिए थी।[४] **गौतमधर्मसूत्र**[५] की व्यवस्था है कि यदि ब्राह्मण अपने हाथ से जमीन की जुताई न करे तो उसे खेती करने (अथवा कराने) की स्वतंत्रता है। स्पष्ट है कि कृषि के इस सर्वप्रमुख कार्य (हल जोतने) के अतिरिक्त अन्य अनेकानेक कृषि कार्यों को करने से उसको मनाही नहीं थी। **मनुस्मृति** और उसके टीकाकारों ने अस्वयंक्रीता कृषि[६] (अपने हाथ से न की गयी बल्कि दूसरों अर्थात् दास और भृतकों द्वारा करायी हुई खेती) की अनुशंसा ब्राह्मण के लिए की है। वास्तव में अध्ययन-अध्यापन की पूरी ऊँचाइयों को छूने के लिए यह अनुशंसा की गयी है कि ब्राह्मण स्वाध्याय-विरोधी सभी

---

(१) देखें, मनु., अष्टम, ४१०-४१८ तथा ११वाँ, ३३०।

(२) वहीं।

(३) अर्थ., प्रथम अधि., तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय।

(४) आप., द्वितीय, ५.१०.४; मनु., चतुर्थ, ४ और आगे; अर्थ., द्वितीय. २४।

(५) गौतम, दशम्. ५-६।

(६) चतुर्थ, ४-५। इस सम्बन्ध में देखें कुल्लूकभट्ट और गोविन्दराज की टीकाएँ।

कर्मों का परित्याग करें।[1] खेती कर्म से पूर्णतः दूर रहने अथवा यदि वह आवश्यक हो ही जाय तो उसे करने के लिए अपने श्रम के बदले श्रमिकों को लगाने की व्यवस्था को इस परिप्रेक्ष्य में ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। साथ ही, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय को हलादि से खेती न करने की अनुशंसाओं के पीछे अहिंसा धर्म का भाव भी प्रबलरूप में छिपा हुआ था। कथित[2] है कि वैसा करने से भूमि के भीतर रहने वाले हजारों छोटे-छोटे जीवों की हत्या होनी अपरिहार्य थी, जो प्रथम दो वर्णों के लिए त्याज्य मानी गयी। इसी पृष्ठभूमि में आपद्धर्म की भी कल्पना की गयी और ब्राह्मण-क्षत्रियों के लिए ये अनुशंसाएँ हुईं कि वे यदि स्वकर्म और स्वधर्म से अपनी जीविका न चला सकें तो क्रमशः अपने से नीचे के वर्णों की जीविकाएँ अपना सकते थे।[3] अनुशंसा यह थी कि यदि वह आपद्धर्मीय कर्म खेती हो तो उसमें अपने हाथ से होने वाली हिंसा से विरत रहना आवश्यक है। अहिंसा अर्थात् प्रत्येक प्रकार की जीवहिंसा से विरत रहने का भाव विभिन्न कृषिकर्मों से बिल्कुल ही अनमेल था, किन्तु उसमें भी इसकी ब्राह्मणधर्मी अनुशंसा कदाचित् जैन और बौद्ध धर्मों के प्रभाव के कारण ही थी। प्राचीन वैदिक धर्म जीवहिंसा (विशेषतः यज्ञकर्मों के अवसर पर) का विरोधी नहीं था। किन्तु कालान्तर में स्मार्तधर्मी ग्रन्थों[4] में अहिंसा की हिमायतें बार-बार की गयी हैं तथा यज्ञों में भी मांसभक्षण का वर्जन किया गया है।[5] इसे स्पष्टतः जैन-बौद्ध श्रमण संस्कृति के प्रभाव का द्योतक स्वीकार करना होगा। अहिंसा-विरोधी इस चिन्तन के कारण ही स्मृतियाँ अथवा महाकाव्य[6] ग्रन्थ ब्राह्मणों द्वारा कृषिकर्मों में लगना हीनकर्म के रूप में प्रतिपादित करते हैं।

तथापि वास्तविक ऐतिहासिक स्थिति यह थी कि समाज के चारों ही वर्ण किसी न किसी मात्रा में कृषि कर्मों में निरत थे और धर्मशास्त्रों की व्यवस्थाओं के होते हुए भी कृषि कार्य वैश्य वर्ण तक ही सीमित नहीं थे। यही नहीं, प्रतीत तो यह होता है कि ऐतिहासिक विकास के साथ वैश्य लोग कृषि और गोरक्षा की अपेक्षा वाणिज्य, व्यापार, कुसीदी, निक्षेप, नीधि और उपनिधि आदि से सम्बद्ध अन्यान्य अधिक अर्थोत्पादक कार्यों की ओर अधिकाधिक झुक गये और कृषि को अपेक्षाकृत कम अर्थोत्पादक समझते हुए उसे अन्यों के लिए छोड़ दिया। क्षत्रियवर्ग ने तो अपने को कभी भी कृषि से विमुख नहीं किया। जनक द्वारा हल चलाते हुए हल की हराई (सीता) से एक बालिका (सीता) की प्राप्ति की कथा इस सम्बन्ध में बड़ी व्यञ्जक प्रतीत होती है। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में दो प्रकार की क्षत्रिय श्रेणियों अर्थात् गणों की ओर निर्देश करते हुए उन्हें क्रमशः **कृषिवार्ताशस्त्रोपजीवी** और **राजशब्दोपजीवी** कहा गया है। प्रथम प्रकार अर्थात् कृषि, व्यापार और शस्त्र द्वारा अपनी जीविका चलाने

---

(१) सर्वान्परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः। मनु., चतुर्थ, १७।

(२) मनु., दशम्, ८२-८४।

(३) वहीं, दशमृ, ८१-८२।

(४) स्वयं मनुस्मृति बार-बार अहिंसाधर्म को उजागर करती है। यथा, चतुर्थ, १७०; २१०-२११; पञ्चम, २६ और आगे।

(५) वहीं, पञ्चम, ५३ और आगे।

(६) महा. शान्तिपर्व, ६३.३।

वालों में कम्बोज, सुराष्ट्र[1] एवं अन्यों के साथ सम्भवतः शाक्यगण भी सम्मिलित था – यद्यपि वहाँ शाक्यों का उल्लेख नहीं है। किन्तु **विनयपिटक**[2] में प्रसिद्ध शाक्य महानाम को खेती में लगा हुआ दिखाया गया है। जातकों (सं. १६७) से यह ज्ञात होता है कि वर्ष के विशेष दिनों पर राजा भी हल चलाते थे।[3] इसी प्रकार **मज्झिमनिकाय**[4] में शुद्धोदन के अन्न के खेतों के सन्दर्भ आते हैं। **कुणालजातक**[5] शाक्यों और कोलियों को अपनी-अपनी ईख की खेती गर्मी से सूख जाने से बचाने हेतु रोहिणी नदी पर बने हुए एक बन्धे से पानी लेने के प्रश्न पर युद्ध करने तक पर उतारू हो जाने का उल्लेख करता है। बौद्ध निकायों में कोसल, वत्स और मगध के राजाओं द्वारा **ब्रह्मदेय** ग्रामों को प्राप्त करने वाले महाशाल (अत्यन्त धनी) ब्राह्मणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मण सम्पूर्ण गाँवों के मालिक हुआ करते थे। इस प्रकार के ब्राह्मणों में चम्पाग्राम के सोणदण्ड, खाणुमत ग्राम के कूटदन्त तथा कोसल राज्य के कसिभारद्वाज, पोक्खरसाति, तोदेय्य और तारुक्ख जैसों के उल्लेख प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं।[6] वे ब्राह्मण महाशाल (धनी) तो थे ही, बड़े-बड़े विद्वान् भी थे। इनमें कसि (कृषि) भारद्वाज तो ऐसा था जो अपने सुदीर्घ खेतों को पाँच सौ हलों द्वारा बोते समय जुतवाता था।[7] **थेरीगाथा**[8] से स्पष्ट है कि ब्राह्मण लोग भी कृषि कर्मों में लगे हुए थे। नरेन्द्र वाग्ले[9] का निष्कर्ष है कि महाशाल ब्राह्मणों के गाँव प्रायः कोसल और मगध में विद्यमान थे। उन्हें उन गाँवों की सारी भूमि राजाओं द्वारा **ब्रह्मदेय** रूप में दानस्वरूप प्राप्त हुई थी, जिसके वे पूरी तरह मालिक थे और अपने नौकरों-चाकरों की एक बड़ी संख्या से वे उस पर अपनी खेती कराते थे। इन्हें ब्राह्मण गाँवों की संज्ञायें दी गयी हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि वहाँ के निवासियों में अधिकतर ब्राह्मणों की ही बस्तियाँ थीं। उन्हें गृहपति भी कहा गया है, जो उनके गृहस्थ ब्राह्मण होने का द्योतक है। यही नहीं, अपनी धनसम्पत्ति के कारण उन ब्राह्मण गाँवों में कुछेक ने अपनी-अपनी किलेबन्दी भी कर रखी थी।[10] **वाल्मीकि रामायण** (अयोध्याकाण्ड, ३२.३०) एक ब्राह्मण को फावड़े से जमीन खोदते और उस पर हल चलाते हुए दिखाता है।

शूद्र प्राचीन वर्णव्यवस्था के अधीन सेवक मात्र थे। उसकी यह सेवकाई सर्वाधिक मात्रा में जमीन पर खेतिहर मजदूरों के रूप में अन्य वर्णों के लिए काम करते हुए दिखायी देती

---

(१) ग्यारहवाँ, १.५-६।

(२) चुल्लवग्ग, सप्तम, १.१।

(३) इ.जे. टॉमस, दि लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ. ४४ और आगे।

(४) सारनाथ हिन्दी अंनुवाद, पृ. ३४६।

(५) फॉसबाल संस्करण, जिल्द ५, पृ. ४१३।

(६) दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ. ३४, ३५, ४०-४२, ४४, ४८, ४८, ५०, ८६।

(७) कसिभारद्वाजस्य ब्राह्मणस्य पञ्चसत्तान नङ्गलसतानि पयुत्तानि होन्ति वप्पन काले। सुत्तनिपात, १.४ (मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, पृ. १८-१६)।

(८) नङ्गलेहि कसं खेत्तं, बीजानि पवं इमा, पुत्तदारानि पासेत्वा, धनं विन्दन्ति माणव। थेरीगाथा, ११२।

(६) सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ बुद्ध, पृ. १८-१६।

(१०) देखें, वहीं, पृ. १६ और उसकी पादटिप्पणी ६७ तथा पृ. १६५; दीघनिकाय का अम्बष्ठ सुत्त, सारनाथ (हिन्दी) प्रकाशन, पृ. ४१।

है, जहाँ वे या तो दास या भृतक अथवा कम्मकर के रूप में होते थे। जहाँ भूमिस्वामित्त्व व्यक्तिगत (भूमि पर लगातार खेती करने वालों के) हाथों में होता था, उसकी परिधि में कितने लोग शूद्र थे, इसके निर्धारण का कोई पक्का प्रमाण हमारे पास नहीं है। तथापि कौटिल्य[१] की यह अनुशंसा बड़ी व्यञ्जक है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण हेतु नये प्रदेशों में जब नवजनसन्निवेश की आवश्यकताएँ उत्पन्न हों तो वहाँ शूद्रों को बसाने में प्राथमिकता देनी चाहिए और उन्हें कुछ वर्षों तक राजकीय सुविधाएँ तो देनी ही चाहिए, उन्हें करों से मुक्ति भी प्रदान करनी चाहिए। **मिलिन्दपञ्हो**[२] में वैश्यों के साथ शूद्र भी खेती-बारी और पशुपालन करते हुए दिखाये गये हैं। एक जातक[३] में शूद्र को राजा ने यह अनुशंसा की है कि वह कृषि, व्यापार और सूद पर धन देकर अपनी आजीविका चलाये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में धर्मशास्त्रों की व्यवस्थाओं के होते हुए भी सभी वर्णों के लोग अपनी-अपनी आर्थिक स्थितियों की सापेक्षता के अनुसार किसी न किसी मात्रा और रूप में कृषि कार्यों में प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः लगे हुए थे।

कृषि उत्पादों के क्षेत्रीय और गुणात्मक विस्तार : प्राकृतिक भूमिका

जल वितरण वाले अन्यान्य मशीनी उपकरणों के बावजूद भारतीय कृषि आज भी बहुत बड़ी मात्रा में भगवान इन्द्र की कृपा पर निर्भर है। प्राचीनकाल में तो यह कृपा और भी अधिक प्रार्थित थी और यदि कभी वर्षा न हुई अथवा कोई प्राकृतिक विपदा आ गयी तो उसे राजा के पुण्य और पापों से सीधे जोड़ा जाता था। **ऋग्वेद** तथा उत्तरवैदिक संहिताओं में इन्द्र और वर्षा के सम्बन्ध और वर्षा हेतु इन्द्र की प्रार्थनाएँ इस बात की द्योतक हैं कि वर्षा और खेती के पारस्परिक महत्त्व का ज्ञान सबको पूरी तरह था। भूमि प्रकारों में **ऋग्वेद**[४] अर्तन (अनुर्वर), अप्नस्वति (उपजाऊ) और उर्वरा (बहुत ही उपजाऊ) का उल्लेख करता है। वहाँ अच्छे बीजों के महत्त्व का भी उल्लेख है। **अर्थशास्त्र**[५] में वर्षा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण और विशद चर्चा है। तदनुसार, यदि समय की वर्षा हो अर्थात् साल भर में होने वाली औसत वर्षा का एक तिहाई आषाढ़ (जून-जुलाई) और कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) एवं दो तिहाई इनके बीच में भादों-क्वार (अगस्त-सितम्बर-अक्टूबर) में हो तभी उसे उचित और आवश्यकतानुरूप वर्षा (सुषमा रूपम्) कहा जाता था। वही खेती के लिये अच्छी भी मानी जाती थी। वहाँ विभिन्न प्रकार के जलद-मेघों और वर्षा के विवेचन के साथ ही यह भी कथित है कि वर्षभर की वर्षा मापने हेतु राजकीय कोष्ठागारों के सम्मुख वर्षमान नामक वर्तन (कुण्ड) रखे रहते थे। आकाशीय नक्षत्रों की स्थिति और उनके संचलन को देखकर वर्षा और खेती की भविष्यवाणियाँ भी की जाती थीं। वहाँ यह भी कथित है कि देश के किस-किस प्रदेश में कितनी मात्रा में वर्षा हो तो उसे वहाँ की खेती के लिए उपयुक्त माना

---

(१) अर्थ, द्वितीय, १।

(२) ट्रेकनर का सम्पादन, पृ. १७८।

(३) फॉसबाल, चतुर्थ, पृ. ४४२।

(४) प्रथम, १२७.६।

(५) द्वितीय, २४वाँ अध्याय।

जायगा। उदाहरणस्वरूप, वर्षमान अर्थात् वर्षा नापने वाले कुण्ड में यदि अश्मक (महाराष्ट्र-विदर्भ) में १३½ द्रोण, अवन्ति में २३ द्रोण, जंगली और रेगिस्तानी प्रदेशों में १६ द्रोण और जलविहीन अथवा जलप्राय देश में इसकी ड्यौढ़ी अर्थात् २४ द्रोण वर्षा वर्षभर में हो जाय तो वह वहाँ की खेती के लिए पर्याप्त समझी जाती थी। किन्तु कोंकण (अपरान्त) जैसे क्षेत्र में अपरिमित वर्षा की आवश्यकता बतायी गयी है। यह भी कथित है कि जिन प्रदेशों में नहरों आदि से कृत्रिम सिंचाई हो सकती है, वहाँ यदि थोड़ी भी वर्षा हो जाय तो उसे पर्याप्त समझना चाहिए।

भारतवर्ष की भूमि के उपजाऊपन, यहाँ होने वाली वर्षा और फसलों के समबन्ध में यूनानी इतिहासकारों की कुछ आश्चर्यभरी और अत्यन्त ही प्रशंसात्मक उक्तियों की ओर यहाँ निर्देश किया जा सकता है। किन्तु एक बात ध्यान रखने की है कि उनका विशेष परिचय उत्तरी-पश्चिमी भारतवर्ष (आधुनिक पाकिस्तान) और उसके कुछ निचले हिस्सों (सिन्ध के मैदान) तक ही सीमित था और गंगा-यमुना दोआब के सन्दर्भ उनके विवरणों में अपेक्षाकृत कम ही हैं। डायोडोरस् (द्वितीय, ३६) कहता है कि "प्रत्येक वर्ष में दो बार वर्षाएँ होती हैं – एक तो जाड़े में जब दूसरे देशों की ही भाँति गेहूँ की बोआई प्रारम्भ की जाती है और दूसरी ग्रीष्म ऋतु में जब धान और बास्पोरम् (कोई छोटे धान की किस्म) तथा तिल और बाजरे-मक्के बोये जाते हैं। भारत के निवासी हमेशा ही अपने खेतों से प्रति वर्ष दो फसलें काटते हैं।"[1] मेगास्थनीज़ और इरैटोस्थेनीज़ भी कुछ इसी प्रकार के उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ जेष्ठ और आषाढ़ (जून-जुलाई) में बोयी जाने वाली खरीफ और क्वार-कार्तिक में बोयी जाने वाली रवी की फसलों की ओर सही रूप में उनके निर्देश हैं। इसके विपरीत नियार्कस्[2] गर्मी के अन्त के दिनों में होने वाली ही वर्षा की बात करता है और कहता है कि जाड़ों में कोई वर्षा नहीं होती। स्पष्ट है कि उसे दक्षिण-पश्चिमी मानसून का ज्ञान तो था किन्तु दक्षिण-पूर्वी (अक्टूबर-नवम्बर और उसके बाद होने वाले) मानसून का पता नहीं था। अरिष्टोबुलस्[3] का कथन है कि पहाड़ी तराइयों (तक्षशिला के आस-पास के प्रदेश) में तो बर्फ की गलन से और मेघों से पानी होता था किन्तु मैदानी भागों (झेलम और सिन्धुमुख पर स्थित पटल के बीच के प्रदेश) में उसका अभाव था। फल-मूल और विभिन्न फसलों की प्रायः कष्टहीन और भरपूर खेती के कारकों पर प्रकाश डालते हुए डायोडोरस् पुनः कहता है[4] – "तथ्य यह है कि देश (भारतवर्ष) के प्रायः सभी मैदानों में एक ऐसी नमी विद्यमान है जो सुखदायी ऋतु (वर्षा) में नदियों के कारण तो है ही, उस बरसात के कारण भी है जो एक आश्चर्यकारी और नियमित अन्तराल से प्रायः प्रत्येक साल निश्चित समय से आती ही है।"

कौटिल्य सीताध्यक्ष के लिए यह अनुशंसा करता है कि वह अधिक या कम वर्षा का

---

(१) मेगास्थनीज़, फ्रैग्मेण्ट्स, १७वाँ, स्ट्रैबो, १.२० (पृ. ६३)।
(२) स्ट्रैबो, पन्द्रहवाँ, १.१८।
(३) वहीं, १.१३।
(४) डायोडोरस्, द्वितीय, ३६।

अनुमान लगाकर विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार का अन्न बोआये – यथा शालि (अगहनी धान), व्रीहि (साठी धान), कोदो, ककुनी, तिल, दारक, वारक (लोबिया) जैसे सात अन्न वर्षा के प्रथम भाग में; मूँग, उड़द और शिम्ब (बोड़ा) वर्षा के मध्य भाग में और कुसुम्भ, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी और सरसो जैसे सात अन्न वर्षा के अन्त में बोने की व्यवस्था करे। स्पष्टतः ये फसलें खरीफ (वर्षा के प्रारम्भ और मध्य में बोयी जाकर प्रायः उसके अन्त में पकने-कटने वाली) और रबी (वर्षा के अन्त और जाड़े के प्रारम्भ में बोयी जाकर जाड़े के अन्त में पकने-कटने वाली) की थीं। दो बार होने वाली प्रत्येक वर्ष की इस खेती के अतिरिक्त एक तीसरी फसल अगहन में और चौथी फसल चैत्र में भी ली जाती थी, जो कौटिल्य की इस अनुशंसा से स्पष्ट है कि राजा को अपने शत्रु के विरुद्ध इन फसलों को नष्ट करने के लिए युद्ध यात्रा करनी चाहिए।[1] लेकिन ऐसा नहीं प्रतीत होता कि देश के सभी भागों में साल में तीन बार मानसूनी वर्षाएँ होती ही थीं अथवा तीन फसलें बोयी ही जाती थीं। दो या तीन फसलों की सारी सम्भावनाएँ विभिन्न भागों में होने वाली वर्षा पर ही निर्भर थी।

फसलों की संख्याएँ इतनी अधिक थीं कि यूनानी लेखक उनके पूरे विवरण को देना भी कठिन कहते हैं। डायोडोरस् के अनुसार 'विभिन्न अन्नों के अतिरिक्त समस्त भारतवर्ष में प्रभूतमात्रा में ज्वार-बाजरा-मक्का उत्पन्न होते हैं, अनेक प्रकार की दालें तथा चावल एवं बासपोरम् (किसी प्रकार के मोटे या छोटे धान या चावल) होते हैं। अनेक ऐसे पौधे अपने आप उगते हैं जो भोजन के काम में आते हैं। जमीन से कई और ऐसे भोज्य पदार्थ प्राप्त होते हैं जो पशुओं के काम आते हैं और जिन सबके बारे में लिखना भी बड़ा मुश्किल है।" तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ एक बात पर ध्यान देना होगा कि यूनानी लेखकों के विपरीत कौटिल्य ज्वार-बाजरा, मक्के का कोई उल्लेख नहीं करता जो निश्चय ही आज की ही तरह भारत के प्रायः सभी भागों में किसी न किसी मात्रा में अवश्य ही पैदा होते रहे होंगे।

नदियों में आने वाली बाढ़ों से उनके पानी भरने वाले सभी भागों की मिट्टी के उपजाऊपन की विशेष चर्चाएँ प्रायः सभी यूनानी इतिहासकार करते हैं। स्ट्रैबो के अनुसार बाढ़ के बाद हल्की-हल्की नमी में कोई भी साधारण मजदूर जो भी जमीन को थोड़ा-बहुत चीर-फाड़ कर बो देता था उससे भी उपज भरपूर होती थी। उसी के अनुसार, दो नदियों (स्रोतों) के बीच में बासपोरम् बोया जाता था।[2] डायोडोरस्[3] के अनुसार, दलदली अथवा नदियों के किनारों वाली जमीनों में ऐसे अनेक मीठे कन्दमूल और फल लगाए जाते थे जो लोगों को भरपूर भोजन देते थे। पानी लगने वाली क्यारियों, तालों तथा नमी वाली नीची जमीनों में धान लगाया जाता था।[4] पतञ्जलि के अनुसार (महा., तृतीय, ३१६) देविका नदी के किनारों पर धान बोने की अच्छी भूमि थी।

---

(१) अ.ना. बोस, सोशल् ऐण्ड रूरल् इकॉनॉमी, जिल्द १, पृ. १२४।

(२) पन्द्रहवाँ, १.१३ तथा १.१८१ बासपोरम् क्या है, कहना कठिन है। ऐसा तो नहीं कि यह आजकल गर्मी में सूखते हुए नदियों के किनारों पर लगाया जाने वाला बोरो नामक एक बहुत मोटा और बड़ा धान जैसा कोई धान था।

(३) द्वितीय, ३६.५।

(४) स्ट्रैबो, १५वाँ, १.१८।

कौन-कौन सी फसलें कहाँ-कहाँ (किस भूमि में) अच्छी प्रकार से हो सकती हैं, इसका एक बढ़िया विवरण कौटिल्य अपने **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २४) में देता है। तदनुसार, "सब फसलों में शालिधान्य आदि की खेती सर्वोत्तम होती है, क्योंकि इसमें परिश्रम और व्यय कम पड़ता है और उत्पादन अधिक होता है। केला आदि फलों की खेती मध्यम दर्जे की होती है। ईख की खेती अधम है, क्योंकि इसकी बोआई आदि में नाना प्रकार के विघ्न होते हैं और यह अत्यन्त व्ययसाध्य होती है। कुम्हणे जैसे फलों के उत्पादन हेतु सबसे अच्छा खेत है, जहाँ जल समीप हो और जहाँ जल का फेन टकराता (समुद्री किनारा या नदी का किनारा) हो। पिप्पली, मृद्वीक (अंगूर) और ईख के लिए वह खेत उत्तम है जिसके पास जल का बहाव हो। शाक और मूली तथा गाजर के लिए कुएँ के पास का स्थान बढ़िया होता है। हरितक (सागसब्जी) के लिए हरणिपर्यन्त अर्थात किसी नाले का किनारा अथवा तालाब का वह भाग जहाँ से पानी हट गया हो, किन्तु भूमि गीली हो, अच्छा होता है। सुगन्धित द्रव्य, भैषज्य (औषधि), उशीर (खस), ह्रीवेर (नेत्रवाला), पिण्डालु (रतालू, शकरकन्द) आदि बोने के लिए बीच में तालाब आदि से सम्पन्न खेत उत्तम होता है। सूखी अथवा जलीय भूमि में इच्छानुसार अन्यान्य औषधियाँ बोयी जा सकती हैं।"

यूनानी इतिहासकारों अथवा कौटिलीय **अर्थशास्त्र** के उपुर्यक्त उद्धरण इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं कि वे कृषि और उसके लिए अनुकूल परिस्थितियों – वर्षा, बाढ़, भूमि और खाद आदि को ही दृष्टि में रखकर विशेष रूप से लिखे गये हैं। किन्तु उनके पूरक विवरणों से भारतीय साहित्य के अन्य अनेक स्थल भी भरे पड़े हैं। चूँकि वे विवरण आकस्मिक हैं, तुलनात्मक दृष्टि से बड़े ही उपयोगी है। खेतों-खेती और फसलों-फलों आदि के जो उल्लेख वैदिक साहित्य में हैं, वे क्षेत्रविशेष, सिन्धु और उसकी सहायक नदियों (पञ्चनद), पर ही लागू हैं, जहाँ आज भी उन्हीं दिनों की भाँति गेहूँ (गोधूम), जौ (यव), तिल, कपास, मूँग (मुद्ग), उड़द (भास), ब्रीहि (धान) जैसी फसलें मुख्यरूप से उगायी जाती हैं। तथापि उस युग (२५००-८०० ई.पू.) को विस्तृत खेती का युग अथवा बहुत उन्नत खेती का युग नहीं कहा जा सकता। लोगों का सर्वमुख्य पेशा उस समय पशुचारण और पशुपालन ही था। किन्तु सूत्रों का और बौद्ध निकायों का काल आते-आते (८००-४०० ई.पू.) भारतीय कृषि का क्षेत्रीय आयत्त पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से आगे बढ़ता हुआ पूरब और दक्षिण की ओर तेजी से मध्य उत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के उत्तरी और मध्य भागों तक विस्तृत हो गया, जहाँ के घने जंगलों तथा हिमालय से निकलकर पूर्व-दक्षिण की ओर बहने वाली बड़ी-छोटी सैकड़ों नदियों द्वारा बाढ़ में लायी हुई मिट्टी से बने बड़े ही उर्वर मैदानों ने कृषि को एक ऐसा बढ़ावा दिया जो भारतीय इतिहास में कदाचित् सर्वदा ही अतुल्य रहा है। पश्चिमोत्तर और धुर उत्तरी भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या का भी बढ़ाव इन्हीं प्रदेशों की ओर था। फसलों के विभिन्न नाम और रूप तथा उनके लिए उपयुक्त विभिन्न प्रकार की भूमियों का आगे चलकर जो उल्लेख कौटिल्य करता है उसके सम्पूर्ण आधार को हम स्पष्टतः सूत्रों और निकायों में पाते हैं। यह युग कृषि के भौमिक

विस्तार के साथ अनेक प्रकार की नयी-नयी फसलों के आगमन का है। उदाहरणस्वरूप, वैदिक साहित्य चावल के लिए केवल शालि और व्रीहि शब्दों का उल्लेख करता है, दालों में मुद्ग-मसूर-मास मात्र का उल्लेख करता है तथा तिलहनों में तिल मात्र को जानता है, किन्तु बौद्ध साहित्य में चावल तैयार करने के लिए शालि कलम (कलमा धान), षष्टिक (साठी-साठा), कोद्रव (कोदो), श्यामक (साँवाँ), नीवाड़, चीनक (चीना-चेना) और तण्डुल जैसी अनेक नयी फसलों के भी विवरण प्राप्त होते हैं।[1] **मिलिन्दपञ्हों** में (पृ. २५१, २६२ और २६७) क्रमशः कुरुंभक, कुमुदभण्डिका और कंगु नामक चावलों के विवरण आते हैं। कुमुदभण्डिका अपरान्त प्रदेश में बोया जाता था और केवल एक माह में ही तैयार हो जाता था। कुंरुभक इतना बढ़िया चावल था कि यह राजाओं को परोसने लायक था। किन्तु कंगु मोटा और अत्यन्त साधारण चावल होता था जो केवल मजदूरों और दासों के लिए उपयुक्त समझा जाता था। **सुत्तपिटक** से भी शालि की कई किस्में ज्ञात होती हैं। इनमें महाशालि, रक्तशालि, गन्धशालि एवं तन्दुल की गिनती की गयी है।[2]

चावल भारतवर्ष का प्रधान भोजन था और प्रायः सारे भारतवर्ष में पैदा होता था। पुरातात्त्विक खुदाइयों से नवपाषाणीय सतहों पर चिरांद (बिहार) में धान या चावल के दानों की प्राप्ति का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। महास्थान अभिलेख[3] से प्राचीन बंगाल के पुण्ड्रनगर में इसकी खेती का प्रमाण मिलता है। **तैत्तिरीय संहिता**[4] में काले, सफेद और जल्दी पकने वाले धानों का उल्लेख है और आशुव्रीहि नामक एक ऐसे धान की चर्चा है, जो केवल साठ दिनों में ही पककर तैयार हो जाता था। **महावस्तु** का उल्लेख है (विलियम जोन्स्, प्रथम, पृ. २४५) कि वैशाली (बिहार) में एक बार बुद्ध को उनके पिण्डपात (भिक्षाग्रहण) के समय २२ (बाईस) से अधिक ही प्रकार के चावल (भात) परोसे गये थे। मगध में पाटलिपुत्र और नालन्दा के आसपास का क्षेत्र तो धान-चावल की खेती के लिए अत्यन्त ही प्रसिद्ध क्षेत्र था, जिसकी चर्चा भारतीय बौद्ध साहित्य तो करता ही है, फा-श्येन् और श्वान्-च्वाङ्ग जैसे चीनी धर्मयात्री भी उसका प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए अघाते नहीं है। वे एक ऐसे महीन चावल की मिठास, खुशबू तथा स्वाद की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं जो उनके शब्दों में 'बड़े आदमियों' और राजाओं का भोजन[5] था। शालिकेदार जातक (फॉसबाल, चतुर्थ, पृ. २७६ और आगे) धान की खेती के लिए मगध की प्रसिद्धि का उल्लेख करता है। इसकी अनुगूँज हमें पातन्जलि **महाभाष्य** (प्रथम, १९) में भी प्राप्त होती है। मगध का एक ब्राह्मण गृहपति अपने एक हजार करीष के आयत्त वाले खतों में धानमात्र की ही खेती करते हुए

(१) जातक, फॉसबॉल, द्वितीय, पृ. ३७४; तृतीय, पृ. १४२, पञ्चम, पृ. ३७ और ४०५।

(२) वहीं, जिल्द १, पृ. ४२९, ४४८; जिल्द २, पृ. १३५, २७८; जिल्द ३, पृ. ३८३; जिल्द, ४, पृ. २७६; प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. १८३।

(३) इऐ., १९३३, पृ. १७७।

(४) कृष्णानां व्रीहीणां सोमाय वनस्पतये श्यामकं चरूं सवित्र सत्यप्रसवाय पुरोडाशं द्वादशकपालमासानां व्रीहीणां रुद्राय। प्रथम, ८.१०।

(५) देखें, विशुद्धानन्द पाठक, पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृ. १११।

दिखाया गया है।[1] स्पष्ट है, विहार और बंगाल धान की खेती के प्रमुख क्षेत्र थे। किन्तु दक्षिण कोसल और आन्ध्र के प्रदेश भी उनसे बहुत पीछे नहीं रहे होंगे। मेगास्थनीज़ आन्ध्र प्रदेश की विशालता और उसकी भूमि के उपजाऊपन का उल्लेख करता है। **वाल्मीकि रामायण** से भी ज्ञात होता है कि गोदावरी नदी के कांठों में धान की खेती होती थी।

धान की खेती के उपर्युक्त गुणात्मक, आयत्तात्मक और मात्रात्मक सर्वभारतीय विस्तार के कारक क्या थे, यह प्रश्न यहाँ विचारणीय है। इस सम्बन्ध में रामशरण शर्मा के मत[2] यहाँ समीचीन हैं, जो अन्य कारकों के अलावा एक कारक पर विशेष रूप से बल देते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य से उन्होंने ऐसे अनेक साक्ष्य और सन्दर्भ ढूँढ निकाले हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध युग से प्रारम्भकर मौर्य युग के आते-आते (लगभग ३०० ई. पू. तक) धान के बीजों की बेहन डालने और पुनः उन्हें अच्छी तरह तैयार किये हुए दूसरे खेतों में रोपने की प्रथा भली-भाँति प्रचलित हो चुकी थी। बौद्ध निकायों में 'रोपन' (रोपण) और 'रोपेति' शब्दों के प्रयोग प्राप्त होते हैं।[3] जैन ग्रन्थ **नायाधम्मकहाओ** अथवा ज्ञाताधर्मकथा में 'उक्खयनिहेयि' अथवा 'उक्खणणीहेयि' (उखाड़कर गाड़े हुए) जैसे पद प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ की रचना का समय हर्मन् जैकोबी और विण्टरनित्ज़् ने लगभग ३०० ई.पू. निश्चित किया हैं जो मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन के अन्तिम वर्षों के आसपास पड़ता है। उपुर्यक्त ग्रन्थ में धान की बेहन डालने और उसे पुनः दूसरे खेत में रोपने की प्रक्रिया का विधिवत् उल्लेख है। कथित है कि धन नामक एक धनी सेठ की चार पतोहुओं में एक (रोहिणी) के नौकर-चाकर धान के पाँच दानों को अच्छी तरह तैयार की हुई एक क्यारी में डालते हैं तथा पुनः उन्हें दुबारा और तिबारा उखाड़कर दूसरी जगह गाड़ते हैं (दोक्कंपि तक्कंपि उक्खयनिहेयि करोन्ति)। यह प्रथा आज उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के सभी भागों में तो प्रचलित है ही, भारत के अन्य धान की फसल उगाने वाले भागों में व्यापकरूप से प्राप्त होती है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल[4] ने **पातन्जलिमहाभाष्य** के ब्रीहि और शालि शब्दों का विवेचन करते हुए कहा है कि ब्रीहि वह धान था जो ऊपर के खेतों में छिटककर बोया जाता था और जल्दी उत्पन्न हो जाता था। किन्तु शालि वह धान था जो एक क्यारी में बेहन डालकर अन्य खेतों में रोपा जाता था और देर से जाड़े (अगहन) में कटता था तथा छिटके धान की अपेक्षा मात्रा में फसल अधिक देता था। ब्रीहिधान ऊपरी खेतों में और शालि धान निचले और पानी जमे रहने वाले खेतों में लगाया जाता था। दूसरे प्रकार की जमीन को **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २४) में **केदार** कहा गया है, जिसका भोजपुरी भाषा का रूपान्तर है क्यारी। **खुद्दकनिकाय** का **शालिकेदार जातक** धान की रोपनी और खेती की इस प्रथा का साहित्यिक प्रतिबिम्बन है।

---

(१) नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ११०।

(२) देखें, मैटिरियल ऐण्ड सोशल् फार्मेशन इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, १९८५, पृ. ९६ और आगे।

(३) वहीं, पृ. ९६।

(४) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ. २०४।

तिलहन और दालों के उल्लेख भी बौद्ध साहित्य के विभिन्न स्थानों पर छितराये हुए प्राप्त होते हैं। कुसुम्भ (बर्रेसफोला), सर्सप (सरसो) और अतसी (तीसी, जिसे निकायों में क्षीम कहा गया है) तथा वरक (बर्रे) के उल्लेख बड़े प्रमुख रूप में आते हैं। रेणी (अरण्ड) = रेण की खेती श्रमहीन होने से काफी प्रचलित थी। तिल एक पवित्र अन्न माना जाने लगा था जो श्राद्ध और पूजन की क्रियाओं में प्रयुक्त होने के कारण सभी वर्णों द्वारा खेती में अपनाया जाने लगा था। **मनुस्मृति** इसकी खेती, इसके दान और इसकी पुण्य कार्यों हेतु बिक्री और इसके पुत्रद प्रभाव का उल्लेख करती है।[1] दालों में मुद्ग, मास (उड़द), मसूर के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य और परवर्ती ग्रन्थ कलाय (केराव या मटर), चणक (चना) और कुलत्थ (कुल्थी) के उल्लेख बार-बार करते हैं।[2] पीछे हम देख चुके हैं कि कर्नाटक के हल्लूर और तमिलनाडु की पय्यमपल्ली की नवपाषाणीय सतहों में (लगभग १५०० ई.पू.) से रागी तथा चिरांद (बिहार), इनामगाँव (महाराष्ट्र), नवदाटोली (मध्य प्रदेश), पय्यमपल्ली (तमिलनाडु) और तेक्कलकोट (कर्नाटक) की नवपाषाणीय सतहों से मटर, मसूर और चने के दाने प्राप्त हुए हैं।[3] ये प्राप्तियाँ इस बात की सूचक हैं कि ये अन्न १५००-१००० ई.पू. के आसपास भारतवर्ष के विभिन्न भागों में उगाये जाने लगे थे।

ईख की खेती के सन्दर्भ वैदिक साहित्य[4] के समय से ही प्राप्त होते हैं। यूनानी इतिहासकार ईख की खेती को कुछ प्रशंसात्मक, किन्तु साथ ही आश्चर्यजनक, रूप में उपस्थित करते हैं। स्पष्टतः, उसका क्षेत्र पंजाब था। डायोडोरस् उन्हें लम्बे-बढ़े हुए बेतों की तरह बताता है (द्वितीय, ३६) जो नीची और दलदली भूमि के भीतर की नमी तथा ऊपर की गर्मी पाकर प्रभूत जड़ों से युक्त हो जाती है। प्रथम शती के **पेरिप्लस्**[5] का अज्ञातनामा यूनानी लेखक भी इसे सकरि (शर्करा) अथवा मीठा बेंत कहते हुए इससे उत्पन्न मधुर रस, राब, महिया या खाँड़ का निर्यात बैरीगज़ा (भृगुकच्छ, भरुच) के बन्दरगाह से पश्चिम के देशों को बताता है। वास्तव में यूनान में ईख के न होने के कारण ही ये लेखक उसे मीठा बेंत (बेत सदृश ऊँचा और कण्डों वाला होने के कारण) बताते हैं। कच्छ-सौराष्ट्र के प्रदेशों में ईख या गन्ना नहीं होता था। बहुत सम्भव है, यह निर्यात भरुच होते हुए अधिकतर गंगा के दोआब से होता रहा हो। एरियन् आक्सीमैगीस (इक्षुमती) नामक एक नदी का उल्लेख करता है, जिसकी **वाल्मीकि रामायण** में भी चर्चा (द्वितीय, ७०.३) है। यद्यपि कौटिल्य **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २४) में ईख की खेती को बहुत ही कष्टसाध्य और व्ययसाध्य बताता है, निकायों के युग में सारा उत्तर प्रदेश और बिहार उत्साहपूर्वक गन्ने की खेती करता था। **कुणालजातक** में रोहिणी नदी पर बने बन्धे से पानी लेकर शाक्यों और कोलियों द्वारा तेज गर्मी के दिनों में अपनी-अपनी ओर की ईख की खेती बचाने के प्रश्न पर एक बड़े संघर्ष

---

(१) मनु., तृतीय, २१०, २२३, २३४-२३५; चतुर्थ, २२९; दशम, ९०।

(२) सुत्तनिपात, तृतीय १०; अर्थ., द्वितीय, २४, महाभारत, १३वाँ, ३.७१; मिलिन्दपञ्हो (ट्रेंकनर सं.), पृ. २६७।

(३) देखें, धर्मप्रताप अग्रवाल, आर्केलॉजी ऑफ इण्डिया।

(४) अथर्व, प्रथम ३४.५।

(५) पृ. २७, २९।

की सूचना है। भिक्षुओं के खान-पान क्या हों अथवा भिक्षा में गृहस्थों से वे क्या स्वीकारें, क्या न स्वीकारें, इस सम्बन्ध में **विनयपिटक** में ईख-गन्ना से पेरे जाने वाले कई पदार्थों के उल्लेख हैं। **मिलिन्दपञ्हो** (पृष्ठ १६६) में गन्ना पेरने के कोल्हू का उल्लेख है और **सौन्दरनन्दकाव्य** (नवाँ, ३१) गन्ना पेर दिये जाने के बाद, उसके सूखे हुए खोइये को ईंधन के रूप में जलाने की प्रथा का उल्लेख करता है। यह प्रथा आज भी भारतवर्ष में ईख पैदा करने वाले सभी प्रदेशों में जारी है।

यूनानी इतिहासकार[1] तमाम प्रकार के फलों का उल्लेख करते हैं और आश्चर्यपूर्वक कहते हैं कि भारतवर्ष में तो अनेक फसलें और फल ऐसे होते हैं, जो यहाँ के निवासी बिना लगाये-बोये और रोपे ही प्रकृति से सहजरूप में उत्पन्न हुआ प्राप्त कर लेते हैं। ये फल मीठे और खट्टे दोनों ही प्रकार के होते थे।[2] डायोडोरस् (द्वितीय, ५३) के अनुसार हिन्दुस्तान में ताड़ और खजूर के पेड़ों का आकार बाबुल के उन पेड़ों की अपेक्षा तिगुना होता था। कपिश (अफगानिस्तान) में आजकल की ही तरह अंगूर की खेती बहुत होती थी, जिसकी चर्चा स्ट्रैबो[3], **मिलिन्दपञ्हो** और पाणिनि समान रूप से करते हैं। नारियल एक ऐसा फल था जो समुद्री किनारों और बिहार-बंगाल की नदियों द्वारा लायी हुई बालुकामय काली मटियार मिट्टी की जमी हुई परतों में बहुत ही अधिकता से पैदा किया जाता था। जातक साहित्य इससे भलीभाँति परिचित प्रतीत होता है।[4] ओनिसेक्राइटस् को उद्धृत करता हुआ स्ट्रैबो[5] बरगद की ऊँचाई, उससे निकलने वाली अधोमुखी शाखाओं (बरोहों), तथा पुनः उनके द्वारा जमीन छूकर उसमें घुस जाने तथा नये-नये पेड़ों के रूप में बढ़ जाने एवं पुनः उसी प्रक्रिया को दुहराते हुए ऐसे वृक्षों का साश्चर्य उल्लेख करता है जो अन्ततः अपनी छाया और आकार से मानों कई स्तम्भों पर टिके हुए विशाल तम्बू का स्वरूप धारण कर लेते थे। उनके तनों के बारे में वह कहता है कि धीरे-धीरे वे इतने मोटे हो जाते थे कि पाँच-पाँच व्यक्तियों की बाहें उन्हें घेरने के लिए एक साथ लगानी पड़ती थीं। अरिष्टोबुलस् के अनुसार एक-एक पेड़ कभी-कभी ५०-५० घुड़सवारों को उनके वाहनों के साथ छाया प्रदान करता था। ओनेसेक्राइटस् इस संख्या को ५०० बताता है। नियार्कस् तो अत्यन्त ही अतिरंजना के साथ इस संख्या को १० हजार बताता है।[6] ये पेड़ निश्चय ही मैदानी भागों में होने वाले प्रमुखतः बरगद, पीपल, पाकड़ और शाल्मलि (सेमर) के रहे होंगे। पेड़ों से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में प्लिनी[7] लोहबान, लवंग, काली मिर्च और विभिन्न प्रकार के सिर्कों की गिनती करता है। चन्दन की लकड़ी भी उसी कोटि में आती थी। इनके अतिरिक्त वन्य वृक्षों से

---

(१) डायोडोरस्, द्वितीय, ३५।
(२) अर्थ, द्वितीय, १५।
(३) पन्द्रहवाँ, १.१८; सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृ. ७६।
(४) फॉसबाल, प्रथम, पृ. ४२३; द्वितीय, पृ. ४४०; पञ्चम, पृ. ३५४ और ४१७।
(५) पन्द्रहवाँ, १.२१।
(६) वहीं।
(७) १२वाँ, ७।

लाख, गोंद, छालों से टपकने वाले रस, औषधियाँ तथा रंग भी प्राप्त होते थे। लाख और खदिर (खैर) की खेती-बारी बड़े पैमाने पर की जाती थी और जंगली एवं पहाड़ी प्रदेशों के लोगों को उनसे आसानी से जीविकोपार्जन की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं।

वस्त्र, रस्सी अथवा ऐसी ही वस्तुओं का निर्माण करने वाले तन्तु वाले वृक्ष अथवा पौधों की संख्या भी कम नहीं थी। हड़प्पा संस्कृति के समय से ही पंजाब और सिन्ध में कपास की खेती होती थी जो आज भी पाकिस्तान और भारतीय पंजाब की कृषि का एक मुख्य अंग है। सौराष्ट्र-गुजरात[१] का क्षेत्र भी इसकी खेती का एक अन्य केन्द्र था। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि काशीकुत्तन अर्थात् महीन अद्धी के कपड़ों और रेशम के कपड़ों के लिए काशी बहुत ही प्रसिद्ध था। चूँकि आज भी काशी-वाराणसी के आस-पास कपास की खेती नहीं होती, यह कहना कठिन है कि काशीकुत्तन का कच्चा माल कहाँ से आता था। **अर्थशास्त्र**[२] का उल्लेख है कि मथुरा (मथुरा या मदुरै?), अपरान्त, कलिंग के पश्चिमी भागों, काशी, वंग, वत्स (कौशाम्बी) और महिष (माहिष्मती) के सूती कपड़े सबसे बढ़िया होते थे। हिरोडोटस् के अनुसार कपास की रूई भेड़ के ऊन से अथवा भारतवर्ष के उन पेड़ों से प्राप्त होने वाली रुई (सेमर या मदार) से भी बढ़िया होती थी, जो भारत में यों ही जंगली रूप में बहुत ही हुआ करते थे।[३] इरैटोस्थेनीज कपास के पौधे को भी पेड़ ही बताता है। पेड़ों से प्राप्त होने वाली रुई के बारे में स्ट्रैबो[४] कहता है कि उनके फूलों का रूप एक गोल पत्थर जैसा हो जाता था जिन्हें फोड़ने पर ऊन परछिया कर निकाला जा सकता था। बौद्ध साहित्य[५] में कोसल और मगध के दुस्स (दुस्सा या धुस्सा = कम्बल) की चर्चाएँ बार-बार आती हैं तथा क्षौमदुस्स के विवरण भी प्राप्त होते हैं। ये पटुआ, केले के रेशों, अतसी के डण्टलों को पीटने से बनने वाले बारीक रेशों तथा भेड़-बकरी के बालों एवं कपास की रुई से बनाये जाते थे। बौद्ध साहित्य[६] **खोम्भम्** और **साणं** (क्षौम और साण = अतसी) के डण्टल और सन या सनई का प्रचुर उल्लेख करता है। कपास की रुई और ऊन की प्रतियोगिता करने वाला एक तीसरा तन्तु था रेशम, जिससे बने कपड़ों के व्यापार के लिए काशी अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात था। मूलतः इसका ज्ञान चीन (चीनांशुक) से हुआ था, किन्तु इस व्यापार में लगने वाला सारा कच्चा माल चीन से ही आता होगा[७] यह बहुत सम्भव नहीं प्रतीत होता। जूट या पटुआ आज की ही तरह उस समय भी बंगाल प्रदेश तक ही सीमित था।

देश के विभिन्न भागों में विदेशों – मिस्र, यूनान, रोम और पश्चिमी एशिया – को

(१) पेरिप्लस्, पृ. ३६, ७१।
(२) द्वितीय, ११।
(३) उद्धृत, अ.ना. बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १२७।
(४) पन्द्रहवाँ, १.२१; प्लिनी, ग्यारहवाँ।
(५) प्रभा त्रिपाठी, प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. २२८।
(६) दीघनिकाय, २३वाँ, २६४; और देखें, महा., बारहवाँ ८६, १४; स्ट्रैबो, पन्द्रहवाँ, १.१३।
(७) पेरिप्लस्, पृ. ११।

निर्यात हेतु पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली अनेक वस्तुओं के उत्पादन[1] किये जाते थे, जो भृगुकच्छ जैसे पश्चिमी समुद्र तट के बन्दरगाहों से जहाजों द्वारा भेजे जाते थे। ऐसी वस्तुओं में गेहूँ, चावल, लोहबान, शक्कर से बनी चीजें, तिल के तेल, सूती कपड़े, करधनी, रुईगर्दे, लाख, समुद्री कछुओं की ख़ोलें, गैडों की सींगें, कुछ मलावारी पेड़ों की छालें (मकीर), अरव लोगों के लिए मोटे कपड़े, मखमल, शिलाजित, गुग्गुल, कठघास (जटिलाघास या जटामांसी), अंजन-सुरमा, रोयेंदार पौधे और चन्दन सम्मिलित थे। दक्षिण में पश्चिमी घाटों, विशेषतः समुद्र के मलावार वाले तट, के आस-पास मिर्च-मसालों, चन्दन तथा हाथीदाँत जैसी अनेक चीजों की व्यावसायिक उत्पत्ति की जाती थी, जिनके पश्चिमी देशों – मिस्र और रोम में निर्यात और उससे भारतवर्ष को प्राप्त होने वाले स्वर्ण की चर्चा प्लिनी और बाद में **पेरिप्लस्** के लेखक करते हैं। उत्तर भारत में पैदा होने वाले मसालों में हल्दी, सोंठ और जीरा मुख्य थे।[2]

ऋतु विज्ञान और फसल क्रम

देशी और विदेशी दोनों ही साक्ष्य भारतीय कृषि से सम्बद्ध विभिन्न ऋतुओं और विभिन्न फसलों के वोये और काटे जाने के समय की जानकारी देते हैं। यूनानी साक्ष्य मुख्य रूप में भारतीय कृषि की दो ही ऋतुओं – जुलाई-अगस्त (भदई या खरीफ की फसल) और अक्टूबर-नवम्बर (वर्षा-वाढ़ के वाद के महीनों की रवी की फसल) का उल्लेख करते हैं।[3] कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[4] में मुख्यतः दो (खरीफ और रवी) किन्तु सुविधा और अवसर जुट जाने पर तीन या चार ऋतुओं में भी फसलों के बोने और काटने की चंर्चा आती है। कौटिल्य शालि (अगहनी धान), व्रीहि (छिटका धान, जिसमें साठा-साठी सम्मिलित हैं), कोदो, तिल, ककुनी (प्रियंगु), दारक, वारक (लोविया) नामक सात अन्नों के बीज वर्षा के प्रथम भाग (आषाढ़ = जून-जुलाई) में बोने-बोआने की संस्तुति **सीताध्यक्ष** को करता है। ये **पूर्वावापः** अर्थात् वर्षा के पूर्वभाग में बोयी जाने वाली फसलें थीं जिन्हें वहाँ वार्षिक शस्य अर्थात वर्षा की फसलें कहा गया है। वे प्रायः मार्गशीर्ष (अगहन) में काटी जाती थीं।[5] मूँग, उड़द, बोड़ा (शिम्ब) जैसे तीन अन्नों के बीज वर्षा के मध्य भाग में वोये जाते थे। किन्तु ये भी खरीफ की फसल में ही आते थे। कुसुम्भ (वर्रे या सफोला), मसूर, कुल्थी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी और सरसो जैसे आठ अन्नों के बीज वर्षा के अन्त में बोये जाते थे जो आजकल की ही तरह रवी की फसलें थीं।

वर्षा ऋतु, उसके मध्य और उसके अन्त में वोयी जाने वाली उपर्युक्त फसलों के

---

(१) वहीं, पृ. २८४-२८८।

(२) जातक, फॉसवाल, जिल्द १, पृ. २४४; जिल्द २, पृ. ३६३; जिल्द ३, पृ. २२५; महावग्ग, ६/२/४।

(३) डायोडोरस, द्वितीय, ३६।

(४) द्वितीय, २४।

(५) अर्थशास्त्र के कथन के बावजूद ये सभी फसलें अगहनिया नहीं थी। साठी-साठा भादों-क्वार में तथा कोदो क्वार-कार्तिक में कटते थे। अभी हाल तक पूर्वी उत्तर प्रदेश में इनकी व्यापक खेती होती थी। कार्तिक (अक्टूबर) में कटने के कारण एक धान कतिकी कहा जाता था। एक अन्य प्रकार का धान था करंगा जो अगहन के प्रारम्भ में कटता था। ये सभी छिटका धान ही थे।

अतिरिक्त कौटिल्य एक अन्य स्थान[1] पर ऐसी भी छोटी-मोटी अथवा सीमित स्तर पर बोयी जाने वाली फसलों का उल्लेख करता है, जो प्रथमतः वसन्त (चैत्र) में बोयी जाकर ज्येष्ठ (ग्रीष्मपूर्व) में काटी जाती थीं, और दूसरी, वे जो ज्येष्ठ में बोयी जाकर वर्षा के प्रारम्भ होते-होते काटी जाती थीं। राजा को इस सन्दर्भ में यह सलाह दी गयी है कि वह शत्रु की शक्ति को नष्ट करने के लिये इन फसलों को नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से उनके होने के समय अपने शत्रु प्रदेशों पर धावा बोले। प्रस्तुत लेखक अपने निजी ज्ञान के आधार पर यह कह सकता है कि इनमें से प्रथम कोटि वाली फसलों में सम्भवतः बौद्ध साहित्य से ज्ञात, और अभी हाल तक पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार में बोयी-काटी जाने वाली चीनक (चीना-चेना) की फसल सम्मिलित रही होगी। **वाल्मीकि रामायण** (चतुर्थ, ३०.४७) तो ऐसी भी फसलों का उल्लेख करता है जो या तो शरद (क्वार) में बोयी जाकर कार्तिक में काट ली जाती थीं अथवा हेमन्त (अगहन-पूस) में बोकर फाल्गुन में काट ली जाती थीं। लगता है, ये फसलें आजकल जिन्हें अन्न शब्द की व्यापक सूची में रखा जाता है उनमें से न होकर साग-सब्जियों की सूची वाली वस्तुओं में ही रही होंगी।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र**, यूनानी लेखकों और अन्य साहित्यिक साक्ष्यों की कृषिपरक पृष्ठभूमि हमें बौद्ध साहित्य में स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। वहाँ कृषि के सन्दर्भ में जहाँ वर्ष के बारह महीनों का उल्लेख है, वहीं उन्हें दो-दो महीनों के बन्धों में छह ऋतुओं में वर्ष को बाँटकर, उनकी कृषि सम्बन्धी विशेषताएँ बतायी गयी हैं। वे हैं – वसन्त (चैत्र-वैशाख), ग्रीष्म (ज्येष्ठ-आषाढ़), वर्षा (सावन-भादों), शरद (क्वार-कार्तिक), हेमन्त (अगहन-पूस) और शिशिर (माघ-फागुन)। इनके अतिरिक्त साल को २७ नक्षत्रों के हिसाब से भी बाँटा गया। यद्यपि इन ऋतु विभाजनों एवं नक्षत्रों का उल्लेख उत्तरवैदिक ग्रन्थों के समय से प्राप्त होने लगता है, कृषि की दृष्टि से विभिन्न फसलों के सन्दर्भ में उनका उल्लेख गृह्यसूत्रों के समय बड़ा व्यापक दिखायी देता है। कृषि से सम्बद्ध विभिन्न त्योहार और फसलों की बोआई के समय इन नक्षत्रों के नामोल्लेख उनमें प्राप्त होते हैं।[2]

खेतों की तैयारी तथा कृषि प्रक्रियाएँ

पालि निकायों के कुछ परवर्ती अंशों में भारतीय कृषि का एक विकसित, व्यापक और बहुआयामी स्वरूप प्राप्त होता है। उसे कौटिल्य अपने **अर्थशास्त्र** में एक वैज्ञानिक कलेवर के साथ उपस्थित करता है। बहुत ही प्राचीन काल से कृषि में लगे लोगों का अनुभव जहाँ इस परिस्थिति के जन्म में एक कारण रहा होगा, वहीं नये कृषि उपकरणों से उद्भूत नयी तकनीक का भी कम महत्त्व नहीं था। कहाँ खेती बढ़िया होती है, कहाँ कम होती है और कहाँ नहीं हो सकती, इसकी जानकारी बौद्ध सुत्तों से प्राप्त होती है। **अंगुत्तरनिकाय**[3] में ऊँचे-नीचे, पथरीले, कंकरीले, लवणयुक्त, जोतने में गहराई के अभाव वाले, वर्षा के पानी के भीतरी वहाव से हीन, मेड़ों से रहित और पानी की कुल्याओं से हीन-इन आठ प्रकार

(१) अर्थ, ग्यारहवाँ, १।

(२) शांखायन गृह्यसूत्र, चतुर्थ, १३.१; आश्वलायन गृह्यसूत्र, द्वितीय, १०.३।

(३) चतुर्थ, पृ. २३७ और आगे।

की अप्रद भूमियों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक अन्य सूत्र[1] में उत्तम, मध्यम और हीन कोटि में भूमि अथवा खेतों को विभाजित किया गया है और कहा गया है कि उन्हीं की तुलना में बौद्ध भिक्षु उत्तम, बौद्ध धर्म के उपासक गृहस्थ मध्यम और अन्य धर्मों (जैन आदि) के श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक साधुहीन कोटि के हैं।

यह ज्ञान विकसित हो चुका था कि खेतों को बराबर (हर ऋतु में) न बोकर यदि परती या पलिहर छोड़ दिया जाय तो उनके इस अप्रयोग का फल अगली खेती के अच्छे होने के रूप में मिलेगा।[2] खेतों की ठीक से जुताई तथा उनकी मिट्टी को बीजों के अच्छी प्रकार से उगने हेतु भली प्रकार तैयार करने की प्रक्रियाओं का उल्लेख **अंगुत्तरनिकाय**[3] में प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में कृषकों के तीन क्रमिक कार्य प्रमुख थे, जिनमें सीधे-सीधे खेत को सुकट्ठ (बराबर) करना, उसकी मिट्टी को जोत-खोदकर और पटेला देकर महीन और भुरभुरी करना (सुमतिकतं) और उस प्रकार तैयार किये हुए खेत में बीजों की सीधी-सीधी कतार में प्रतिष्ठापित (पतिट्ठापेति) करना गिने गये हैं। **संयुत्तनिकाय** (२२/१०२/११२) के अनुसार शरद काल (वर्षा बीत जाने पर) में बड़े-बड़े हलों से खेतों की जुताई करने पर सभी प्रकार की सुखसम्पदा (खेतों की उत्पत्ति रूप में) प्राप्त होती है। इसी कारण जातकों में उपजाऊ भूमि (जातपथवी) की तुलना मधुमक्खी के छत्तों से की गयी है।[4] खेतों में बोये जाने वाले बीज किस प्रकार के हों, उनकी नमी कैसे बनायी रखी जाय, जल्दी अंकुरण हेतु क्या किया जाय, अंकुरित बीजों की कैसे रक्षा की जाय, किस प्रकार और कौन-कौन सी खादों का प्रयोग किया जाय अथवा फसलों के समुचित विकास हेतु कौन-कौन से अन्य उपाय काम में लाये जाँय, इन सम्बन्धों में पालि साहित्य और **अर्थशास्त्र** के उल्लेखों का यहाँ एक संक्षिप्त मात्र उल्लेख किया जा सकता है। **अंगुत्तरनिकाय** (प्रथम, ३/४/४) और **थेरीगाथा** (सं. ३८८ और ३९१) खेतों में बोये हुए सड़े-गले और खराब बीजों के प्रतिकूल परिणामों और अच्छे बीजों के अनुकूल परिणामों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि ऐसे ही बीज बोये जाँय जिनके दाने टूटे हुए न हों तथा जो अंकुरण की पूरी क्षमता रखते हों। वपन के पूर्व बीजों को हवा की आर्द्रता से बचाया जाता था। उत्तम बीज ही सातत्यता, मधुरता और रस से परिपूर्ण होकर उगते थे।[5]

बीजों को बोने योग्य बनाने की **अर्थशास्त्र** की अनुशंसाएँ तो बहुत ही व्यापक हैं। तद्नुसार (द्वितीय, २४), धान के बीजों को सात दिनों तक तुषारयापन (ओस में रखना) और पुनः सात दिनों तक धूप में रखना (उष्णयापन); कोशी-धान्य (मूँग-उड़द आदि) को

---

(१) संयुत्तनिकाय, पाटेसो., चतुर्थ, पृ. ३१४-३१७।

(२) अग्रवाल, वा.श., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. २१२-२१३।

(३) नालन्दा प्रकाशन, प्रथम, ३/१०/१ – तदनुसार –
तीणिमानिभिक्खेवं, कस्सकस्स गहपतिस्स अच्चायिकानि करणीयानि। कतमानि तिणि। इधरभिक्खवे कस्सको गहपति सीधं सीधं खेत्ते सुकट्ठं करोति सुमितिकतं। सीधं सीधं खेत्ते सुकट्ठं करित्वा सुमितिकतं सीधं सीधं बीजानि पतिट्ठापेति।

(४) फॉसबॉल, जिल्द १, पृ. १६४, २४०, ३८८; जिल्द ३, पृ. ४०१।

(५) अं.नि., चतुर्थ, १०/११/४।

इसी प्रकार तीन-तीन दिनों तक ओस और धूप में रखना; ईख के कटे हुए बीज के टुकड़ों पर मधु, घी, सूअर की चर्बी और गोबर का लेप करना; कटहल के बीज बोने वाले गड्ढों में पहले घास-फूस आदि रखकर उनमें उष्णता पैदा करना तथा उसके बाद उनमें हड्डी (पशुओं की) और गोबर डालकर ही बीज डालना तथा उनके अंकुरित हो जाने पर सेंहुण के दूध में भिगोयी गयी छोटी-छोटी मछलियों (सिधरी जैसी) को छोड़ना; पुनः कपास के बिनौलों के गूदों को साँप की खोल (छोड़ी हुई त्वचा) में मिलाकर तथा उन्हें गरम करके कटहल के उन अंकुरों को सेंकने से ही अंकुरण और प्ररोहण भली प्रकार होता था। गौर किया जाय तो प्रतीत होगा कि ये विधियाँ कष्टसाध्य ही नहीं अपितु व्ययसाध्य भी थीं। इसी प्रसंग में कौटिल्य इन उद्धरणों के पूर्व ईख की खेती को बहुत व्ययसाध्य बताते हुए तथा उसकी खेती को अनुत्साहित करते हुए स्वयं को दिखाता है। इतना निश्चित है कि कालान्तर में बीजांकुरण की उसकी अनेक विधियाँ अव्यवहार्य और अस्वीकृत हो गयीं। किन्तु धान के बीजांकुरण की उसकी संस्तुत विधि एक दूसरे प्रकार से आज भी विद्यमान है, जिसे पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में जरई की विधि कहते हैं। तद्नुसार, बीजों को क्यारियों में बेहन डालने के पूर्व पानी में कुछ दिनों तक भिगो देते हैं और पुनः पानी से उन्हें निकाल कर छाया में सुखा लेते हैं। उससे उनमें अंकुरण खेतों में डाले जाने के पूर्व ही हो जाता है और वे जल्दी ही बढ़कर तैयार हो जाते हैं। यही तुषारयापन और उष्णयापन का आधुनिक रूप है। कटहल के बीजों को भी सफलतापूर्वक उगाने की अर्थशास्त्रीय विधि का केन्द्रविन्दु है उन्हें कई प्रकार से उष्णता देना। आज यह प्रचलित नहीं है। किन्तु जंगल विभागों में बबूल, सागौन, कटहल और सेमल जैसे कड़े बीजों को क्रमशः गरम पानी और ठण्डे पानी में कई बार बदल-बदल कर ही अंकुरित करके क्यारियों में डाला जाता है।

सातवाँ अध्याय

पानी, उपकरण, कृषि श्रमिक एवं दुर्भिक्ष

खाद और पानी (सिंचाई)

भारतीय कृषि के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों द्वारा वर्षा हेतु इन्द्रदेव की प्रार्थना, मेघों की स्तुति, यूनानी लेखकों के बाढ़ और वर्षा (मानसून) सम्बन्धी उल्लेख, वर्षा को केन्द्र में रखकर ही ऋतुओं और नक्षत्रों के विभाजन और खेती के लिए वर्षा की प्रतीक्षा एवं उसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त का उपयोग जैसे अनगिनत सन्दर्भ इस स्पष्ट बात को ही बार-बार दुहराते हैं कि भारतीय खेती अभी हाल तक पूर्णतः वर्षामात्र पर निर्भर थी। कौन और कैसे बादल केवल गरजते हैं, बरसते नहीं; कौन बरसते हैं, गरजते नहीं, कौन दोनों ही क्रियाएँ करते हैं, किन-किन नक्षत्रों की विभिन्न स्थितियों से वर्षा होती है, कब नहीं होती, कितनी बार कहाँ कितनी वर्षा होनी चाहिए, वर्षाऋतु में मेघ, ब्रादल, सूर्य (धूप) और वर्षा का आपसी आना-जाना कैसा होना चाहिए तथा वर्षा की दृष्टि से कौन सा वर्ष उत्तम होता है – आदि-आदि विषयों पर **सुत्तपिटक**[1] के अनेक स्थलों पर तथा कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[2] के विवरण भी इसी प्रकार के चित्रण हैं। वर्षा न होने से खेती का न होना राजा अथवा शासक के पापों के कारण ही होता है, ऐसे सन्दर्भों से सारा भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। कौटिल्य की यह अनुशंसा बड़ी व्यञ्जक है कि बीज की पहली मुट्ठी बोते समय कृषक यह मन्त्र पढ़े– 'प्रजापति, काश्यप (सूर्यपुत्र) मेघदेव को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ। कृषि कर्म की अधिष्ठात्री सीतादेवी हमारे इस बीज की और धन की वृद्धि करें'।[3]

वर्षा का जल प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से कृषि के लिए उपयोगी था। आकाश से सीधे खेतों के ऊपर बरसने वाले मेघ सिंचाई साधनों से विहीन खेतों में कई प्रकार से प्राण फेंकते थे। मिट्टी में समसकर वे पौधों को बहुत बड़ी मात्रा में नत्रजन और ऐसे अन्य उपजाऊ तत्त्व पहुँचाते थे जो कृत्रिम सिंचाई-साधनों वाले खेतों की फसलों की अपेक्षा अधिक हरियाली और उत्पादन के कारक सिद्ध होते थे। वर्षाएँ ही नदियों में बाढ़ का कारण बनती थीं और बरसात में उनका पानी बढ़कर जहाँ तक जाता था वहाँ तक उनके साथ पीछे से बहकर आयी हुई पतली, महीन और अत्यन्त ही उपजाऊ मिट्टी की एक ऐसी सतह खेतों में जमा हो जाती थी जो पहाड़ों और मैदानों के अनेक धातुतत्त्वों से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ खाद का काम करती थी। बाढ़ वाले ऐसे इलाकों में केवल चीरफाड़कर

---

(१) अंगुत्तरनिकाय, नालन्दा प्रकाशन, द्वितीय, ४/११/२।

(२) द्वितीय, २४।

(३) प्रजापतये काश्ययाय देवाय नमः सदा।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च।। (वहीं, श्लोक ४)

भी अत्यन्त मामूली परिश्रम से भी जो बो दिया जाता था, वह भी काफी बढ़िया उपज देता था।

वर्षा के पानी और बाढ़ के पानी से जो खाद के तत्त्व खेतों को स्वाभाविक रूप में प्राप्त होते थे, उनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार से जैविक खादों द्वारा खेतों की उर्वरता को बढ़ाने की प्रक्रियाएँ प्रचलित थीं। बड़ा स्पष्ट है, अत्यन्त प्राचीन काल से ही अच्छी फसल और खाद के आपसी सम्बन्ध का ज्ञान भारतीयों को था। वैदिक साहित्य करीष (खाद) के महत्त्व का कई स्थानों पर परिचय देता है। जैविक खादों में मानव और पशुओं के मलमूत्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे और खेतों में इनके पड़ जाने के लाभ का ज्ञान प्रारम्भ में दृष्ट्यानुभूति से ही हुआ होगा। इसी प्रकार, घासपात, फूस, सड़ी-गली चीजों और सूखी पत्तियों जैसी अन्यान्य वस्तुओं के भी कुछ दिनों में अच्छी खाद बन जाने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी अनुमान लगाया जा सकता है। राख, भूसी, जंगली आग में जले हुए पेड़-पौधों और वनस्पतियों के विशाल धूलि भण्डार, विभिन्न प्रकार के तेलों की खली और मरे हुए पशुओं के गले हुए मांस और हड्डियाँ भी खादरूप में प्रयोग होती रही होंगी। किन्तु सर्वाधिक उपयोग पशुओं के गोबर का ही था, जो आजकल की अपेक्षा ईंधन हेतु लकड़ी की उन दिनों भरपूर प्राप्ति के कारण चूल्हे में कदाचित् बहुत ही कम जलाया जाता रहा होगा। **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, २४) में गोबर, घासफूस, मछली की हड्डियों, सेहुड़ के दूध एवं पशुओं की हड्डियों का उल्लेख खाद के रूप में और बोने वाले बीजों या डण्ठलों को सूखने और कीड़ों से बचाने हेतु उपचारस्वरूप उन पर लेप के रूप में आता है। मौर्य युग से कुछ पूर्व जब हलके लोहे वाले फालों और कृषि के अन्य लौह उपकरणों का ज्ञान हुआ और खेती के विस्तार में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया तो कृषि का भौमिक आयत्त तो बढ़ा ही, सघन खेती की प्रक्रियाएँ भी प्रारम्भ हो गयीं। खेतों में बार-बार फसलों को उगाने हेतु जब उनकी स्वाभाविक खाद और उर्वरता अपर्याप्त प्रतीत होने लगी होगी, तभी विभिन्न प्रकार की खादों का प्रचलन भी बढ़ा होगा।

अच्छी फसल हेतु उर्वर भूमि और बढ़िया बीज जिस मात्रा में चाहिए, उसी अनुपात में उनकी अच्छी पैदावार के लिए पानी की भी आवश्यकता होती है। भारतीय खेती के सम्बन्ध में एक कथन प्रायः मिलता है कि यह वर्षा के पासे पर जुए का एक दाँव है। अतः वर्षा की अनिश्चितता का पूरा ध्यान था और सिंचाई के कृत्रिम साधनों का एक व्यापक और बहुविध स्वरूप प्रारम्भ से ही विकसित किया जाने लगा था। क्लासिकी इतिहासकार[१] यह सूचना देते हैं कि भूमि का एक बड़ा भाग इन कृत्रिम साधनों की परिधि में था। कौटिल्य के मतानुसार[२] "सेतुबन्ध ही अन्नों (सस्य) की योनि अर्थात् उत्पत्ति का कारक है। वहाँ एकत्रित जल की सहायता से कृषिजन्य जल के सभी तत्त्व कृषि को प्राप्त होते रहते हैं।" **वाल्मीकि रामायण** द्वितीय (१००.४५) में कोशल राज्य की अदेवमातृका भूमि (भूमि जो केवल वर्षा के जल पर निर्भर न होकर, कृत्रिम सिंचाई-साधनों से युक्त हो) की प्रशंसा की

---

(१) डायोडोरस्, द्वितीय ३५।

(२) सेतुबन्धः सस्यानां योनिः। नित्यानुसक्तो ही वर्षगुणलाभः सेतुवापेषु। (अर्थ., सप्तम, १४)

गयी है। इसी प्रकार **महाभारत**[१] में भी बड़ी-बड़ी झीलों, तटाकों तथा कुओं के निर्माण राज्य के लिए इस हेतु आवश्यक बताये गये हैं कि उनके होते हुए वर्षामात्र के जल पर निर्भरता समाप्त की जा सकेगी। सिंचाई की ऐसी सुविधाओं से ही यह सम्भव था कि कृषक अपनी खेती की पूरी आवश्यकता भर, साल के सभी महीनों में, जल प्राप्त करते हुए उसकी उपज तथा कृषि का क्षेत्रीय आयत्त बढ़ावे, स्वयं अपने भरणपोषण के अतिरिक्त राजकीय आय की वृद्धि का कारण बने और समाज के अन्य वर्गों के लिए भी एक अधिभाग का निर्माण करे।

मानव निर्मित सिंचाई संसाधनों के कई प्रकारों का प्रचलन प्राचीन भारत में था। **ऋग्वेद**[२] में भी खोदकर पानी निकालने का उल्लेख है। **अर्थशास्त्र**[३] में नदी, सर (सरोवर), तड़ाग और कुओं से पानी निकालकर सिंचाई का उल्लेख है। वहाँ यह भी कथित है कि किसान इन विभिन्न स्रोतों से कभी-कभी अपने हाथों से अथवा कन्धों और पीठ पर ढोकर तथा स्रोतयन्त्र द्वारा (रहट से) भी जल खेतों में ले जाते थे। इन्हें क्रमशः हस्तप्रावर्तिन्, स्कन्धप्रावर्तिन् और स्रोतयन्त्रप्रावर्तिन् कहा गया है। यह अनुशंसित है कि इन विभिन्न उपायों से यदि किसान राजकीय भूमि पर खेती करते हों तो **सीताध्यक्ष** उनसे उपज का क्रमशः पाँचवाँ भाग, चौथा भाग और तीसरा भाग देकर खेती करावे। एक यूनानी इतिहासकार[४] ने बड़े-बड़े बन्धों के बीच बनी हुई ऐसी नहरों का उल्लेख किया है, जिनसे छोटी-छोटी नहरों (कुल्याओं) द्वारा दूर-दूर तक पानी ले जाया जाता था। मेगास्थनीज ने फाटकों द्वारा बन्द नहरों का उल्लेख किया है जो आवश्यकतानुसार बन्द और खोले जा सकते थे।[५] बड़ी-बड़ी नहरों के इन उल्लेखों का सत्यापन प्राचीन स्थानों की आधुनिक खुदाइयों से प्राप्त अनेक प्रमाणों से पूरी तरह होता है। यद्यपि उनका विस्तृत उल्लेख तो यहाँ बहुत सम्भव या आवश्यक नहीं प्रतीत होता, कुछ की ओर अवश्य इंगित किया जा सकता है – यथा, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर को बेसनगर की खुदाई के समय प्राप्त बेस नदी की ओर जाती हुई पक्की ईटों की दीवारों से युक्त १८५ फीट लम्बी नहर[६] और कुम्रहार (पटना) में मौर्यों द्वारा सोन नदी से निकलने वाली नहर[७]। नागार्जुनिकोण्डा की खुदाइयों से भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के समय की वहाँ एक विशाल नहर के होने का प्रमाण प्राप्त है।[८] हाथिगुम्फा अभिलेख में कथित है कि खारवेल ने अपने शासन के ५वें वर्ष में तनसुलि (तोषलि) से एक नहर निकाल कर अपनी राजधानी तक लायी जो मूलतः ३०० वर्षों पहले नन्द राजा द्वारा खुदवायी गयी थी।[९] ईसा पूर्व पहली शती के संगमकालीन शासक करिकाल ने कावेरी नदी के किनारों को

---

(१) शान्तिपर्व, ५.७७; ४३.७; ८६.१५।
(२) लुई रेनू, दि सिविलाइज़ेशन ऑफ ऐंशियेण्ट इण्डिया, नई दिल्ली, १९८७, पृ. १३८।
(३) नदी सरतटाककूपोद्धाटम्। द्वितीय, २४।
(४) स्ट्रैबो, १५वाँ, १.५०।
(५) लुई रेनू, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १३८।
(६) आसरिपो., १९१४-१५, पृ. ६६-७१।
(७) इण्डियन् आर्कियोलॉजी, १९५४-५, पृ. १६।
(८) इण्डियन् आर्कियोलॉजी, १९५८-५९, पृ. ८, फलक १२-अ।
(९) इहिक्वा, १४वाँ, पृ. २६१ और आगे; एइ.; २०वाँ, पृ. ७२ और आगे।

वंधों से मजबूत करके उससे सिंचाई की सुविधाएँ उत्पन्न की थीं।[1] उषवदात का नासिक बौद्ध गुहालेख[2] (द्वितीय शताब्दी) इस बात का उल्लेख करता है कि उस शासक ने ह्वदा, पारदा, दमण, तापी, करवेणा और हाहनुका नामक नदियों के पानी को सिंचाई हेतु प्रयुक्त करने का प्रबन्ध किया था।

उपर्युक्त सबसे यह स्पष्ट है कि राज्यशासन इस बात को पूरी तरह समझता था कि सिंचाई के छोटे-छोटे कृत्रिम साधन चाहे व्यक्तिगत पहल के भीतर भले ही आ सकते हों, बड़ी-बड़ी योजनाएँ तो राजकीय पहल से ही सम्भव थीं। बड़ी-नहरें और बड़े सरोवर राजकीय पहलों के ही परिणाम थे। इनके द्वारा नदियों के जल को सिंचाई के लिए प्रयुक्त करने की प्रायः दो विधियाँ प्रमुखरूप से ज्ञात होती हैं। मैदानी भागों में कदाचित् नदियों के तटबन्धों को मजबूत करके, उनके बहाव मार्गों पर कुछ गत्यावरोध उत्पन्न करके उनके जल को अगल-बगल के, कृषि क्षेत्रों में कुल्याओं अर्थात् पतली नहरों द्वारा ले जाया जाता था। किन्तु दूसरी विधि वह थी जिसमें नदियों के प्रायः उद्गमस्थलों अथवा यदि उनसे कुछ नीचे के स्थानों में सुविधा रही तो उनके पहाड़ी ढलानों पर बरसात में उनमें गिरने वाले पानी को बड़े-बड़े बाँध (नदी को रोकते हुए) वना दिये जाते थे और पुनः उनमें से सिंचाई हेतु छोटी-छोटी नहरें (कुल्याएँ) निकाल कर सिंचाई हेतु जलविभाजन किये जाते थे।

उपर्युक्त दूसरे प्रकार की मानव-निर्मित झील का एक छोटा उदाहरण शाक्य-कोलिय सीमा पर रोहिणी नदी के ऊपर बना हुआ बाँध[3] था। उसका सबसे बढ़िया और प्रमुख उदाहरण आधुनिक गुजरात-काठियावाड़ की जूनागढ़ (गिरनार) स्थित सुदर्शन झील का है। चन्द्रगुप्त मौर्य के सुराष्ट्र प्रान्त स्थित राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा प्रथमतः निर्मित; अशोक के समय उसकी टूटी हुई कुल्याओं (नहरों) की मरम्मत; दूसरी शती में उसके तटबन्धों के टूट जाने पर शक-क्षहरात शासक रुद्रदामन् द्वारा अपने निजी कोष से उसकी वर्षा में ४२० हाथ टूटी हुई दूरी की पूरी मरम्मत; और पुनः गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय सावन-भादों की एक प्रचण्ड वर्षा में पलाशिनी नदी की बाढ़ से टूटने से होने वाले धन-जन और पशुओं की हानि एवं वहाँ के तत्कालीन गोप्ता (राज्यपाल) पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा उसकी पुनः मरम्मत के मनोरम विवरण दूसरी शती (१५० ई.) के रुद्रदामन् के जूनागढ़ (गिरनार) अभिलेख और ४५५-५६ ई. के स्कन्दगुप्त के वहीं के अभिलेख में प्राप्त होते हैं।[4]

किन्तु ऐसे बड़े सरोवरों और नदियों से निःसृत नहरों से होने वाली सिंचाई के क्षेत्र सीमित ही होते थे। देश का विशाल मैदानी भाग स्थलीय और आकार में छोटी सिंचाई-व्यवस्थाओं पर ही अधिकांशतः निर्भर था। इनमें कुएँ, छोटे तालाब, बावलियाँ और पोखरे आदि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति में सिंचाई-सुविधाओं के प्रतिशत का एक बड़ा भाग अवश्य ही रहे

(१) इऐ. १६०८, पृ. २३३।
(२) एइ., अष्टम, पृ. ७८ और आगे।
(३) जातक, फॉसबाल, पञ्चम, पृ. ४१२ और आगे।
(४) देखें, एइ. अष्टम्, पृ. ४२ और आगे; इऐ. अष्टम, पृ. २५७ और आगे; कार्पस्, फ्लीट, जिल्द ३, पृ. ५६ और आगे।

होंगे। गाँवों में प्रायः सम्पूर्ण खेती कुओं के जल पर निर्भर थीं।[1] कूपों और तटाकों के निर्माण देश के अपेक्षाकृत अकृष्ट और कम उपजाऊ भागों में किये जाते रहे होंगे ताकि नजदीक से ही पानी लेकर उनमें कुछ खेती की जा सके। **मिलिन्दपञ्हो** जहाँ शाकल (स्यालकोट) जनपद की प्रशंसा कुओं और तालाबों के लिए करता है, वहीं **वाल्मीकि रामायण** (अयोध्याकाण्ड, ५०वाँ ओर १००वाँ अध्याय) में कोशल के तालाबों और कृत्रिम झीलों के उल्लेख हैं। जातकों सहित सारे बौद्ध साहित्य में भी इनके बिखरे हुए उल्लेख प्राप्त होते हैं।

कुओं, तालाबों और पुष्करिणियों को व्यक्तिगत रूप अथवा सामुदायिक रूप से खुदवाना और उन्हें किसी व्यक्ति विशेष अथवा समुदाय को दान कर देना धीरे-धीरे एक पुण्य कार्य माना·जाने लगा। यहाँ उन सैकड़ों अभिलेखों की गिनती आवश्यक नहीं है, जो ऐसे दानों का उल्लेख करते हैं और भारतवर्ष के लगभग सभी भागों से प्राप्त हुए हैं।[2] पुरातत्त्व इस निर्णय में सहायक होता है कि पक्की ईटों से बने हुए गोल कुएँ ईसा पूर्व की पाँचवीं-चौथी शताब्दियों के आते-आते काफी प्रचलित हो चुके थे। पुरातत्त्व की ही भाषा में यह काल उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्‌भाण्डों (एन.बी.पी.) के उस उत्तरी (परवर्ती) काल का था जब से अधिक मात्रा में सिक्के, भरपूर संख्या में मृद्‌भाण्ड और खिलौने, लोहे के अधिकाधिक उपकरण, पकी हुई ईटों के वास्तु, कुछ खपरैलें और गोलाकार कुओं के पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। मोटे तौर पर यह समय ३०० ई.पू. के आसपास का था।[3] ईटों से बने तालाव और सरोवरों के अवशेष भी अब प्राप्त होने लगते हैं। हस्तिनापुर, नयी दिल्ली, मथुरा, उज्जैन, नासिक, रोपड़, उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) के कुछ स्थानों, थानेश्वर, आहाड़ और अहिछत्र की खुदाइयों से ये पुरातात्विक. अवशेष अधिकांश रूप में प्राप्त हुए हैं।[4] अशोक के प्रस्तर लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि उसने सड़कों पर यात्रियों की सुविधा के लिए हर आधे कोस पर कुओं को खुदवाया था।[5]

अभिलेखों और पुरातात्त्विक उपलब्धियों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि सुदर्शन जैसे वड़े-बड़े सरोवरों, बन्धों और नदियों से निकाली गयी नहरों की सिंचाई हेतु उपयोगिता थोड़े क्षेत्रों मात्र तक सीमित थी। कृषि क्षेत्रों में आने वाले वड़े-बड़े भूमि भागों को सींचने के लिए तो यह आवश्यक रहा होगा कि छोटे-छोटे तटाक और कुएँ जगह-जगह बनवाये जायँ, यद्यपि कौटिल्य[6] कहता है कि और स्रोतों से प्राप्त होने वाले जल की अपेक्षा स्थायी स्रोतों (बड़ी झीलों और नदियों) से प्राप्त जल इस कारण अधिक ग्राह्य है कि उससे निर्वाध रूप में एक बड़ा आयत्त आसानी से सींचा जा सकता है।

---

(१) बौधायन धर्मसूत्र, द्वितीय, ३, ५-६; ११, २५, २७; गौतमधर्मसूत्र, ६वाँ, १०।

(२) इनकी सूची हेतु देखें, नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७१-१७३।

(३) देखें, रामशरण शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ६१; स्टेनकोनो, कार्पस्, जिल्द २, पृ. ११-१२।

(४) विशेष रूप से देखें, इण्डियन् आर्केलॉजी, १९५४-१९५५, पृ. ७, ९, १४; ऐंशियेण्ट इण्डिया, सं. १०-११, पृ. १६; सं. ४, पृ. १२५; आसरि. १९१०-११, पृ. २४।

(५) द्वितीय प्रस्तर लेख और सप्तम स्तम्भ लेख।

(६) अर्थ., सप्तम, १२।

महाभारत[1] और **नारदस्मृति**[2] का कथन है कि एक सौ कुओं की अपेक्षा एक वापी (पोखरी) ज्यादे अच्छी है। तथापि कुओं और तटाकों की उपयोगिता का अवमूल्यन असम्भव था। कुओं की एक विशेषता यह थी कि गर्मियों में अथवा अधिक वर्षा के अभाव में जब छोटे-छोटे तालाब और पोखरियाँ भी सूख जाती रही होंगी तब भी गहरे कुओं के नीचे का जल प्राप्य था। साथ ही वे आवश्यकतानुसार चाहे जहाँ भी हो, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बनवाए जा सकते थे। तथापि बरसाती पानी को इकट्ठा करके पहाड़ी और मरुस्थली प्रदेशों की दबी हुई ढलानों को बड़ी-बड़ी झीलों के रूप में पीने के पानी और सिंचाई हेतु उन दिनों भी कदाचित् उसी तरह प्रयुक्त किया जाता रहा होगा, जैसा आज राजस्थान के विभिन्न भागों में होता है। **महावस्तु**[3] से यह ज्ञात होता है कि बनारस की सड़कों के दोनों ही ओर ठण्डे पानी से भरी हुई पुष्करिणियाँ और तालाब बने हुए थे। यह शहर अभी हाल तक तालाबों के लिए प्रसिद्ध रहा है।

सिंचाई के विभिन्न साधनों के नवनिर्माण और रखरखाव के प्रति राज्य अपनी एक विशेष जिम्मेदारी का अनुभव करता था। यह चन्द्रगुप्त मौर्य के समय सुदर्शन झील के राजकीय निर्माण, अशोक के समय उसकी नहरों की मरम्मत, उसके टूट जाने पर रुद्रदामन् द्वारा अपने निजी कोष (राजकीय करों द्वारा नहीं) से उसका जीर्णोद्धार और पुनः स्कन्दगुप्त के समय वर्षा में उसके तटबन्ध के बह जाने से उत्पन्न विनाशलीला से द्रवित सुराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा उसकी अन्तिम मरम्मत के कार्यों से भलीभाँति स्पष्ट है। इस एक ही उदाहरण से ईसा पूर्व चौथी शती से ईसा सन् की पाँचवी सदी तक एक रूप में प्रवहमान राजकीय उत्तरदायित्व का भाव भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इस पुस्तक के विवेच्य युग (६०० ई. तक) के आगे के कश्मीर के इतिहास से भी एक प्रमाण यहाँ दिया जाय तो बहुत असम्बद्ध नहीं माना जाना चाहिए। वह था प्राचीन भारत के सम्भवतः सबसे बड़े इंजीनियर सुय्य और उसके सहायक शकुन द्वारा पूरे राजकीय खर्च पर झेलम नदी को बाँधकर कश्मीर घाटी को सींचने हेतु बनाया जाने वाला एक बहुत ही मजबूत बन्ध (बराज)। इसका एक प्रशंसात्मक उल्लेख कल्हणकृत **राजतरंगिणी** (पञ्चम, २७१-२७७) में प्राप्त होता है। कौटिल्य[4] राजा को इस बात की अनुशंसा करता है कि वह कृषि की सुविधा हेतु स्थायी जल वाले, नदी आदि से लाये हुए जल को रोककर अथवा वर्षा के जल को रोककर सेतुबन्ध का निर्माण करे। राजा के अतिरिक्त यदि अन्य लोग बाँध बँधवाने को उद्यत हों तो उन्हें भूमि, जल निकासी के मार्ग तथा उसके निर्माण में काम आने वाली लकड़ियों के लिए वृक्ष आदि प्रदान करे।

किन्तु सिंचाई की कुओं और तालाबों जैसी छोटी सुविधाओं का निर्माण प्रायः

---

(१) वरं कूपशताद्वापी वरं वापी शतारक्रतुः। (आदिपर्व, ६९.२१)

(२) नारदस्मृति, प्रथम २१२।

(३) प्रथम, ३०८।

(४) सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्।
अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्। अर्थ., द्वितीय

व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक ही होता था।[1] किसानों के सामूहिक श्रम द्वारा इन निर्माणों का उल्लेख करते हुए **अर्थशास्त्र**[2] कहता है कि जो व्यक्ति इनमें स्वयं व्यक्तिगत श्रम न करना चाहे उसे अपने नौकरों और बैलों को देकर उसमें भाग लेना होगा और उनका खर्च वहन करना होगा। किन्तु उस जलस्रोत से वह स्वयं कोई लाभ नहीं उठा सकता। यदि व्यक्तिगत पहल पर सिंचाई हेतु कोई भी स्रोत निर्मित किया जाता था तो पाँच वर्षों तक के लिए कृषि की उपज से ली जाने वाली बलि के राजकीय अंश से उसे मुक्ति (परिहार) दी जाती थी। यदि टूटे हुए जलस्रोत की मरम्मत की जाती थी तो चार वर्षों तक बलिमुक्ति होती थी।[3]

राजकीय और व्यक्तिगत पहल से बने हुए जलस्रोतों और उनके रखरखाव सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण के साथ यह भी उल्लेख आवश्यक है कि उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाने वालों के प्रति राज्य और समाज का क्या रुख था। धर्मशास्त्रकारों ने इन कार्यों को पुण्यद[4] बताते हुए उन्हें किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाना जहाँ पाप बताया, वहीं यह व्यवस्था भी दी कि विभिन्न हानिप्रद कार्यों के लिए राज्य की ओर से हानिकर्ताओं को कौन-कौन से दण्ड दिए जाँय। **मनुस्मृति**[5] के अनुसार किसी तटाक के तटवन्ध तोड़ने वाले को या तो उसी में डुबो देना चाहिए अथवा उसे भारी अर्थदण्ड के साथ उसकी पूरी मरम्मत के लिए विवश करना चाहिए। **विष्णुस्मृति** (पञ्चम, १५) बाँधों के तटबन्धों को तोड़ने वालों के लिए मृत्यु-दण्ड की सजा बताती है। किसी अन्य के कुएँ या तालाब से पानी चुराना अथवा अपने ही तालाब को बेंचना बहुत बड़ा पातक माना जाता था। कथित है कि यदि राजा द्वारा बाँध की मरम्मत करायी जा रही हो और लोग स्वेच्छया उसमें मदद न करें अथवा चोर-चाकू उसे क्षति पहुँचाएँ और वे चुपचाप देखते रहें तो उन्हें अपनी सारी चीजों के साथ राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए।[6] जलसंग्रह के नदी मार्गों पर बनाये गये एक से अधिक सरोवरों अथवा बाँधों में पानी के भण्डारण और उनके पारस्परिक उपयोग को लेकर संघर्ष उत्पन्न हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में कौटिल्य[7] बड़ा ही जागरूक दिखायी देता है। वह कहता है कि यदि किसी नदी के ऊपरी बहाव पर कोई बाँध पहले से ही बना हो और बाद में उसके निचले मार्ग पर कोई दूसरा बाँध बनाया जाय तो उस द्वितीय बाँध के निर्माताओं के लिए यह आवश्यक होगा कि वे पहले वाले से सींची जाती हुई भूमि (कमाण्ड एरिया) पर उसका निर्माण न करें। पुनः जब तक निचले बाँध से सिंचाई होती रहे, ऊपरी बाँध में जल रोका नहीं जा सकता। पुनः उसके मत में सरोवर या बाँध को काटकर उसका

---

(१) पातन्जलि महाभाष्य, प्रथम, ११; बुद्धचरित, १३वाँ, ६०; मनु. द्वितीय, २१८।

(२) सम्भूयसेतुवन्धादप्रकामतः कर्मकरवलीवर्दाः कर्म कुर्युः।
व्ययकर्मणि च भागी स्यात्। न चाशं लभेत्।। (अर्थ, द्वितीय, १)

(३) तटाकसेतुबन्धानां नवपवर्तने पाञ्चवार्सिकः परिहारः भग्नोत्सृष्ठानां चतुवार्षिकः। (अर्थ., तृतीय, ९)

(४) महा., शान्तिपर्व, १२०.८।

(५) नवम, २७६; तुलना करें, याज्ञ., द्वितीय, २७८; अर्थशास्त्र, चतुर्थ, ११।

(६) मनु., नवम, २७४।

(७) पश्चान्निक्रष्टमधरतटाकं नीपरितटाकस्य केदारमुदकेनाप्लावयेत्।
उपरिनिविष्टं नाधरतटाकस्य पूरास्रावं वारयेदन्यत्र त्रिवर्षोपरत्कर्मणः।
तस्यातिक्रमेपूर्वः साहसदण्डः तटाकवामनं च। (अर्थ., तृतीय, ९)

पानी बहा देना राज्य द्वारा एक महद् दण्डनीय अपराध माना जाता था और धान के खेतों अथवा बाँधों को यदि कोई भी हानि कोई पहुँचाए तो उसे नुकसान के अनुपाततः दुगुना दण्ड दिया जाय।[1] कौटिल्य[2] का निर्देश है कि वे व्यक्ति जो किसी दूसरे द्वारा बनवाये गये तालाब की निचली जमीनों पर रहते हुए या तो कुछ निश्चित रकम देने की शर्त पर अथवा साल में एक मुश्त बँधी हुई रकम (चाहे खेत में कुछ हुआ हो या न हो) देने की शर्त पर अथवा उत्पत्ति के कुछ भाग को देना तय करके अथवा वे व्यक्ति जो अपनी भूमि पर शुल्कमुक्ति कृषि के अधिकार से युक्त कर दिये गये हों, उस तालाब से पानी (सिंचाई हेतु) लेते हों तो उन्हें उसकी पूरी रक्षा और मरम्मत भी करनी होगी। वैसा न करने पर वे दण्ड के भागी थे।

यहाँ यह भी एक विचारणीय विषय है कि विवेच्य युग में (प्रारम्भ से ६०० ई. तक) कुओं, तालाबों, सरोवरों, नहरों और बाँधों से किन विधियों द्वारा पानी खेतों में सिंचाई हेतु ले जाया जाता था। शारीरिक श्रम द्वारा उसे ले जाने की दो विधियों का उल्लेख **अर्थशास्त्र** में आया है – हस्तप्रावर्तिनम् और स्कन्धप्रावर्त्तिनम्। इनकी व्याख्याएँ बड़ी कठिन हैं। हस्तप्रावर्तिनम् अर्थात् हाथ से उठाये गये अथवा ले जाये गये का वास्तविक तात्पर्य क्या है? घड़ों द्वारा ले जाकर बड़े कृषि खण्डों को पूरी तरह सींचना असम्भव सा लगता है। सम्भव है, उत्तरी भारत के पूरे मैदानी भागों में अभी हाल तक बहुत ही प्रचलित ढेंकुल या ढेंकुलि से पानी निकालने की प्रथा उस समय तक प्रारम्भ हो चुकी हो। स्कन्धप्रावर्त्तिनम् में बैलों के प्रयोग की सम्भावना दिखायी देती है, जो गहरे कुओं में पुरवट डालकर अथवा रहट (अरघट्ट = पर्शियन् ह्वील) से पानी खींचकर खेतों तक पहुँचाने में उपयोग में लाये जाते थे।[3] नरेन्द्रनाथ खेर[4] ने बोरवेल नामक एक दूसरी आधुनिक विधि का संकेत हस्तप्रावर्तिनम् के सम्बन्ध में किया है, जिसमें एक पतले नाले के दोनों ओर खड़े होकर दो व्यक्ति किसी चमड़े की टोकरी को रस्सियों से बाँधकर उसके द्वारा नीचे से ऊपर की ओर पानी फेकते थे। पूर्वी उत्तर प्रदेश से असम तक एक विधि प्रचलित थी जिसमें बाँस के बने चौड़े मुँह वाले, छिछले दउरे से किसी भरे हुए तालाब या पोखरी या बड़ी नाली से दो व्यक्ति हाथों द्वारा अपेक्षया काफी मात्रा में पानी उलीच लेते थे। अलग-अलग स्थानों पर इसे दउरा चलाना, वेणी चलाना या पनिवट (पानीयावर्त्त) चलाना कहा जाता है। पनिवट और **अर्थशास्त्र** के प्रावर्तिन् अथवा पानी या वर्त्त शब्दों का ध्वनिसाम्य पूर्णतः एक संयोगमात्र है अथवा इनके उद्गम एक हैं, यह विचारणीय होना चाहिए। किन्तु पनिवट का एक दूसरा अर्थ भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित है और वह है पानी जाने का रास्ता। **अर्थशास्त्र** के टीकाकार भट्टस्वामी ने स्रोतयंत्र पावर्तिन् (जल के बहाव मार्ग पर लगाये हुए किसी यन्त्र) और वातयन्त्रप्रावत्तिन् (हवा से चलने वाली पनचक्की) का उल्लेख किया है। राजा माठरिपुत्र

---

(१) केदारारामसेतुबन्धानां परस्परहिंसायां हिंसाद्विगुणो दण्डः। वहीं

(२) प्रक्रयावक्रयाधिभागभोगनिसृष्टोपभोगदतारश्चेषां प्रतिवुर्दुः। अप्रतिकारं हीनद्विगुणोदण्डः।

(३) ललितविस्तर में इस विधि का उल्लेख है। नरेन्द्रनाथ खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७६।

(४) वहीं।

ईश्वरसेन के २४८-२४६ ई. के नासिक बौद्ध गुहाभिलेख में ओदयन्त्रिकों का उल्लेख है, जिसके लेख के सम्पादक सेना ने किसी जल खींचने का इंजिन, जलघड़ी या वैसी ही किसी अन्य विधि के होने की ओर संकेत किया है।[1]

कृषि उपकरण

कृषि का विकास कृषि-उपकरणों के विकास और उन उपकरणों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं-धातुओं के विकास से जुड़ा हुआ है। इस विषय ने इधर विगत कुछ दशकों में विद्वानों को विशेषतः पुरातात्त्विकों को बहुत ही आकृष्ट किया है। देखें, ताम्रपाषाणीय संस्कृतियों के बाद ताँबे के अतिरिक्त अन्य धातुओं-विशेषतः लोहे, के उपयोग भारतवर्ष में कब और किन-किन क्षेत्रों में किस क्रम से किये जाने लगे। इधर हाल में तो वैदिक ऋचाओं में उल्लिखित अयस् की वास्तविक धातुकीय प्रकृति को जानने के लिए धातुकी (मेटलर्जी) के कुछ अध्येताओं ने प्रयोगशालाओं के प्रायोगिक परिणामों की भी घोषणाएँ की हैं।[2] उनके अनुसार वह अयस् लोहे अथवा इस्पात का ही कोई रूप था न कि ताँबे अथवा किसी अन्य मिश्रित धातु का कोई रूप। लोहे के प्रथम पुरातात्त्विक साक्ष्य भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी भागों में स्वात और गोमेल नदियों की घाटियों, पंजाव, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पार्श्ववर्ती राजस्थान से लगभग १०००-५०० ई.पू. के प्राप्त हुए हैं।[3] गांगेय मैदानों के नोह ओर अत्रंजिखेड़ा जैसे ऊपरी भागों से संख्यात्मक दृष्टि से लोहे के जितने औजार ईसा की प्रथम सहस्राब्दि पूर्व के प्रथम भाग से मिले हैं, वे तुलनात्मक दृष्टि से उसी सहस्राब्दी (ई.पू. प्रथम) के उत्तरी अर्धभाग के मध्यवर्ती गांगेय मैदानों से प्राप्त होने वाले लौह उपकरणों के लगभग बराबर ही हैं। किन्तु ऊपरी भागों से प्राप्त लौह अवशेषों का अपेक्षाकृत कम घिसा पिटा और जंग खाया स्वरूप उस भाग के अपेक्षाकृत रेगिस्तानी, सूखी, गर्म और क्षारीय मिट्टी और जलवायु के कारण है, जहाँ की मिट्टी में पड़ी हुई प्राचीन वस्तुएँ के क्षरण की परिस्थितियाँ कम हैं। किन्तु इस युग (१०००-५०० ई.पू.) में लोहे के उपकरणों के प्रयोग अभी मुख्यतः युद्ध-कार्यों के लिए ही किये जाते थे और लोहे से अधिकांशतः अस्त्र-शस्त्र ही बनाये[4] जाते थे। पुरातात्त्विक शब्दावली में यह कालक्षेप चित्रितधूसर मृद्भाण्डों का (पी.जी.डब्ल्यू) था। उस कालेक्षप की बहुत सी लोहे की वस्तुएँ गांगेय मैदानों के ऊपरी भागों में की जाने वाली आधुनिक खुदाइयों से प्राप्त हुई हैं। उत्तर प्रदेश.के एटा जिले के अत्रंञ्जिखेड़ा नामक स्थान से हल में लगाया जाने वाला लोहे का एक फाल भी मिला है, किन्तु इसकी तिथि चित्रितधूसरमृद्भाण्ड कालक्षेप की अन्तिम शताब्दियों की ही है।[5] यह लगभग ५०० ई.पू. के आसपास पड़ती है। इस युग के अधिकतर लौह उपकरण तीरों, भालों और कांटियों के रूप में प्राप्त हुए हैं। वैदिक

(१) एइ., अष्टम, पृ. ८६, लूडर्स लिस्ट, सं. ११३७।

(२) देखें, रवीन्द्र कुमार दुबे। टोकियो (जापान) से प्रकाशित क्रोध पत्रिका में छपा लेख।

(३) रा.श. शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १६, ७१।

(४) वही, पृ. १६. ५८-६०, ७१।

(५) वही, पृ. ६०।

सन्दर्भों में काटने वाली असि अर्थात् छुरिका = छुरी का उल्लेख है। साथ ही वहाँ तीरशीशों और भालाशीशों की भी चर्चाएँ हैं। ये सभी उल्लेख उत्तरी भारत में लौह प्रौद्योगिकी के प्रथम युग सम्बन्धी पुरातात्त्विक खुदाइयों से पूरी तरह मेल खाते हैं।

कृपिकर्मों में सर्वाधिक प्रयुक्त औजार था हल। इसके उल्लेख प्रारम्भिक वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगते हैं। कदाचित् हल की कृषि-सम्बन्धी अनिवार्यता के कारण ही गृह्यसूत्रों ने गृह सम्बन्धी सभी धार्मिक संस्कारों और पूजा सम्बन्धी कार्यों में उसके किसी न किसी भाग का आँगन में स्थापन और पूजा अनिवार्य बना दी। धीरे-धीरे कृषि कार्यों के वार्षिक प्रारम्भ के समय उसकी पूजा का विधान भी प्रचलित हो गया। पाणिनि ने हल का बार-बार उल्लेख किया है।[1] कालान्तर में धीरे-धीरे हल कृषि का प्रतीक बन गया। हलभर की खेती, हलिकाकर जैसे अनेक सन्दर्भ अभिलेखों में खेतों के उचित आयत्त और कुछ करों के नामरूप से आते हैं।

पालि साहित्य में हल को नङ्गल कहा गया है और इसके नाम पर **सुत्तनिपात** में इच्छानङ्गल नामक एक गाँव का भी उल्लेख है जहाँ का कसि भारद्वाज नामक ब्राह्मण ५०० हलों से अपने नौकर-चाकरों द्वारा अपने **ब्रहदेय** ग्राम की विशाल खेती कराता था। उत्तरवैदिक साहित्य में हल के सम्बन्ध में बैलों की संख्या पर अधिक जोर दिया गया है और चार से लेकर चौबीस बैलों तक के एक हल में जोते जाने के उल्लेख आते हैं।[2] स्पष्ट है कि खेती के उन प्रारम्भिक दिनों में कड़ी जंगली भूमि को जोतने हेतु दो बैल मात्र पर्याप्त नहीं थे, विशेषतः उस स्थिति में जब हलों के फाल लकड़ी के ही बनते थे। खदिर (खैर) की लकड़ी चूँकि काफी कड़ी होती थी, प्रायः उसी से फालों का निर्माण होता था। **ऋग्वेद** के समय खदिर और उदुम्बर (गूलर) दोनों ही से बने हल के फालों के प्रयोग होते थे। इनका प्रतीकात्मक और पूजापरक प्रयोग आज भी खेतों की प्रथम जुताई (फसल-वर्षो के आरम्भ में) के समय काशी के आसपास के क्षेत्रों में होता है। अथर्ववेद[3] में प्रार्थना की गयी है कि खदिर के बने फालों से गायें, बकरे, पुत्र-पुत्रियाँ और अन्न लोगों को प्राप्त हों। **शतपथ ब्राह्मण** में खदिर की सख्ती की तुलना हड्डियों से की गयी है।[4] किन्तु वैदिक साहित्य के परवर्ती भागों में हल के लिए जो पविरवन्त अथवा पवरिवम् शब्दों का प्रयोग हुआ है, उससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अब कोई धातुकीय फाल प्रयोग में लाया जाने लगा था[5] जो भाले की तरह का होता था। यह लोहे का बना हुआ फाल ही था जो बाद में कुशी कहा जाने लगा और आज भी यह शब्द पंजाव, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में लोहे के फाल के लिए ही प्रयुक्त होता है।

अतः छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक उत्तरी भारत पूर्णतः लौह युग में प्रवेश नहीं कर

---

(१) वा.श. अग्रवाल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १९९ और २०१।

(२) वैदिक इण्डेक्स्, भाग २, पृ. ४५१।

(३) दशम्, ६.२३।

(४) तेरहवाँ, ४.४.६।

(५) तैत्तिरीयसंहिता, दशम, २.५.६; वैदिक इण्डेक्स्, भाग १, पृ. ५०६।

सका था। उत्तरी कृष्णमार्जित सतहों (५००-२०० ई.पू.) से प्राप्त लौह के द्वितीय कालक्षेप में ही हमें अधिकाधिक कृषि उपकरण प्राप्त होते हैं।[1] यह चित्र पश्चिम एशिया और अन्यत्र से प्राप्त लौह प्राविधिकी के इतिहास के चित्र से मेल खाता है। प्रथम कालावधि में उसका प्रयोग युद्ध कार्यों के लिए होता था और तदुपरान्त दूसरी कालावधि में हस्तोद्योगों और कृषि में उसका प्रयोग हुआ।[2] भारतवर्ष में इस प्रथम कालावधि में लौह उपयोग उत्पादक कार्यों में इस कारण नहीं प्रयुक्त किया जा सका कि एक तो यह बहुत ही कम प्राप्त था और दूसरे इसकी प्रविधि का विकास नहीं हो पाया था। किन्तु उत्पादों के संगठकों को उत्पादकर्ताओं के ऊपर अपना अधिकार जताने में इससे मदद मिली होगी। तथापि इस युग में लोहे का उपयोग, झाड़-जंगलों को साफ करने, गाड़ियों और रथों का निर्माण करने और घरों का निर्माण करने में किया जाता रहा होगा, क्योंकि कई चित्रितधूसर मृद्भाण्डीय स्थानों से कांटियों की प्राप्तियाँ हुई हैं।'[3]

हलों में लगने वाले काठ (गूलर और खैर) के फालों के स्थान पर अथवा उनके समवर्ती रूप में लोहे के फाल कब से और कहाँ-कहाँ प्रयोग में ले आये जाने लगे, इस विषय पर बहुत मतैक्य नहीं है। बुद्ध-युग ६०० ई.पू. के आसपास कोसल और मगध जैसे महाजनपदों का आर्थिक जीवन काफी खुशहाल दिखायी पड़ता है, जिसके पीछे कृषि में गुणात्मक विकास एक प्रधान कारण बताया गया है। डॉ. कोसाम्बी[4] का मत है कि गांगेय मैदानों के इन मध्यवर्ती भागों में प्रकृत्योद्भूत घने जंगलों की सफाई और शालि (अगहनी) धान की बेहन डालकर रोपाई की नवज्ञात विधि द्वारा उन क्षेत्रों पर की जाने वाली खेती के विकास और विस्तार के पीछे की, लोहे के काटने-पीटने और चीड़ने-फाड़ने वाले औजारों के अतिरिक्त जुताई में लोहे के फालों के प्रयोग से ही, यह खुशहाली सम्भव हुई होगी। उसी के कारण नयी बस्तियों और नये नगरों के विकास भी सम्पन्न हुए होंगे। साथ ही यह शंका भी प्रकट की गयी है कि जंगलों को काटने हेतु यह निश्चित नहीं है कि लोहे के उपकरण ही प्रयुक्त किये गये हों। उसके उत्तर में कथित है[6] कि आग से जले और जलाये हुए जंगलों में भी तो अन्ततः पेड़ों के मूलों और मोटे स्तम्भों को काटने और उनकी जड़ों को जमीन से निकालने हेतु टाँगे-टाँगी और कुदालों की आवश्यकताएँ हुई ही होंगी, जो सभी लोहे के ही बनते थे। ऐसी ही परिस्थितियों में इन लौह उपकरणों सहित हलों में लगने वाले लोहे के फालों का प्रयोग बड़े पैमानों पर शुरू हुआ होगा। किन्तु ऐसी आवश्यकता मध्यवर्ती बिहार की उस गांगेय मिट्टी के लिए अधिक हुई होगी जो काली, सूख जाने पर बहुत ही कठोर थी और हल के काष्ठ वाले फालों से आसानी से नहीं जोती जा सकती थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश

(१) ओमप्रकाश टण्डन, आलमगीरपुर एण्ड दि आयरन् एज इन् इण्डिया, पुरातत्त्व, सं. १ (१९६८), पृ. ५९।
(२) टेनरी हॉज़ेज़्, टेक्नोलॉजी इन् दि ऐंशियेण्ट वर्ल्ड, हार्मोण्डोवर्थ, १९७१, पृ. १२४।
(३) रा.श. शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ७२।
(४) देखें, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इण्डियन् हिस्ट्री, मुम्बई, १९५६।
(५) नीहाररञ्जन राय, पुरातत्त्व १९७५-७६, सं. ८, पृ. १३२-१३८।
(६) रा.श. शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ६२।

और पश्चिम बिहार की मिट्टी अपेक्षया नरम और बलुई है तथा वहाँ लोहे के बने फाल कदाचित् बाद में ही प्रयोग में लाये गये होंगे। आज भी उत्तर प्रदेश के गढ़वाल और हिमांचल प्रदेश के किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में चीड़ की लकड़ी से बने हल वाले फालों के प्रयोग होते हैं। उसका कारण वहाँ की भूमि की नरमी ही है। अतः यह निश्चित सा है कि काठ वाले फालों के प्रयोग धीरे-धीरे सीमित होते हुए छोटे-छोटे आयत्तों में ही सिकुड़ गये होंगे।

लोहे के बने फाल का सन्दर्भ पालि ग्रन्थों में प्राप्त होता है[1], जहाँ उसे अयङ्गल कहा गया है। पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में लोहे के फाल को अयोविकारकुशि नाम दिया गया है (चतुर्थ, १.४२)। धर्मसूत्रों[2] में भी इसका उल्लेख आता है। **सुत्तनिपात** के ककालिकसुत्त की भूमिका में लोहे के फाल के दिन भर आग में तपाने और पुनः उसकी गुणवत्ता बढ़ाने के लिए उसे बुझाने (पानी में डालने) पर एक बड़ी आवाज करने का उल्लेख है। वहीं अयोकूट नाम से निहाय का भी उल्लेख है। पालि साहित्य[3] सहित पाणिनि भी अयोघन की चर्चा करते हैं। यह आज भी घन ही कहा जाता है और निहाय (अयोमुख) पर रखी हुई तप्त लोहे की वस्तुओं को काटने-पीटने के काम आता है। इसका रूप एक बड़े और काफी भारी हथौड़े की तरह होता है।

बौधायनधर्मसूत्र में (तृतीय, २.५६) कुद्दाल का उल्लेख है और उसे चलाने वाले को कुद्दालिक कहा गया है। इसे आज भी कुदाल (फावड़ा) ही कहते हैं। **महासुपीकजातक** (फॉसबॉल, प्रथम, पृ. ३३६) में भी खेतिहरों को सम्भावित वर्षा के आने के पूर्व अपने खेतों की मेड़बन्दी हेतु कुद्दाल और पिटक (पिटारी, टोकरी या खाँची) हाथों में लिए जाते हुए (कुद्दालपिटकहत्थेषु आलिम् बन्धनस्थाय निन्तेषु) दिखाया गया है। वैदिक साहित्य के कुछ स्थलों में घास या फसल काटने वाली हँसिया को दातु कहा गया है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में दो प्रकार की हँसियाएँ आजकल प्रचलित हैं – एक में दाँत होते हैं और उस कारण उसे दंतुआ (दंतुल) हँसिया (हँसुआ) कहते हैं। वह कुछ-कुछ प्रत्यञ्चाहीन धनुष के आकार का होता है और धान, गेहूँ, मटर या घास जैसी फसलों तथा डण्ठलों वाली चीजों को काटता है। दूसरा बिना दाँत का और अर्धचन्द्राकार होता है जो सोझऊ (सीधा) हँसुआ कहा जाता है तथा ईख एवं अरहर जैसे मोटे डण्ठलों को काटता है। दातु शब्द दंतुआ या दंतुल हँसिया से मिलता-जुलता है। पूर्वी भारत (बंगाल, असम आदि) में उसे दाकू कहते हैं। इसी तरह दाव नामक काटने वाला एक अन्य औजार भी होता है। हँसिया के लिए हरियाणा में दरान्ति शब्द का प्रयोग होता है। **ऋग्वेद** और **अर्थववेद** में इसके लिए सम्भवतः श्रीणि शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] किन्तु अधिकांश वैदिक सन्दर्भों में इसके लिए लवित्र शब्द आता है। अत्रंजिखेड़ा की खुदाइयों से कुछ ऐसी चीजें प्राप्त हुई है जिनका स्वरूप हँसिया जैसा है।

---

(१) पालि इंगलिश् डिक्शनरी, रीज डेविड्स् और विलियम स्टीड।

(२) रामगोपाल, इण्डिया ऑफ् दि वेदिक कल्पसूत्रज्, पृ. १३४।

(३) प्रस्तुत लेखक इन सूचनाओं के लिए रा.श. शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ९३ का कृतज्ञ है।

(४) वेदिक इण्डेक्स्, भाग १, पृ. ३८४।

(५) ऋग्वेद, प्रथम, ५८.४; दशम, १०६.३; अथर्ववेद, तृतीय, १७.२; वेदिक इण्डेक्स्, भाग २, पृ. ४७१।

दुर्भाग्य यह है कि ऊपर कृषि के जिन उपकरणों का उल्लेख किया गया है (बौद्ध साक्ष्यों के आधार पर) उनके प्रमाण पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की आधुनिक खुदाइयों में प्राप्त नहीं होते। यद्यपि बहुत सी प्राप्तियों से यह तो प्रमाणित है कि इन क्षेत्रों में भी लौह उपकरणों का प्रयोग ७०० ई.पू. के आसपास प्रारम्भ हो चुका था। तथापि छोटे-मोटे कुछेक कृषि उपकरणों के अतिरिक्त अभी तक वहाँ से हल के लौहफाल का कोई अवशेष नहीं मिला है। यह मुख्यतः इस कारण है कि बार-बार की आने वाली बाढ़ों और मिट्टी की बराबर बनी रहने वाली नमी और उपजाऊपन तथा उसके अम्लीय तत्त्वों के कारण छोटे लौह उपकरणों का जमीन के भीतर बहुत दिनों तक पड़े रहकर बचा रहना असम्भव सा था। इन प्रदेशों में जंग लगकर वे जल्दी खराब हो गये होंगे। विशेषतः यह इस कारण भी हुआ होगा कि इन प्रदेशों में वर्षाऋतु में भूमिगत पानी की सतह बहुत ऊपर आ जाती है और नीचे जमीनों में पानी वर्ष के कई-कई महीनों तक लगा ही रह जाता है। फलतः यहाँ से जो कुछ लौह वस्तुएँ प्राप्त भी हुई हैं, वे जंग खाकर करीब-करीब नष्टप्राय हैं और अब पहचानी भी नहीं जा सकतीं।

तथापि कुछ तकनीकी लौह उपलब्धियों की ओर निर्देश किया जा सकता है। गंगाघाटी के अम्बाला (हरियाणा) जिले के रोपड़ नामक स्थान से तथा उत्तर प्रदेश के एटा जिले के अत्रंजिखेड़ा नामक स्थान से खुदाइयों में प्राप्त हल में लगने वाले लोहे के फाल लगभग ५०० ई.पू. के आसपास के हैं। इन स्थानों की मिट्टी उतनी कड़ी नहीं थी जितनी मध्य बिहार के गांगेय मैदानों वाली थी। अतः यह निश्चित सा लगता है कि बुद्ध के युग में जब उन क्षेत्रों में लोहे के फाल लगते थे जहाँ लकड़ी के फालों से भी काम चल जाता था तो उत्तर-पूर्व में जहाँ मिट्टी कड़ी थी, उनका प्रयोग अवश्य ही होता रहा होगा। कौशाम्बी से प्रारम्भिक और मध्य उत्तरीकृष्णमार्जित मृद्भाण्डीय कालक्षेप से क्रमशः दो खोलदार कुल्हाड़ियाँ और एक लोहे का फाल प्राप्त हुआ है। बिहार के वैशाली क्षेत्र के रघुआसोई से उत्तरीकृष्णमार्जित मृद्भाण्डीय कालक्षेप का एक लौह-फाल भी प्राप्त हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध-युग के आसपास तक मानभूम और सिंहभूम की लोहे की खानों का उपयोग लोहे की धूलि को निकालकर और उसे आग और पानी के प्रयोग द्वारा साफ कर लौह उपकरणों को बनाने में किया जाने लगा था। ये औजार प्रायः लोहे को गरम करके पीटकर ही बनाये जाते थे।

कृषि श्रमिक

कृषि और कृषि-श्रमिक सभी युगों में अन्योन्याश्रयी रहे हैं। प्राचीन भारत में ज्यों-ज्यों कृषि का गुणात्मक और आयत्तात्मक विस्तार होता गया, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक श्रमिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगीं। प्रागैतिहासिक और आद्यैतिहासिक युग में जो भी थोड़ी-बहुत खेती होती थी, उसमें अन्नों के बारे में आकस्मिक ज्ञान और उन्हें उत्पन्न करने वाले प्राकृतिक उपादानों जैसे वर्षा, भूमि और बीज के आपसी मिलन का ही अपेक्षाकृत अधिक योगदान रहा होगा, बजाय परिश्रम और कृत्रिम उपादानों के। पूर्व वैदिक युग भी बहुत विस्तृत खेती का युग नहीं था। किन्तु उत्तर वैदिक काल का अन्त होते-होते बुद्ध के

युग के थोड़ा पूर्व से ही कृषि के विस्तार में कृषि उपकरणों में लौह प्रयोग, विशेषतः हलों में लोहे के फालों के प्रयोग, धान की नयी-नयी किस्मों और उनमें प्रयुक्त होने वाली रोपनी की पद्धति, जंगलों को काटकर बड़े-बड़े भूखण्डों को खेती के क्षेत्र में लाने की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो गयीं। बड़े-बड़े राज्यों के भूमिविस्तार और उनके शासकों द्वारा ब्राह्मणों को अनेक विमुक्तियों से युक्त दिये गये दान में समूचे के समूचे गाँव तथा उन ब्राह्मणों द्वारा उन पर खेती आदि की विधिवत् व्यवस्थाओं ने निश्चय ही कृषि के क्षेत्र में राज्यों और/अथवा खेतों के व्यक्तिगत मालिकों के लिए निजी श्रम के अतिरिक्त भी अन्यान्य कार्यों के लिए उन श्रमिकों की अनिवार्यता को बढ़ाया होगा जो अपने श्रम के बदले खेतों के मालिकों से पारिश्रमिक अथवा मजदूरी पाने लगे। हड़प्पायी संस्कृति की खेती कदाचित् सामुदायिक और सामूहिक थी। उसी प्रकार **कृषिवार्ताशस्त्रोपजीवी** गणतन्त्रों की भी खेती सामुदायिक अथवा सामूहिक रूप से की जाती थी। अतः उनमें शुद्ध परिश्रम के बदले मजदूरी पाने वाले श्रमिकों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही प्रतीत होती है। तथापि **कुणाल जातक** की कथा से यह स्पष्ट है कि शाक्यों और कोलियों की खेती में सबसे निचले पायों के रूप में दास, दासियाँ और कम्मकर विद्यमान थे, जिन्होंने रोहिणी नदी के पानी के बँटवारे के प्रश्न पर सबसे पहले आपस में झगड़ना प्रारम्भ किया था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** से स्पष्ट है[1] कि मौर्य साम्राज्य जैसे विशाल आयत्त वाले नृपतन्त्रों में राजकीय खेती का आयत्त भी काफी विस्तृत था जिसकी व्यवस्था हेतु **सीताध्यक्ष** नामक कृषि अधिकारी बटाईदारों (अर्थसीतिक) और साधारण मजदूरों पर बहुत अंश तक निर्भर करता था। दोनों पक्षों के पारस्परिक सम्बन्धों और काम की शर्तों के नियमन हेतु **अर्थशास्त्र** विस्तृत नियमों का उल्लेख करता है। बौद्ध **त्रिपिटक** दास, दासियों, कम्मकरों और भतकों (भृतकों) के सन्दर्भों से परिपूर्ण है और अशोक अपने धम्मोपदेशों में उनके प्रति मालिकों द्वारा उचित और करुणामय व्यवहार की अनुशंसा करता है। धीरे-धीरे ये श्रमिक सामाजिक संरचना, विशेषतः कृषि व्यवस्था, के अभिन्न अंग हो गये। फलतः इनकी जीवन पद्धति, कार्यों, मजदूरी, इनकी सामाजिक अवस्था तथा मालिकों और इनके बीच की सेवा-शर्तों अथवा कार्य शर्तों के बारे में पाणिनि की **अष्टाध्यायी**, पतञ्जलि के **महाभाष्य**, **मिलिन्दपञ्हो** तथा **दिव्यावदान** जैसे ग्रन्थों में यत्रतत्र अनेकानेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनके कार्यों के स्वरूप, उनकी उचित मजदूरी, मालिकों से उनके सम्बन्धों, दोनों के बीच के आपसी व्यवहार, मजदूरी की शर्तों के पूरा न किये जाने पर तत्सम्बन्धी विधीय दण्डव्यवस्था जैसी अनेक परिस्थितियों का पूरा अहसास अर्थशास्त्रकारों (कौटिल्य जैसे) और धर्मशास्त्रकारों[2] (मनु, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ जैसे) दोनों ही को था और उनके ग्रन्थ तत्सम्बन्धी उल्लेखों-नियमों अथवा विधियों से भरे हुए हैं। इन सभी विषयों पर एक संक्षिप्त चर्चा हम आगे करेंगे।

उन पाश्चात्य अथवा उन्हीं के आर्थिक ढाँचे पर चलने वाले पौरस्त्य देशों की बात

---

(१) तृतीय. २।

(२) मनु., अष्टम, २१५-१६; २३०-२४२; याज्ञ., व्यवहाराध्याय, १६वाँ प्रकरण, १६३-१६६; नारदस्मृति, पञ्चम अध्याय।

छोड़ दी जाय जहाँ आधुनिक खेती पूर्णतः मशीनों के माध्यम से होती है और उसमें मजदूरों की आवश्यकता बहुत ही कम होती है, तो आज भारत जैसे एशिया के कई देशों में यह दिखायी देगा कि बिना कृषिश्रमिकों के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे भूमिखण्डों की भी खेती नहीं करायी जा सकती, बड़े-बड़े फार्मों की बात तो दूर रही। खरीफ में जिन पौधों की रोपनी होती है, उनको बेहन की क्यारियों से उखाड़ने, उन्हें लेव लगाये हुए अथवा पहले के जोते हुए खेतों में रोपने, उनकी निराई, कटाई, मिसाई-पिटायी या दँवाई (मणनी) तक तथा पुनः रबी की फसलों की कटायी और मणाई तक अनेक काम खेतों में होते हैं। ये उनके जोतने-बोने, मेड़बन्दी, समतलीकरण और सिंचाई आदि के अतिरिक्त हैं। अनाज के घर में आ जाने के बाद भी कुटाई, पिसाई, छटाई आदि अनेक काम लगे ही रहते हैं। जिन लोगों के पास खेत कम हों और पारिवारिक सदस्यों की संख्या ज्यादे हो, जो परम्परया खेतिहर परिवारों के लोग हों और अपना काम स्वयं कर लेने के आदी हों, उनकी बात अपवादात्मक हो सकती है। किन्तु उन्हें भी कभी-कभी दूसरों का सहयोग-चाहे वह मजदूरी दी जाने वाले श्रमिक का हो अथवा भाई-चारे का – लेना ही पड़ता है। किन्तु यदि खेती का आयत्त थोड़ा भी बड़ा हुआ तो मजदूर लगाने ही पड़ेंगे। यही स्थिति प्राचीन काल में भी थी। उस समय, आज की तुलना में कुछ अधिक ही, ब्राह्मण और क्षत्रिय परिवार जमीन के मालिक होते थे। किन्तु वे स्वयं अपने हाथों से खेती नहीं करते थे। इस काम में धर्मशास्त्र और सामाजिक व्यवस्था उनके आड़े हाथों आती थी। शास्त्रतः और परम्परया वैश्य का काम तो कृषि करना था, किन्तु व्यापार-वाणिज्य पर प्रायः एकाधिकार स्थापित कर चुकने के बाद उसे या तो इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी अथवा वह अपने पैसों के बल से कृषि सहित अपने सभी काम दूसरों से करा सकता था। फलतः शूद्र कहे जाने वाले समाज के प्रायः हीन पुरुष ही खेती के लिए बचे रहते थे। ऐसा नहीं कि ये सभी पूरी तरह भूमिहीन थे। तथापि उनकी अपनी निजी स्वामित्त्व की भूमि कम ही थी,[१] विशेषतः उन गाँवों में जहाँ अन्य वर्णों की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत ही कम अथवा नगण्य थी। हाँलाकि जातकों से ऐसी अनेक सूचनाएँ मिलती हैं कि शूद्रजातीय लोगों के भी अपने-अपने गाँव हुआ करते थे। ऐसी स्थिति में इस वर्ग में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थी जो कुछ हद तक अपना श्रम बेंचकर ही अपनी जीविका चलाने के लिए विवश थे। भूमि के मालिकों और भूमिहीन अथवा अल्प भूमि वाले श्रमिकों की ये पारस्परिक आवश्यकताएँ अथवा विवशताएँ ही मूलतः कृषक समाज में श्रमिक तत्त्व के विस्तार का कारण बनी होंगी। ऐसा नहीं कि श्रमिक केवल कृषि क्षेत्र में ही थे। इनकी स्थिति अन्य क्षेत्रों में भी थी। किन्तु यहाँ हमारा ध्यान केवल कृषि क्षेत्र तक ही सीमित है।

खेतों में श्रम और श्रमिक के महत्त्व को कौटिल्य ने भली-भाँति उपस्थित किया है। अर्थशास्त्र[२] से सर्वप्रमुख रूप में उन कृषि मजदूरों की जानकारी होती है जो राजकीय भूमि

(१) मिलिन्दपञ्हो (ट्रेंक्नर सं., पृ. ३५१) में यह कथित है कि यदि गृहस्थ अपनी ही जमीन से अपना पूरा भरण-पोषण कर सके तो उसे दूसरे के खेतों में मजदूरी करने, उसके मालिक की चाटुकारी करने तथा उसके कहने पर यहाँ-वहाँ दौड़ने की क्यों आवश्यकता पड़ेगी?

(२) बहुल परिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्। (अर्थ., द्वितीय, २४.४१)

(सीता) में विविध कृषि कार्यों में लगाये जाते थे। ये मजदूर मुख्यतः तीन प्रकार के होते थे, यथा – दास, कर्मकर और किसी प्रकार का दण्ड भोगने वाले। इनमें दास से अभिप्राय कदाचित् स्थायी रूप में राजकीय सेवा में रहने वाले और राजकीय अन्नों से ही पलने वाले उन पुरुषों से है जो या तो क्रीत (खरीदे हुए) होते थे अथवा जो किसी कारणवश (जैसे कर्ज चुकाने हेतु) स्वयं दासता स्वीकार किये होते थे। कर्मकर (पालि का कम्मकर, आधुनिक भोजपुरी भाषा का कमकर) पैसा अथवा द्रव्य लेकर अपना श्रम बेचता था। तीसरा प्रकार वह था जिसमें कोई व्यक्ति किसी दण्ड (कदाचित् अर्थदण्ड) को चुकाने के लिए कुछ समय परिश्रम अथवा मजदूरी करने को तैयार हो जाता था। राजकीय कृषि में लगे हुए कुछ अप्रत्यक्ष श्रमिक भी हुआ करते थे। वे थे कारु (कारीगर), कर्मार (लोहार), कुट्टाक (बढ़ई), भेदक (जमीन खोदने वाला), रज्जुवर्तक (रस्सी बटने वाला) और सर्पग्रह (साँपों को पकड़ने वाला)। **अर्थशास्त्र**[1] की अनुशंसा है कि दास, कर्मकरों और दण्ड प्रतिकर्मकरों को कृषि के सामानों (हल, बैल, बीज, रस्सी आदि) की चिन्ता से जहाँ **सीताध्यक्ष** मुक्त रखे, वहीं कारु/कम्मार आदि लोगों से भी उसे उचित व्यवहार करना चाहिए। साथ ही, यह भी व्यवस्था दी गयी है कि उसके कार्यों के व्यतिरेक के कारण यदि हानि हो जाय तो उस हानि के अनुपात में उसे दण्ड भी दिया जाय।

मनुस्मृति (दशम, १२०) का कथन है कि करों के बदले राजा शूद्रों, कारुओं (कारीगरों) और शिल्पिओं से काम ही कराये। राजकीय पशुओं के लिए चरवाहे भी **व्रजभूमिक** की देख-रेख में नियुक्त किये जाते रहे होंगे। व्रज अर्थात चरागाह राजकीय सम्पत्ति थे, जिनके ऊपर ये **व्रजभूमिक** (अशोक अभिलेखों के **वचभूमिक**) राज्य की ओर से नियुक्त थे। इन दोनों के बीच की शर्तों का विवरण **मनुस्मृति** (दशम २३० और आगे) में विस्तार से प्राप्त होता है। चरवाहों को वहाँ पाल कहा गया है।

मनुस्मृति[2] ऐसी आपद्स्थितियों का उल्लेख करती है जब समाज के किसी भी वर्ण का कोई व्यक्ति, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, अपने को कृषि कर्म, दास कर्म अथवा सेवाकार्य में लगा सकता था। इन कार्यों में लगे हुए लोगों को स्मृतियों ने एक मोटे रूप में दास की संज्ञा दी है। कहीं-कहीं इन्हें सुश्रूषक (सुश्रूषा = सेवा करने वाला) भी कहा गया है, जो आधुनिक सेवक शब्द का बोधक है। स्मृतियाँ ब्राह्मणों को कृषि कार्य करने की साधारणतया छूट नहीं देतीं, तथापि उनकी यह व्यवस्था (गौतम १०वाँ, ५-६) है कि वे अन्यों (नौकर-चाकरों और श्रमिकों) द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में खेती भी करा सकते हैं।

मनुस्मृति (अष्टम, ४.१५) जहाँ सात प्रकार के दासों की चर्चा करती है, वहीं **नारदस्मृति**, (पञ्चम, २-७) में उनके १५ प्रकार बताये गये हैं। अतः खेतीबारी तथा सेवकाई में लगे हुए दासों की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। स्मृतियों के अनुसार दास, कर्मकर और भृतक अथवा भृत्य जैसी संज्ञाओं से उनके मुख्य रूप से तीन प्रकार के

---

(१) कारुभिश्चकर्मारकुट्टाकभेदकररज्जुवर्तकसर्पग्राहादिभिश्च। तेषां कर्मफल विनिपातेन तत्फलहामिं दण्डः। वहीं

(२) विद्या शिल्पं कृषिः गोरक्ष्यविपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दशजीवनहेतवः।। (दशम, ११६)

विभाजन किये गये हैं, जो बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। जहाँ तक खेतों में काम करने का प्रश्न है, श्रमिकों के ये ही तीन वर्ग मुख्य रूप से वहाँ नियुक्त थे, चाहे वे खेत राज्य के रहे हों अथवा व्यक्तिगत भूमिमालिकों के और चाहे राज्य नृपतान्त्रिक हों अथवा संघराज्य (गणराज्य)। इस मत[1] से सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती कि दास (यद्यपि उनकी दशा भी कुछ अच्छी रही नहीं जान पड़ती) भृतकों और कम्मकरों से अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में थे। चूँकि दास राज्यव्यवस्था अथवा व्यक्तिगत घरों में स्थायी रूप से रहने के कारण उनके पूरे-पूरे अंग हो चुके होते थे, वे मालिक की आवश्यक सेवाओं को करते हुए उनसे कुछ अपनापन और कभी-कभी मालिक के यहाँ काम के अभाव में कुछ छुट्टी भी पा जाते थे। उन्हें भोजन और वस्त्र तो मालिक देते ही रहते थे। किन्तु कर्मकर (कम्मकर) रोजाना की मजदूरी के आधार पर काम करता था और यदि उसने किसी दिन काम नहीं किया तो उस दिन की उसको मजदूरी भी नहीं मिलती थी। अतः यदि अपनी पारिवारिक स्थिति में वह आर्थिक रूप से खराब हुआ तो उसे न तो छुट्टी थी और न किसी प्रकार की छूट। इसी प्रकार भृतक अथवा 'भतक' भी था जो निश्चित काम के बदले ही मजदूरी पाता था और यदि उसे काम नहीं मिला तो उसके लिए भूखों मरने की स्थिति भी आ सकती थी।

खेतों के जोतने में दासों के प्रयोग के सर्वप्रथम सन्दर्भ श्रौतसूत्रों में प्राप्त होते हैं।[2] कोशल और मगध[3] के जंगलों को काटकर बढ़ती हुई आबादी के लिए अन्न जुटाने की समस्याएँ जब बढ़ने लगीं तभी छोटे या बड़े भूमिखण्डों में दासों और श्रमिक मजदूरों के श्रम की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। धीरे-धीरे बड़े-बड़े राज्यों अथवा साम्राज्यों के पास राजकीय भूमि का आयत्त बहुत ही बढ़ गया और उस पर खेती करने-कराने हेतु भाड़े पर मजदूरों की नियुक्ति कृषि का एक अनिवार्य अंग बन गयी। पुनरुक्ति का दोषी होते हुए भी एक बार पुनः **अर्थशास्त्र** को दासों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों के सम्बन्ध में उद्धृत करना आवश्यक है। कथित है कि "बहुतेरे हलों द्वारा जोती हुई निजी या सरकारी भूमि पर बीजों को दासों (खरीदे हुए दासों), कर्मकरों, (वेतन-भोगी) तथा दण्डप्रतिकर्मकरों (काम करके अर्थदण्ड चुकाने वालों) के द्वारा **सीताध्यक्ष** बोआए। वह उन दासादि कर्मचारिओं को जमीन जोतने के हल आदि उपकरणों, रस्सी आदि साधनों एवं बैलों की रक्षा के भार से सर्वथा मुक्त रखे। इसी प्रकार कारीगर (कारु), लोहार (कर्मार), बढ़ई (कूट्टाक), भेदक (खनक), रज्जुवर्तक (रस्सी बटने वाले) और सर्पग्रह (साँप पकड़ने वाले) के साथ भी सौम्य व्यवहार बनाये रखे। उपुर्यक्त कर्मचारिओं के दोष से जो हानि पहुँचे उसी हानि के अनुपात में उन्हें अर्थदण्ड दिया जाय।"

उपरिनिर्दिष्ट से एक ही साथ कई प्रकार के कृषि श्रमिकों की जानकारी प्राप्त होती है। दास या तो खरीदे हुए होते थे अथवा अन्य कारणों से दास बन जाने वाले वे लोग थे,

---

(१) न.ना. खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १३३।

(२) रा.श. शर्मा, शूद्रज् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. ४६।

(३) ज.रा.ए.सो., बम्बई, जिल्द २७, पृ. १६५ और आगे।

जो राज्यकृपिकर्मों में अभिन्न रूप से विना किसी पारिश्रमिक के लगे रहते थे और उनका भरणपोषण (जो बहुत अच्छा नहीं रहा प्रतीत होता) राज्य ही करता था। इस तरह से वे राज्य की स्थायी, किसी भी प्रकार का आर्थिक पारिश्रमिक न पाने वाले, एक प्रकार की मानव सम्पत्ति थे जो राजकीय खेतीबारी में श्रम करने हेतु सदा उपलब्ध थे। कर्मकर अपने परिश्रम के अनुसार कुछ निश्चित मजदूरी प्राप्त करते थे। दण्डप्रतिकर्मकर किसी दोष के परिणामस्वरूप अपने ऊपर लगे हुए अर्थदण्ड को अपना श्रम राज्य को बेंचकर चुकाते थे। स्पष्ट है, उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे उसे नकद रूप में दे सकें। कारु, कर्मार, भेदक, रज्जुवर्तक तथा सर्पग्रह जैसे लोग उन अप्रत्यक्ष कृषि श्रमिकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जो अपने काम के बदले कुछ निश्चित मजदूरी या तो द्रव्यरूप में अथवा अन्न के रूप में प्राप्त करते थे। ये अस्थायी अथवा अंशकालिक मजदूर कहे जा सकते हैं।

अर्थशास्त्र से एक अन्य प्रकार के कृषिश्रमिकों की भी जानकारी प्राप्त होती है, जिन्हें आजकल बटाईदार कहते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि बटाईदारी की यह प्रथा पिछले दो-ढाई हजार वर्षों से भारतवर्ष में अबाधरूप से चली आ रही है और अनेक अवसरों पर राज्य द्वारा निर्मित विधियों के वावजूद देश के किसी भी भाग में इस प्रथा के अनवरत प्रचलन में कोई कमी नहीं आयी है। बटाईदारी का मूल कारक यह है कि कुछ लोगों के पास इतनी अधिक भूमि हो कि वे स्वयं उस पर पूरी तरह खेती नहीं करा सकें। वहीं दूसरी ओर ऐसे भूमिहीन अथवा अल्प भूमि वाले लोग भी हों जो किसी अन्य रोजी-रोजगार या काम के अभाव में अपने श्रम का उपयोग उन अधिक भूमि वाले लोगों से जमीन लेकर उस पर खेती करने में करते हैं और उपज का एक भाग (प्रायः आधा भाग) जमीन के मालिक को दे देते हैं। स्थानभेद और परिस्थितिभेद के कारण यह भाग एक तिहाई अथवा एक चौथाई भी हुआ करता है। प्रायः उन क्षेत्रों में यह भाग आधा है, जहाँ जमीन प्रति व्यक्ति कम है और जनसंख्या ज्यादे है तथा भूमिहीन लोग बेकार हैं। इन क्षेत्रों में अधिक खेतों का मालिक बटाईदारों के लिए मुहताज नहीं है। किन्तु जहाँ भूमि अधिक है और उसे बटाई पर चाहने वालों की कमी है तो वहाँ यह भाग आधा से कम (एक तिहाई या एक चौथाई) है। फसलों के अनुसार अथवा परिस्थिति भेद के अनुसार कहीं-कहीं खेती की लागत (बीज, खाद, पानी आदि) में जमीन के मालिक को भी कुछ हिस्सा देना पड़ता है।

अर्थशास्त्र में उपर्युक्त प्रायः सभी प्रथाओं के प्रमाण या तो बीजरूप में अथवा पूर्णरूप में प्राप्त होते हैं। राज्य **सीताध्यक्ष** की अध्यक्षता में **सीताभूमि** के जितने अंश पर राजकीय देखरेख और व्यय से खेती करा सकता था, उसके बाद बची हुई भूमि (सीता) पर वह अर्धसीतिकों (बटाईदारों से खेती कराता था जो उसमें अपना सब कुछ बीज, खाद, पानी परिश्रम आदि) लगाकर उपज का आधा लेता था।[१] जो लोग केवल शारीरिक परिश्रम मात्र देने को तैयार थे, वे चौथाई या पाँचवाँ भाग (उपज का) पाने के अधिकारी थे। किन्तु कभी-कभी ये अंश अनिर्धारित भी छोड़ दिये जाते थे, जो कदाचित् फसल के कटने के समय तय होते थे। किसी प्राकृतिक विपत्ति की अवस्था में राज्य अपने अंश का त्याग भी कर देता

(१) वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः। अर्थ., द्वितीय, २४.४१।

था।[1]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि कृषि की उपज का कोई न कोई निश्चित भाग (आधा, एक तिहाई, एक चौथाई या पञ्चम) पाने वाले इन अप्रत्यक्ष श्रमिकों (बटाईदारों) का पारिश्रमिक उपजे हुए अन्न के रूप में निश्चित किया जाता था।[2] किन्तु कौटिल्य शुद्ध परिश्रम करने वाले दास, गोपालक अथवा कर्मकरों के लिए उनके श्रम के अनुसार भोजन और सवा पण मासिक के वेतन की भी अनुशंसा करता है।[3] कारु लोगों के लिए कर्मानुसार भोजन और वेतन देय था। इस प्रकार यह निश्चित सा लगता है कि कर्मकरों सहित उपर्युक्त सभी कर्मों के मजदूर या श्रमिक राजकीय सेवा में स्थायी रूप से नियुक्त थे। दक्षिण भारतीय पल्लवनरेश शिवस्कन्दवर्मा के हिरहडगल्ली ताम्रपत्राभिलेख[4] से यह ज्ञात होता है कि राज्य द्वारा ब्राह्मणों को दान में दी गयी कुछ भूमि के साथ उस भूमि पर खेती करने वाले बटाईदार और दास लोग भी दान में दे दिये गये। इससे यह निर्णय निकाला गया है कि राजकीय भूमिपर बटाईदार और दासादि लोग एक साथ काम करते थे।[5]

कृषि कार्यों में लगे हुए वेतनभोगी अथवा पारिश्रमिकभोगी श्रमिक केवल राजकीय भूमि अथवा कृषि तक सीमित नहीं थे। बौद्ध ग्रन्थों और हिन्दू धर्मशास्त्रों से इस बात के बहुविध प्रमाण प्राप्त होते हैं कि भूमि पर निजी स्वामित्त्व रखने वाले छोटे-बड़े सभी प्रकार के खेतिहर लोग भी इनका उपयोग करते थे।[6] ऐसा निश्चित सा प्रतीत होता है कि राजकीय परिवारों के अतिरिक्त धनसम्पत्ति से पूर्ण साधारण ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य लोग भी अपने-अपने घरों में दास-दासियाँ, कर्मकर (कम्मकर) और भृतक (भतक) रखते थे जो घर गृहस्थी के कार्यों में तो उनकी सेवा करते ही थे, उनके खेतों में विभिन्न प्रकार के कर्मों में हिस्सा भी बँटाते थे। ऐसा जान पड़ता है कि दास-दासियों को प्रायः कोई निश्चित वेतन नहीं मिलता था, किन्तु उन्हें भोजन-वस्त्र और सम्भवतः दवा आदि मालिकों से अवश्य प्राप्त होती रहती थी। तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन बातों के सम्बन्ध में भी उनकी स्थिति अच्छी थी। कम्मकर किसी निश्चित मजदूरी (दैनिक अथवा मासिक) पर काम करता था और भतक (भृतक) दैनिक मजदूर था। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमिक कार्यों के स्वरूप और मात्रा के भेद भी इसके कारण रहे हों। दास-दासी, कम्मकरों और भतकों की अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी स्थिति में इस कारण थे कि कभी-कभी काम न रहने पर उन्हें छुट्टी मिल जाती थी और मालिक के यहाँ से भोजन भी प्राप्त होता रहता था। किन्तु यदि कम्मकर और भतक काम न करें अथवा उन्हें कोई काम मिले ही नहीं तो उन्हें अपनी मजदूरी से हाथ धोना पड़ता था।[7]

---

(१) यथेष्टमनवसितभागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः। वहीं

(२) स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपन्चभागिकाः। वहीं

(३) षण्डवाटगोपालदासकर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुर्यात्। सपादपणिकं मासं दद्यात्। वहीं

(४) उद्धृत, न.ना० खेर, उपरिनिर्दिष्ट, पृ. १२६।

(५) वहीं।

(६) देखें, मिलिन्दपञ्हो (ट्रेकनर का सम्पादन), पृ. ३५१, जातक फॉसबॉल जिल्द ४, पृ. ४३, २७६; जिल्द ३, पृ. १०५, २६३, ४०६ आदि।

(७) मिलिन्दपञ्हो, ट्रेकनर सं., पृ. १४७, ३५१, धम्मपदटीका, द्वितीय, ३।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** से यह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के कृषि श्रमिकों की मजदूरी की दरें निश्चित थीं। पीछे हम देख चुके हैं कि बटाईदार जैसे अप्रत्यक्ष श्रमिक १/२, १/४ या १/५ सीताभूमि की उत्पत्ति का अंश प्राप्त करते थे। इसके अतिरिक्त खेतों के रखवार, मेड़बन्दों की देखरेख करने वाले तथा ऐसे अन्य कार्य करने वाले दास अथवा कर्मकर अपनी-अपनी सेवाओं के अनुपात में सवा पण की मासिक मजदूरी प्राप्त करते थे।[1] किन्तु वहीं यह भी व्यवस्था दी गयी है कि व्यक्तिगत भूमिमालिकों के यहाँ काम करने वाले श्रमिक, किसी अन्य प्रकार के पारस्परिक समझौते के अभाव में, उत्पन्न की हुई फसल का १/१० भाग प्राप्त करेंगे।[2] कथित है कि काम के स्वरूप और उसमें लगने वाले श्रम और समय को दृष्टिगत रखते हुए ही कृषि श्रमिकों की मजदूरी तय की जानी चाहिए।[3]

राज्य इस बात का ध्यान रखता था कि कोई भी मालिक किसी श्रमिक की मजदूरी न तो हड़प सके और न छीन सके अथवा उसमें किसी प्रकार की कमी कर सके। मजदूरी न देने पर राज्य की ओर से मजदूरी की मात्रा का या तो दस गुना अथवा छह पण दण्ड निश्चित था। यदि वह मजदूरी में गोलमाल करे तो या तो उसका पाँच गुना अथवा १२ पणों का अर्थदण्ड लगता था। इस दण्ड व्यवस्था के आधार पर यह कहा गया है[4] कि व्यक्तिगत लोगों के यहाँ काम करने वाले श्रमिकों की मजदूरी या तो ३/५ पण थी अथवा २-२/५ पण थीं। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह मजदूरी दैनिक थी अथवा मासिक। उपर्युक्त मजदूरियों के आपसी अन्तर का कारण सम्भवतः मजदूरों की अलग-अलग काम सम्बन्धी विशेष योग्यताएँ अथवा उनका अभाव था।

कृषि संलग्न मजदूरों-दास-दासियों, कर्मकरों और भृतकों – की सेवा शर्तें क्या थीं, उनकी मजदूरी किस प्रकार तय होती थी, क्या वे नित्य प्रति की मजदूरी वाले मजदूर थे अथवा कार्यविशेषों की पूर्ति तक के लिए उनकी सेवाएँ, अपेक्षया कुछ अधिक समय के लिए भी, ली जाती थी; क्या उनकी मजदूरी नकद होती थी अथवा अन्न और भोजन के रूप में अथवा दोनों ही रूपों में; मालिकों और उनके बीच के सम्बन्ध क्या थे; क्या राज्य इन सम्बन्धों को ठीक बनाये रखने में कोई हस्तक्षेप करता था; और यदि हाँ तो यह हस्तक्षेप कितना और कैसा था; और साधारणतया इन कृषि श्रमिकों की आर्थिक अथवा सामाजिक स्थितियाँ क्या थीं आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित और एकमत निर्णय कर पाना तथा किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। इन प्रश्नों के कुछ उत्तर कौटिलीय **अर्थशास्त्र, पातञ्जलि महाभाष्य, मिलिन्दपञ्हो,** बौद्ध जातकों, कुछ गिने-चुने अभिलेखों तथा कुछ स्मृतियों से प्राप्त तो होते हैं, किन्तु उनके आधार पर कोई समवेत अथवा एकरूपी निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। यों, प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इन श्रमिकों के बारे में छिटपुट बहुत से उल्लेख हैं, किन्तु उनसे श्रमिकों और भूमि मालिकों के बीच कार्य सम्बन्धी विधानों अथवा राजकीय हस्तक्षेप के उदाहरण नहीं प्राप्त होते। तथापि

---

(१) अर्थ., द्वितीय २४।

(२) वहीं, तृतीय, १३।

(३) वहीं।

(४) न.ना. खेर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १३५।

श्रमिकों की अत्यल्प मजदूरी और उनकी निम्न आर्थिक और सामाजिक स्थिति पालि निकायों, विशेषतः जातकों, से पूरी तरह स्पष्ट होती है। कृषि के भूमिगत विस्तार और तज्जन्य राज्य और व्यक्तिगत भूस्वामिओं के लिए श्रमिकों की दिनोदिन बढ़ने वाली आवश्यकताओं ने ही कदाचित् राज्य को भूस्वामिओं और कृषि श्रमिकों के बीच के सम्बन्धों, विशेषतः मजदूरी, को नियमित करने हेतु विवश किया। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** इस सम्बन्ध में जो भी कहता है, उसे इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। चूँकि उसमें सीताभूमि पर की जाने वाली अथवा करायी जाने वाली खेती की ही अधिकांश चर्चाएँ हैं, कृषिश्रमिकों – दास-दासियों, कर्मकरों और भृतकों – की मजदूरी, काम की शर्तों, काम पूरा न होने पर अथवा लापरवाही के लिए दण्डों तथा बटाईदारों के प्रति राजकीय नियमन जैसी जो भी व्यवस्थाएँ दी गयी है, उनका सन्दर्भ राज्य और श्रमिकों के बीच ही प्रतीत होता हैं। किन्तु यह अत्यन्त सम्भव है कि वे निर्देश व्यक्तिगत भूस्वामिओं और उनके द्वारा नियुक्त निजी कृषि श्रमिकों के बीच भी लागू रहे हों।

दुर्भिक्ष

अनेक कारणों से कृषि की कभी-कभी विफलता के कारण पड़ने वाली अन्न की कमी का आज उतना असर इस कारण नहीं होता कि अब विश्व कई दृष्टियों से प्रायः एक इकाई बन चुका है। आधुनिक संचार सुविधाओं के होते हुए वस्तुओं को अधिशेष अथवा बचत वाले क्षेत्रों से कमी वाले क्षेत्रों में पहुँचते देर नहीं लगती। फलतः दुर्भिक्ष समाप्त से हो चले हैं। किन्तु भारतीय इतिहास के अंग्रेजी शासन काल तक देश में कहीं न कहीं किसी न किसी कारण से दुर्भिक्ष पड़ते ही रहे हैं। अकेले अंग्रेजों के शासन के समय सामयिक और स्थानीय अभावों के अतिरिक्त कम से कम २३ बड़े-बड़े अकाल पड़े।

इन अकालों का स्वरूप क्या था, उनके कारण क्या थे, उनके परिणाम क्या होते थे और उनके निवारण के अस्थायी और स्थायी कौन-कौन से उपाय अपनाए जाते थे, इन विषयों का एक संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्राचीन भारतीय व कृषि व्यवस्था का एक सम्बद्ध पक्ष होगा। सर्वप्रथम उन दो परस्पर विरोधी साक्ष्यों की ओर निर्देश आवश्यक है, जिनमें एक तो यह इंगित करता है कि प्राचीन भारत में, कम से कम चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के आस-पास तक, दुर्भिक्ष या अकाल कभी पड़े ही नहीं, और दूसरा विशाल भारतीय साहित्य के अनगिनत स्थलों के वे उल्लेख, जिनमें यह परिलक्षित है कि भारतवर्ष पूरी तरह दुर्भिक्षों से न तो कभी मुक्त था और न उनके अनेकानेक कारणों का यहाँ अभाव था।

मेगास्थनीज़ के साक्ष्य पर डायोडोरस् कहता है[1] कि "भारत में कभी दुर्भिक्ष पड़ा ही नहीं और पौष्टिक भोजनों की उपलब्धता में यहाँ कभी कोई आम कमी नहीं हुई।" यूनान की तुलनात्मक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इस कथन की सत्यता के बारे में आधुनिक विद्वानों ने सन्देह व्यक्त करते हुए इसे या तो पूरी तरह अग्राह्य ठहराया है अथवा उसकी सत्यता केवल चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मात्र तक सीमित ठहराया है। यह अत्यन्त सम्भव है कि

---

(१) डायोडोरस्, द्वितीय, ३६.२.५; द्वितीय ३६.६.४।

मेगास्थनीज के चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में अत्यल्प निवास के दौरान उसे भारतवर्ष में कोई अकाल देखने को न मिला हो। यह भी सम्भव है कि उसके स्वयं के देश में अकाल जैसी विपदा की जो विभीषिकाएँ रही हों, उनकी तुलना में भारतवर्ष की स्थिति बहुत अच्छी होने के कारण उसे यहाँ अकाल की कोई भी छाया न दिखायी दी हो। यहाँ उस महान् मौर्य सम्राट् के समय ही एक दुर्भिक्ष अथवा अकाल पड़ने की एक जैन अनुश्रुति[1] की ओर निर्देश किया जा सकता है। उसके अतिरिक्त श्रवण बेलगोला (कर्नाटक) के एक जैन अभिलेख[2] में कथित है कि चन्द्रगुप्त के समय एक जैन मुनि (भद्रबाहु) ने उज्जैन क्षेत्र में १२ वर्षों तक चलने वाले एक अकाल की भविष्यवाणी की थी और उस मौर्य शासक ने उससे दुःखी होकर अपना राजपाट छोड़ दिया और जैनधर्म में दीक्षा लेकर दक्षिण के श्रवण बेलगोला तीर्थ में जाकर शरण ले ली। अ.ना. बोस ने इस घटना की सम्भाव्यता को यह तर्क देकर चुनौती दी कि यह सारी अनुश्रुति उस तथाकथित अकाल के लगभग ८०० वर्षों बाद लिखी गयी। अतः यह स्वीकार योग्य नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय कोई अकाल पड़ा था। उनकी सम्मति में यदि इसमें कोई सत्यता हो भी तो इतना मात्र स्वीकार किया जाना चाहिए कि उस समय कोई छोटा-मोटा सूखा ही पड़ा होगा, कोई अकाल नहीं। मेगास्थनीज़ कहता है कि भारतीयों में ऐसी अनेक प्रथाएँ प्रचलित हैं जो वहाँ अकालों को पड़ने नहीं देती (मिक्रिण्डल्, फ्रेग्मेण्ट्स्, प्रथम, ३६)।

किन्तु क्लासिकी इतिहासकारों के उपर्युक्त कथन की असत्यता भारतीय साहित्य में बिखरे उन सैकड़ों सन्दर्भों से प्रमाणित है, जिनमें दुर्भिक्ष[3] अथवा अकाल की चर्चाएँ हैं। यहाँ उन सभी सन्दर्भों को बारी-बारी से इंगित करना बिल्कुल ही आवश्यक नहीं प्रतीत होता, किन्तु उनका एक वर्गगत अथवा कालगत समाहार इस हेतु आवश्यक है कि उनसे इस बात की ओर स्पष्ट निर्देश होता है कि प्राचीन भारतीय लेखक, विचारक, धर्मशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनियामक जैसे सभी लोग यदा-कदा पड़ने वाले दुर्भिक्षों की विनाशक[4] परिस्थितियों और तज्जन्य कठिनाइयों तथा त्रासदियों के प्रति पूरी तरह खबरदार थे और उनके द्वारा प्रजा के विभिन्न वर्गों तथा राजकीय तन्त्र को उनसे निपटने हेतु आवश्यक निर्देश दिये जाते रहे।

---

(१) राजावलिकथा, इऐ., २१वाँ (१८९२), पृ. १५७; परिशिष्टपर्वन्, सं. जैकोबी, पृ. ४१५ और आगे, ४४४। भद्रबाहुचरित और बृहत्कथाकोश में भी यह अनुश्रुति प्राप्त होती है।

(२) एच्.एम्. गोपाल, उद्धृत, अ.ना. बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग १, पृ. १२८-१३० पादटिप्पणी।

(३) अंग्रेजी शब्द फेमीन का हिन्दी अनुवाद दुर्भिक्ष या अकाल किया जाता है। इन शब्दों के शब्दिक अर्थ दुः+भिक्ष अर्थात् ऐसी अन्नहीनता का समय जब भिक्षु-संन्यासी-परिव्राजक आदि को आसानी से भिक्षा भी न मिले अथवा मिले भी तो बड़ी कठिनाई से। अकाल का अर्थ है अन्न की कमी के कारण उत्पन्न असाधारण समय। इसे ही कहीं-कहीं दुःकाल अर्थात् बुरा समय या दुष्ट समय भी कहा जाता था। श्रवण बेलगोला के अभिलेख में वैषम्य शब्द का प्रयोग है जिसे अकाल (फेमीन) न कहकर कठिनाई का समय कहना अधिक ठीक होगा।

(४) कुछ सन्दर्भों हेतु देखें – जातक, फॉसबॉल, प्रथम, पृ. ३३१; द्वितीय, १४८; पञ्चम, १.९३; षष्ठ, ४८७; महाभारत, प्रथम, ६८.८-१०; प्रथम, ७१.३१; प्रथम १०५.३०-४६; नवाँ ५१-२२; १२वाँ, १३७.२४; वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, २२-२३वाँ अध्याय; अयोध्याकाण्ड, ८०वाँ अध्याय; अयोध्या. ११७.८ और आगे; युद्धकाण्ड, १२६वाँ; कौटिलीय अर्थशास्त्र, तृतीय २; अष्टम, ४; याज्ञवल्क्यस्मृति, द्वितीय, १४३; महास्थान खण्डित प्रस्तर लेख, इऐ., १९३३, पृ. १७७ और आगे; जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक् सोसायटी ऑफ बेंगाल, २८वाँ, पृ. १२३ और आगे; सोहगौरा, ताम्रफलकाभिलेख, इऐ., १८९६, पृ. २६४ और आगे; इहिक्वा, १९३४, पृ. ५४ और आगे।

अकाल अथवा दुर्भिक्ष के अनेक प्राकृतिक कारण हुआ करते थे। अतिवृष्टि[1], अनावृष्टि, मूषिकों के उपद्रव, टिड्डी दलों के प्रकोप,[2] सुग्गों द्वारा खेतों को नुकसान, विदेशी अथवा सीमायी युद्धों में होने वाली बर्बादी[3] सामुद्रिक तूफानों से उत्पन्न हानियों,[4] महामारियों के प्रकोप[5] पशुओं की महामारियों और तज्जन्य कृषि कार्यों में बाधाओं, सर्पों जैसे रेंगने वाले जन्तुओं-कीड़ों के प्रकोप, ओलों की वर्षा (वा.रा., तृतीय, ३४वाँ, ३६) **मिलिन्दपञ्हो** (ट्रेकनर का अनुवाद, पृ. ३०८) और भूडोल जैसी अनेक प्राकृतिक स्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाले अकालों के सन्दर्भों से भारतीय साहित्य और आभिलेखिक साक्ष्य भरे पड़े हैं। इन कारणों में अधिकांशतः तो प्राकृतिक थे, जिन्हें कभी-कभी दैवकोप की संज्ञाएँ दी जाती थीं।

किन्तु एक कारण मानवकृत भी था और वह था युद्ध। ये युद्ध शासकों की आपसी शत्रुता अथवा अपनी सीमाओं और शक्ति को बढ़ाने की इच्छाओं के कारण हुआ करते थे, जिनमें सेनाओं के आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों के फलस्वरूप भारी तबाहियाँ मचती थीं और खेती को बहुत नुकसान होता था। **गौतम स्मृति** (१६वाँ, ३४), **मनुस्मृति** (चतुर्थ, ११८), **बुद्धचरित** (१६वाँ, ११६) एवं **महाभारत** (तृतीय, २७६, ३५), संगम साहित्य के **शिलप्पदिकारम्** और **मणिमेखलाई**[6] जैसे महाकाव्यग्रन्थों में युद्धजन्य भयंकर विभीषिकाओं, अकालों और महामारियों के उल्लेख आते हैं। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में तो राजा को यह उपेदश दिया गया है कि शत्रुराज्य को हानि पहुँचाने हेतु उसके देश पर तब आक्रमण करना चाहिए जब वहाँ की फसलें तैयार हों रही हों। **महाभारत** में शान्तिपर्व का राजधर्मखण्ड (५६वाँ, ४६; ६६वाँ, ३८; १०३रा.४०; १२०वाँ, १०) भी खेती को हानि पहुँचाने वाली शत्रुहन्ता नीति से सहमत दिखायी देता है। किन्तु यह अति कुटिल राजनीति का परिचायक है और ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वास्तविक स्थितियाँ सर्वदा इस राजनीतिक दुर्नीति को व्यवहाररूप में दर्शाती ही हों। सभ्य युद्धनीति कदाचित् इसके विपरीत थी और साधारणतया युद्धरत सेनाएँ भी शत्रु क्षेत्रों में कृषकों और कृषि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के अतिरिक्त कोई विशेष हानि नहीं पहुँचाती थीं। डायोडोरस्[7] कहता है कि "कृषक वर्ग युद्ध में शामिल होने से विमुक्त होता है तथा उससे अन्य जनसेवाएँ भी नहीं ली जातीं। युद्ध के समय भी उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचायी जाती। वे जनकल्याणकर्ता माने जाते हैं, अतः प्रत्येक प्रकार की हानि से वे बचाये जाते हैं।" वह पुनः कहता है कि भारतीय "न तो आग लगाकर शत्रु देश को नष्ट

(१) देखें, रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् (सैक्रेड् बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १, पृ. १८ और आगे) में कुरु जनपद में टिड्डियों के प्रकोप का उल्लेख है।

(३) महाभारत, तृतीय, २७६, ३५; पञ्चम, ६०.१७ में छह इतियों का वर्णन है जिसमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, शलभों, सुग्गों और युद्ध की गिनती की गयी है।

(४) यूनानी लेखक इन तूफानों का विशद बिवरण देते है। मिक्रिण्डल्, फ्रेग्मेण्ट्स्, प्रथम, ८।

(५) अर्थशास्त्र, चतुर्थ ३, महावस्तु (प्रथम, पृ. २८४ और आगे) में वैशाली, काम्पिल्य, मिथिला और राजगृह में एक भयंकर प्लेग का उल्लेख है, जिसमें हजारों लोगों की मृत्यु हो गयी। बुद्धचरित (१६वाँ, ११६) और सौन्दरनन्दकाव्य में (पञ्चम, ३६) में भी इस प्रकार के उल्लेख हैं।

(६) देखिए, जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द २, (१६२७-१६२८), पृ. ४।

(७) डायोडोरस द्वितीय, ४०; स्ट्रैबो, १५वाँ, १.३६,४०, ४६-४६।

करते हैं और न उसके वृक्षों को काट गिराते हैं।" उसके मत में इस बात के कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं थे कि भारतीय सेनाएँ "शत्रुदेश की शस्य सम्पदा नष्ट करती थीं और उसकी भूमि को उजाड़ बना देती थी।" यूनानी इतिहासकारों के इन विवरणों पर साधारणतया अविश्वास करने का कोई कारण इसलिए दिखायी नहीं देता कि सिकन्दर के समय के अनेक युद्धों के समय की स्मृति उनके मस्तिष्क में ताजी रही होगी और उन्होंने उन्हें विश्वसनीय यूनानी सूत्रों से ही जाना होगा। वास्तव में वे इस सम्बन्ध की जिस भारतीय युद्धनीति का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हैं उसका एक अनुशंसात्मक समर्थन **वाल्मीकि रामायण**[१] के उस सन्दर्भ से होता है जिसमें कथित है कि राम की वानरी सेना ने पूर्वी समुद्र तटों से लंका पर अभियान करते समय राम के कड़े अनुशासन के भय से जनपदों और ग्रामों (कृषक क्षेत्रों) की हानि से अपने को बहुत दूर रखा था।[२]

किन्तु युद्ध तो यदा-कदा ही होते रहे होंगे और उनसे जो कुछ भी हानियाँ उत्पन्न होती रही होंगी, वे पुनः किसानों की मेहनत से पूरी हो जाती रही होंगी। वास्तव में कीड़ों-मकोड़ों, चूहों, टिड्डी दलों, सुग्गों और अन्यान्य पक्षियों (विशेषतः वनीय और जंगली प्रदेशों के किनारों वाले खेतों में) तथा जंगली हाथियों, सूअरों, भैसों, गैड़ों, नीलगायों, हिरणों और बन्दरों से होने वाली कृषि की हानियाँ अनवरत उत्पन्न होती रहती थीं। विभिन्न ग्रन्थों में इनके उल्लेख और उनके प्रति शास्त्रकारों की जागरूकता के अन्यान्य सन्दर्भ हमें प्राप्त होते हैं। वहीं, कभी-कभी, उनसे मुक्ति के उपाय भी सुझाये गये हैं। **अथर्ववेद**[३] में कीड़ों-मकोड़ों से मुक्ति हेतु मन्त्रों के विधान हैं। **गोभिल गृह्यसूत्र**[४] में चूहों के राजा (आखुराज) को पूजा दिये जाने का विधान है। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में चूहों और सर्पों के उपद्रवों से मुक्ति पाने हेतु बिल्लियों और नेवलों को पालने के निर्देश हैं।[५] **छान्दोग्य उपनिषद्** (प्रथम १०.१-३) में कथित है कि कुरुदेश में टिड्डियों द्वारा भीषण तबाही के कारण एक साधु को देश छोड़ देना पड़ा और बासी खिचड़ी खाकर समय बिताना पड़ा। टिड्डियों के उत्पातों के सन्दर्भ **वाल्मीकि रामायण** (उत्तरकाण्ड, सप्तम सर्ग, ३) और **महाभारत** (अष्टम पर्व, २४.२२) में आते हैं। जंगली पशुओं, टिड्डियों, तोतों, चोरों और साधारण पशुओं से खेतों की होने वाली हानि से बचाने हेतु रखवालों के रखने के विधान बौद्ध ग्रन्थों, **अर्थशास्त्र** और स्मृतियों में प्राप्त होते हैं,[६] जहाँ उनकी मजदूरी निश्चित की गयी है और ये विधान दिये गये हैं कि उनसे लापरवाही हो जाने और खेतों को नुकसान हो जाने की दशा में किस

---

(१) युद्धकाण्ड, चतुर्थ, सर्ग, ३८।

(२) अ.ना. बोस (पूर्वनिर्दिष्ट, भाग १, पृ. १४२) दो पाण्ड्य सरदारों और एक ग्रामप्रधान के बीच किये गये एक समझौते वाले अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसमें वे यदि आपसी युद्ध में लिप्त हो जाँय तो ग्रामों और ग्राम वासिओं को कोई नुकसान न पहुँचाने का वादा करते हैं। और, यदि उनकी कोई हानि उनकी सेनाएँ कर ही दें तो प्रत्येक कृषक की हानि हेतु १०० पण और पूरे गाँव के नष्ट हो जाने पर ५०० पण का मुआवजा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। यद्यपि यह अभिलेख नवीं शताब्दी का है, उसके पीछे एक परम्परागत मान्यता परिलक्षित होती है।

(३) चतुर्थ, ५०.५२।

(४) चतुर्थ, ४.३४।

(५) अर्थशास्त्र, चतुर्थ, ३।

(६) जातक, फॉसबाल, प्रथम, पृ. ११, २१५; चतुर्थ, पृ. २७६ और आगे; अर्थशास्त्र, द्वितीय, २४।

प्रकार के और कितने दण्ड उन्हें दिये जाँय। इस प्रकार की हानियों से बचने के सबसे व्यापक और स्थायी उपायों का विवरण **अर्थशास्त्र**[1] से प्राप्त है। जंगली पशुओं से खेतों को बचाने के लिए वहाँ जालवालों और शिकारिओं को स्थायी रूप से नियुक्त करने की व्यवस्था दी गयी है। राज्य के भीतर भी जालवाले (वागुरिक), तीरन्दाज (शवर), और शिकारी (पुलिन्दों) की नियुक्ति की जाती थी। ये व्यवस्थाएँ प्रायः जंगलों के किनारे पड़ने वाले अनाज के खेतों में की जाती रही होंगी, जहाँ सुग्गों, जंगली पशुओं, हिरणों और पक्षियों जैसे जीव अधिक हानि पहुंचाते थे। स्ट्रैबो[2] का कथन है कि पक्षियों और अन्य हानिप्रद पशुओं को मारने वाले शिकारिओं को मौर्य प्रशासन द्वारा अन्न के रूप में उनके कार्य का पारिश्रमिक दिया जाता था।

स्थानीय अकालों का एक प्रमुख कारण आकस्मिक रूप से लगने वाली आग भी हुआ करती थी। **अर्थशास्त्र** (चतुर्थ, द्वितीय, ३६.३) में ग्रामीणों को सलाह दी गयी है कि वे गर्मी के दिनों में घर के बाहर ही अपना भोजन पकावें और आग लग जाने पर सामूहिक रूप से उसे बुझाने के सभी उपाय रखें। एक स्थान पर (१३वाँ, ४) वहाँ कथित है कि यदि किसी सैनिक कार्यवाही में किसी दुर्ग को घेरना पड़े और उसे जीतने के यदि आग लगाने के अतिरिक्त अन्य उपाय हों तो आग लगाने से बचना चाहिए, क्योंकि उससे लोगों के अनाज, पशु और अन्य सभी कच्चे माल जलकर नष्ट हो जाते हैं। पूर्वी भारत में एक प्रथा थी कि कृषक लोग आकस्मिक आग को बुझाने हेतु अपने-अपने घरों के बाहर पानी से भरे हुए घड़े रखा करते थे।[3] महाकाव्यों, बौद्ध ग्रन्थों और स्मृतियों में भी इन आकस्मिक आगों के उल्लेख आते हैं और उस सम्बन्ध में राजकीय कर्तव्यों की गिनती है।[4]

अकाल के अनेकानेक कारणों में कदाचित् सर्वप्रमुख था समय-समय पर पड़ने वाला सूखा। सूखे से जन्य विपदाओं के विवरण इतने अधिक हैं कि उनका कोई संक्षिप्त ब्यौरा भी देना कठिन है। तथापि कुछ की ओर निर्देश किया जा सकता है। **महाभारत** के आख्यानपरक अंशों में इनकी सर्वाधिक चर्चाएँ आती हैं। ऋषि विश्वामित्र को कई वर्षों तक चलने वाले एक सूखे से तंग होकर अपना घर और परिवार छोड़कर जंगलों में चला जाना पड़ा, जहाँ मातंग नामक बहेलिये ने उनके भरण-पोषण (शिकार द्वारा) की चिन्ता की।[5] दीर्घकालिक सूखों के लिए प्रायः १० वर्षों अथवा १२ वर्षों की अवधि जनस्मृति में एक रूढ़ि सी बन गयी। **वाल्मीकि रामायण** (अयोध्याकाण्ड, ११७, ९ और आगे) में उल्लिखित है कि दस वर्षों तक देश के सूखे से जलते रहने के समय एक साध्वी ने नये-नये कन्द-मूलों और फलों का ईजाद किया और गंगा (जाह्नवी) की धारा को पृथ्वी पर बहाकर उसे तृप्त किया। राजा संवरण

(१) द्वितीय, १ और ३६; पष्ठ ७१ और १११।

(२) पन्द्रहवाँ, १.४१।

(३) मिलिन्दपञ्हो, ट्रेक्नर सं., पृ. ४३।

(४) महाभारत, शान्तिपर्व, ६८, ५०; ७३.२१; गौतमस्मृति १६वाँ, ३४; मनु. चतुर्थ, ११८।

(५) महा., आदिपर्व ७१.३१। महाभारत में सूखों के अन्य त्रासद विवरणों के लिए देखें, शान्तिपर्व, १३७.२४; नवाँ पर्व, ५१.२२ और आगे; आदिपर्व, ६८.८-१०।

के समय कुरुदेश में बारह वर्षों तक एक ऐसा सूखा पड़ा कि पेड़ और पशु सभी समाप्त हो गये और राजधानी मानों भूतों का निवासस्थल हो (महा., आदि, १७५.३८-४६) गयी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे अधिक भयंकर रूप धारण करते जाने वाले इन सूखों के कारण थे हरे-भरे वनों और जंगलों के विनाश, जिन्हें काट-काट कर नयी-नयी बस्तियाँ या तो स्वतः बसने लगीं अथवा कभी-कभी बढ़ती हुई जनसंख्या को तितर-बितर करने हेतु राज्य द्वारा बसायी जाने लगीं। यह परिस्थिति सम्भवतः लोहे के प्रारम्भिक प्रयोगों के प्रारम्भ होने के बाद उत्पन्न हुई होगी, जिसमें मौर्य युग के बाद और भी तेजी आयी होगी।

अकालों की ऐतिहासिक वास्तविकताओं और उनके विभिन्न कारणों वाले साक्ष्यों को उपस्थित कर चुकने के बाद यह देखना आवश्यक है कि उन्हें रोकने और निपटने हेतु राज्य कौन-कौन से उपाय अपनाता था अथवा जनता स्वयं क्या करती थी। दुर्भिक्ष, अकाल, दुःकाल अथवा देवापदा कही जाने वाली इन विषम परिस्थितियों से निपटने अथवा उन्हें टालने के अत्यन्त प्रारम्भिक उपायों में देवप्रार्थनाएँ प्रमुख रही प्रतीत होती हैं। **ऋग्वेद** (तृतीय, ८; अष्टम, ११८.५५; दशम, ४२) पानी के देवता इन्द्र की प्रार्थनाओं से भरपूर है। **अथर्ववेद** में सूर्य, आसमान से गिरने वाली बिजली और अतिवृष्टि की इस हेतु प्रार्थनाएँ की गयी हैं कि वे क्रमशः अत्यधिक ऊष्मा, खेतों में पवन और भारी जलप्लावन से लोगों के लिए विपत्ति न पैदा करें। उन्हें प्रतिवारित करने हेतु मन्त्रों-तन्त्रों के उपचार भी वहाँ बताये गये हैं। ये मन्त्र-तन्त्र तथा प्रार्थनाएँ कितनी कारगर थीं, यह तो कोई नहीं बता सकता। किन्तु बाद के युग में भी उनके सहारे लिये जाते रहे। इसके अनेक साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं।[2] साधारण विश्वास यह था कि राजा के पापों से ही दैवी विपत्तियाँ आती हैं। अतः सभी ग्रन्थों में उसके कर्तव्यनिष्ठ होने पर जोर दिया गया है।

दुर्भिक्षों के समय राजकीय उत्तरदायित्त्व बहुत बढ़ जाता था। राज्य उस उत्तरदायित्त्व को भलीभाँति समझते हुए उन विपत्तियों से निपटने को तैयार भी रहता था। **अर्थशास्त्र**[3] इस बात की अनुशंसा करता है कि सूखे, अकाल और महामारियों से प्रजा को मुक्ति दिलाने के लिए राजा को सामान्य समय में बलिरूप में ग्रहण किये गये सभी अन्नों का आधा सर्वदा ही बचाकर रखे रहना चाहिए। इसका समर्थन महाकाव्यों से भी प्राप्त होत है।[4] **अर्थशास्त्र** में यह भी निर्देशित है कि लोगों की विपदाओं को दूर करने हेतु उन्हें बीज, कृषि उपकरणों एवं अन्य सामानों की मदद राज्य द्वारा की जानी चाहिए; धनिकों पर अधिभार लगाकर उससे प्राप्त धन को विपदाहतों में बाँटना चाहिए; मित्र राज्यों से सहायताएँ माँगनी चाहिए;

---

(१) ऐसे ही अन्य सूखे का विवरण कुरु जनपद के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद में है। सेक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट, जिल्द १, पृ. १८ और आगे।

(२) कौटिल्य (अर्थ., चतुर्थ, ३; अष्टम, ४; नवम, ७) जैसा लौकिक शास्त्रकार भी दैवापदों से लोगों को बचाने हेतु देवताओं और ब्राह्मणों की प्रार्थनाओं की अनुशंसा करता है। वहाँ (चतुर्थ, ३) यह भी कथित है कि इन दैवी विपत्तियों से त्राण पाने के लिए राज्य में सिद्धों, तापसों और मायायोगियों को बसाना चाहिए।

(३) द्वितीय, १५; और देखे इऐ. १८६६, पृ. २६१ और आगे।

(४) वा.रा., किष्किन्धाकाण्ड, २८वाँ सर्ग; महा., शान्ति., ६६.३५।

लोगों को अकाल क्षेत्रों से निकल कर प्रचुर उत्पत्ति वाले क्षेत्रों की ओर जाने को सहायतापूर्वक उत्साहित करना चाहिए और जहाँ उत्पत्ति अधिक की जा सके वहाँ लोगों द्वारा नयी खेती की व्यवस्थाएँ करनी चाहिए। कौटिल्य (**अर्थशास्त्र**, द्वितीय १ और १५) और **महाभारत** (शान्ति., ५.७६ और आगे; ८८.२० और आगे) दोनों ही कहते हैं कि दुर्भिक्ष जैसे विपत्तिकारक समयों में राजकीय करों में छूट दी जानी चाहिए। सिंचाई हेतु पानी इकट्ठा करने वाले बन्धों के अतिवृष्टि से टूट जाने की स्थितियाँ भी कभी-कभी देवापदों का कारण हुआ करती थीं। ऐसी दशाओं में राजा द्वारा उनकी यथाशीघ्र मरम्मत की व्यवस्थाएँ की जाती थीं, जिसके बहुप्रसिद्ध प्रमाण रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेखों से प्राप्त होते हैं।[1] सुदर्शन झील के टूट जाने के बाद उसके जलप्लावन से धन-जन, पशुओं और फसलों की हानि को कम करने के लिए राज्य ने उसकी त्वरित मरम्मत उतनी ही आवश्यक समझी, जितनी चन्द्रगुप्त मौर्य के समय सुराष्ट्र के राष्ट्रिय पुष्पगुप्त वैश्य द्वारा उसके निर्माण अथवा अशोक के उसी प्रान्त के राष्ट्रिय तुषाष्फ द्वारा उससे नहरों (कुल्याओं) का निकाला जाना समझा गया था। उसी भाव से आन्दोलित होकर चेदिराज खारवेल ने भी (हाथिगुम्फा अभिलेख) अपनी राजधानी के आस-पास के खेतों को सींचने के लिए नहरों का निर्माण कराया था। कदाचित् किसी बड़े समुद्री तूफान से राजधानी के क्षत-विक्षत मकानों, नगर की चहारदीवारी, उसके द्वारों और वहाँ की नहरों की मरम्मत भी उसे अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही करानी पड़ी थी। अन्न की स्थायी सुविधाओं के लिए उसी प्रयोजन से कश्मीर में (राज., पञ्चम, २७१-२७७) झेलम नदी को बाँधकर एक बड़े बन्धे का निर्माण कराया गया था।

पीछे कौटिल्य की यह अनुशंसा देखी जा चुकी है कि साधारण समय में बलि द्वारा संगृहीत अन्नों के पूरे भण्डार से आधा बचाकर प्राकृतिक विपदाओं के लिए संचित रखना चाहिए। इस हेतु बड़े-बड़े कोठारगृहों की आवश्यकताएँ रही होंगी। इन स्थायी कोठारघरों के प्रमाण प्रथम शती के सोहगौरा (गोरखपुर, जिला) अभिलेख और महास्थान (पश्चिमी बंगाल का पुण्ड्वर्धन) अभिलेख से प्राप्त होते हैं, जहाँ अन्न संग्रह हेतु कई तल्लों वाले गोदाम बने हुए थे। महास्थान अभिलेख[2] करतोया नदी की बाढ़ से उत्पन्न दुर्भिक्ष के समय वहाँ के कोठार से अन्न और द्रव्य दोनों ही के बाँटे जाने का उल्लेख करता है।

मनुष्यों और पशुओं की महामारियाँ कभी-कभी प्रचण्डरूप धारण कर लेती थी, जिनसे खेती के सारे कार्य बाधित हो जाते थे। अतः कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[3] यह व्यवस्था देता है कि ऐसे अवसरों पर भी राज्य द्वारा सिद्धों, तापसों, चिकित्सकों और ऐसे ही अन्यान्य लोगों को औषधियों के प्रयोग हेतु नियुक्त करना चाहिए। 'पशुमारक' बीमारियों के समय गोठों में निराजन अर्थात् दीपप्रज्वालन का प्रयोग कम कर दिया जाता था और कुल देवताओं की पूजा

---

(१) एइ., अष्टम, पृ. ४२ और आगे; इऐ., १८७८, पृ. २५७ और आगे; कार्पस् (फ्लीट), जिल्द, ३।

(२) इऐ., १६३३, पृ. १७७ और आगे; ऐनंल एण्ड प्रोसीडिंग्स् ऑफ दि एशियाटिक् सोसायटी, बंगाल, जिल्द २८वाँ, पृ. १२३ और आगे।

(३) चतुर्थ, ३।

की जाती थी।[1] महाभारत के शान्तिपर्व (पञ्चम, ७ और आगे) में भी इन महामारियों से बचने के लिए राजा को कारगर उपाय अपनाने के उपदेश दिये गये हैं। जमीन पर रेंगने वाले साँपों का भय भी वाढ़ग्रस्त क्षेत्रों, वर्षाजन्य पानी के लगाव वाले क्षेत्रों तथा जंगली और झाड़-झुरमुट वाले प्रदेशों में, कम नहीं रहा होगा। मेगास्थनीज़ के आधार पर स्ट्रैबो कहता है कि यदि सर्प वाढ़ के पानी के साथ वहुत बड़ी संख्या में बह नहीं जाते तो देश ही जनसंख्याविहीन हो गया होता।[2]

ऊपर हम देख चुके हैं कि राज्य द्वारा प्राकृतिक विपदाओं से उत्पन्न दुर्भिक्षों के समय प्रजा को भुखमरी से बचाने हेतु अन्न के भण्डारों के संग्रह किये जाते थे। ऐसी ही योजनाएँ साधारणजन भी अपनी ओर से किया करते थे। ऋग्वेद (दशम, ४२.१०) में अकाल और कमी के समयों के लिए लोगों द्वारा अन्न और पशुओं के संग्रह पर जोर दिया गया है। अशोक के तृतीय शिलालेख में लोगों में इस प्रवृत्ति के विकास की ओर निर्देश किया गया है। महाभारत (शान्तिपर्व, २४३.२-३) और विष्णुस्मृति (५६.८) में भी लोगों द्वारा बचाये हुए अन्नसंग्रह के सन्दर्भ आते हैं। अर्थशास्त्रकारों और धर्मशास्त्रकारों दोनों ही की ये संस्तुतियाँ प्राप्त होती हैं कि यदि आग और बाढ़ जैसी विपदाएँ आयी हों तो कर्जों और जमाराशियों की वापसी के दावे नहीं किये जाने चाहिए।[3]

---

(१) वहीं।

(२) स्ट्रैबो, पन्द्रहवाँ, प्रथम, ४५।

(३) अर्थशास्त्र, तृतीय, १२, मनुस्मृति, अष्टम, १८६, याज्ञ., द्वितीय, ६६।

आठवाँ अध्याय

राजकीय राजस्व

राजकीय आय के बहुविध स्रोत थे। समय-समय से विभिन्न करों के नाम, स्वरूप, परिमाण, माप और परिगणन एवं वसूली में परिवर्तन होते रहे। इन स्रोतों को मोटे रूप में तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं-- भूमि से प्राप्त राजकीय कर अथवा आय, व्यापारिक और औद्योगिक आय या कर, एवं विविध। आगे क्रमशः इन पर विचार किया जायगा।

भूराजस्व

भारतीय करारोपण के इतिहास में **बलि** नामक कर सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख वैदिक[1] ग्रन्थों में आता है। चूँकि **ऋग्वेद** मुख्यतः गोचारण और पशुपालक वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, इसमें इसका उल्लेख पूरी तरह कर के ही रूप में हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[2] प्रजा से राजा द्वारा वसूल किये जाने वाले कर के अतिरिक्त देवताओं को देय पूजनसामग्री अथवा पशुबलि एवं विजित राज्यों-राजाओं से प्राप्त भेंट भी **बलि** कहलाती थी। प्रारम्भ में **बलि** राजा को स्वेच्छया दिया जाने वाला उपहार अथवा भेंट थी। किन्तु बाद में वह एक नियमित कर हो गया जिसे देना आवश्यक था। उत्तरवैदिक ग्रन्थों की रत्निनों की सूची में **भागदुध्** और **समाहर्त्ता** के उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि एक करसंग्राहक विभाग विकसित हो चुका था। बलिहृत राजा की उपाधिरूप में **ऋग्वेद** में मिलता है।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों[4] का युग आते-आते **बलि** प्रजा द्वारा राज्य को दिया जाने वाला नियमित कर हो चुका था।[5] कौटिलीय **अर्थशास्त्र**[6] में राष्ट्र की चर्चा एवं **समाहर्त्ता** के कर्तव्यों के सम्बन्ध में **बलि** अन्य कई करों के साथ उल्लिखित है। उसके टीकाकार भट्टस्वामी ने उसे **भाग** जैसे अन्य करों के अतिरिक्त १/१० अथवा १/२० के अनुपात में वसूला जाने वाला एक स्थानीय कर बताया है। किन्तु **मनुस्मृति**[7] और उसके प्रथम पाँच टीकाकारों ने **बलि** को

---

(१) वेदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. ६२।

(२) मैकडानेल और कीथ (वहीं, पृष्ठ ६२) ने उसे अत्यन्त प्रारम्भ से ही लगने वाले एक कर के रूप में स्वीकार किया था।

(३) अथा ते इन्द्रः केवलीः प्रजा बलिहृतस्करत्। ऋग्वेद, १० वाँ, १७३.६।

(४) ऐतरेय ब्राह्मण, सप्तम्, १९।

(५) उपेन्द्रनाथ घोषाल (हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृष्ठ ६ और आगे) ने बलि को कृषिकर के अतिरिक्त पशुओं के एक भाग के रूप में वसूल किया जाने वाला कर स्वीकार किया। अतीन्द्रनाथ बोस ने इसे (सोशल ऐण्ड रूरल इकॉनामी इन नार्दर्न इण्डिया, भाग १, पृष्ठ १६०) भूमि की उपज से वसूल किया जाने वाला एक अनियमित कर माना।

(६) सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूचोररज्जुश्च राष्ट्रम्। द्वितीय, ६.२४

(७) बलिषष्टभागहारिणम्। अष्टम्, ३०८

१/६ अंश वाले **भाग** नामक भूमिकर का पर्यायवाची माना है। केवल उसके अन्तिम टीकाकार रघुनन्दन ने इसे किसी भी प्रकार के कर (नियमित अथवा अनियमित) का बोधक कहा है। जातकों में भूमि की उपज के रूप में प्रतिवर्ष राजा को दिया जाने वाला कर **बलि** के नाम से बहुत स्थानों में उल्लिखित हुआ है।[1] **गौतमधर्मसूत्र**[2] में कथित है कि प्रजा की भूमि की रक्षा के बदले राजा को प्रदत्त कर **बलि** कहलाता है। यद्यपि इस धर्मसूत्र के मस्करिन् नामक बाद के एक टीकाकार का यह कथन है[3] कि राजा द्वारा कृषि के लिए प्रदत्त भूमि पर ही **बलि** का आरोपण होता है। यह निश्चय करना कठिन है कि मौर्यपूर्व युग में **भूस्वामित्त्व** खेत को जोतने वाले का था अथवा राज्य का। जातकों में **रज्जुगाहक अमच्च** (रज्जुग्राहक अमात्य) का उल्लेख इस प्रथा का द्योतक बताया गया है कि रस्सी की मदद से खेतों की माप करने वाला एक अमात्य अर्थात् अधिकारी होता था। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि **बलि** नामक कर बोये हुए खेतों की माप के आधार पर लगाया जाता था अथवा उपज के किसी अंश के रूप में।

करों के लिए **गौतमधर्मसूत्र**[4] में **बलि** के अतिरिक्त **कर** शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पाणिनीय **अष्टाध्यायी** में कर अथवा क्षेत्रकर शब्दों के प्रयोग प्राप्त हैं, जो क्रमशः कर और खेतों को टुकड़ों में नापकर कृषियोग्य करने वाले भूमिमापक अधिकारियों के सूचक[5] हैं। वैदिक युग में करों की वसूली कैसे और किस अधिकारी द्वारा की जाती थी, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। रत्निनों की सूची में आने वाला **भागदुधु** करसंग्राहक ही था, यह कह सकना कठिन है। किन्तु बौद्ध साहित्य में निग्गाहक, बलिसाधक और युत्त (युक्त) के उल्लेख आते हैं।[6] युक्त और पाणिनि द्वारा उल्लिखित आयुक्त साधारण राजकीय अधिकारी प्रतीत होते हैं। इन्हें कहीं-कहीं नियुक्त[7] (विशेष कार्यों में लगे हुए) अथवा विनियुक्त भी कहा गया है। विशेष कार्यों में लगाये गये ये अधिकारी सम्भवतः करों की वसूली भी करते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे पालि जातकों में उल्लिखित ग्रामणी अथवा ग्रामभोजक मुख्यरूप से ग्रामवासियों से सम्बद्ध शान्तिव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करते हुए राजकीय करों की वसूली भी करता था। जातकों में ये करसंग्राहक अधिकारी बल्लिसाधक के अतिरिक्त बलिपटिग्गाहक (बलिप्रतिग्राहक) और राजकम्मिक (राजकर्म्मिक) भी कहे गये हैं,[8] जो निश्चयतः **बलि** अथवा राजकरों की वसूली करते थे।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में **बलि** और **कर** शब्दों के साथ-साथ **भाग** शब्द का उल्लेख

---

(१) फॉसबॉल, जिल्द १, पृष्ठ १७; जिल्द ३, पृष्ठ ९; जिल्द ४, पृष्ठ १०६ तथा १६६।

(२) १०.२८।

(३) गौतमधर्मसूत्र पर टीका, दसवाँ, २४।

(४) वहीं, दसवाँ, ११।

(५) वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृष्ठ १४२, १६७।

(६) जातक, फॉसबॉल, जिल्द ५, पृष्ठ १०६।

(७) गौतमधर्मसूत्र, दसवाँ, २६।

(८) फिक्, सोशल् ऐण्ड रेलिजस् कण्डिशन् ऑफ् नार्थ इस्टर्न इण्डिया ड्यूरिंग, बुद्धज् टाइम, पृष्ठ १२०; जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृष्ठ १६६।

बहुत व्यापक है[1] जो स्पष्टतः भूमिकर के रूप में आता है। कुछ सन्दर्भों में वहीं **भाग** अथवा भूमिकर को षड्भाग भी कहा गया है, जो भूमि की उपज से वसूल किये जाने वाले उसके १/६ भाग का द्योतक है। भूराजस्व के रूप में **भाग** शब्द का प्रयोग आगे कई शताब्दियों तक चलता रहा। रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभिलेख **कर, विष्टि, प्रणय** और **शुल्क** के अतिरिक्त **भाग** का उल्लेख करता है। बड़ा स्पष्ट है, भूमि की उपज पर लगाया जाने वाला प्रमुख प्राचीन भारतीय कर **भाग** कहलाता था और चूँकि साधारणतः उसका अनुपात उपज का १/६ भाग था, राजा को षड्भागिन्[2] अथवा षडंशवृत्ति कहा जाता था। अशोक अपने सम्मिनदेई लघुस्तम्भ लेख में एक ही साथ **बलि** और **भाग**, दोनों ही करों का उल्लेख करते हुए यह कहता है कि लुम्बिनी की अपनी तीर्थयात्रा के उपलक्ष्य में उसने बुद्ध भगवान के उस जन्मस्थानी गाँव को **बलि** से तो पूर्णतः मुक्त कर दिया और **भाग** अर्थात् षंड्भाग को भी घटाकर वहाँ के लिए अष्टभाग (अठभागिये) कर दिया। इससे यह स्पष्ट है कि **बलि** और **भाग** दोनों भिन्न-भिन्न कर थे। कौटिल्य भी इन्हें भिन्न ही मानता है। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में **भाग** शब्द का प्रयोग भूमिकर के रूप में तो हुआ ही है, अन्य वस्तुओं पर लगाये गये करों अथवा वस्तुओं के अंशरूप में वसूले गये करों को भी **भाग** कहा गया है- यथा - उदकभाग (जलकर) और लवणभाग (नमक कर)। अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है[3] कि **भाग** तो परम्परया लगने वाला वार्षिक भूराजस्व था और **बलि** उसके अतिरिक्त लगाया जाने वाला कोई छोटा-मोटा कर। किन्तु गुप्तकालीन अभिलेखों में बलि का कर के रूप में प्रयोग प्रायः समाप्त सा हो गया दिखायी देता है। प्रत्युत, क्रतु, सत्र, वैश्वदेव और अग्निहोत्र के संयोग में बलि का अभिलेखों में उल्लेख इस निष्कर्ष की ओर निर्देश करता है कि यह पाँच याज्ञिक कृत्यों में एक था।[4] किन्तु **गौतमधर्मसूत्र** की परम्परा में **मनुस्मृति** (सप्तम, १३०) और **वसिष्ठस्मृति** (तृतीय, २२-२३) जैसी स्मृतियाँ और **महाभारत** के शान्तिपर्व (६९.२४, ७२. १०) में बलि का उल्लेख भूमिकर के रूप में ही हुआ है। **बृहस्पतिस्मृति** और **अमरकोश** जैसी स्पष्टतः गुप्तकालीन रचनाएँ भी बलि का प्रयोग भूमिकर के रूप में ही करती हैं। अतः गुप्तकालीन अभिलेखों में भाग शब्द का अप्रयोग और साहित्य में बलि शब्द का भूमिकर के रूप में प्रयोग यह निदर्शित करता है कि उस काल में भाग के स्थान पर ही बलि शब्द का प्रयोग भूमिकर के रूप में होने लगा था।

भाग और **बलि** के अतिरिक्त तीसरा भूमिकर **कर** के नाम से प्रचलित था, जिसके उल्लेख कौटिलीय **अर्थशास्त्र** एवं रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख से प्रारम्भ कर गुप्त युग तक के प्रायः सभी अभिलेखों, **मनुस्मृति** जैसी सभी स्मृतियों, उन सबके टीकाकारों एवं विभिन्न साहित्यिक कृतियों में अनगिनत बार प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सबकी न तो व्याख्याएँ

(१) द्वितीय, ६, २४।

(२) भूमि की उपज का १/६ भाग राजकीय कर के रूप में रूढ़ार्थ में प्रयुक्त होने लगा था। देखें, शान्तिपर्व, २४, १६; ६७.२७; विष्णुपुराण, तृतीय, १०; कुराल, रामचन्द्र दीक्षितार द्वारा 'हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स्' में उद्धृत, पृ. १६०।

(३) द्विजेन्द्रनारायण झा, लैण्ड रेवेन्यू इन इण्डिया, ए हिस्टारिकल स्टडीज, पृष्ठ ७-८।

(४) वहीं, पृष्ठ ८।

एक हैं और न उनके अभिप्राय ही एक हैं। तथापि सबका समाहार करते हुए द्विजेन्द्रनारायण झा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि **कर** समय-समय पर प्रायः सभी ग्रामवासिओं पर लगाया जाने वाला वह देय था जो कदाचित् निश्चित भूमिकर के अतिरिक्त था।[1] रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख में भी **कर**, **प्रणय** और **विष्टि** को अतिरिक्त कर बताया गया है जिनके बोझ से अपनी प्रजा को बोझिल न करके उस प्रजारंजक शासक ने **बलि**, **शुल्क** और **भाग** से भरे हुए (बलिशुल्कभागैः) अपने राजकोष से ही धन व्यय करके सुदर्शन झील की मरम्मत करायी। चूँकि गुप्तकालीन अभिलेखों में कर का उल्लेख एक सामान्य कर, कारीगरीकर तथा कृषिकर जैसे अनेक अर्थों में हुआ है, यह कहा जा सकता है कि इसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। अभिलेखों में **ब्रह्मदेय** (दानदत्त) ग्रामों के प्राप्तकर्ताओं को जो विमुक्तियाँ निर्दिष्ट हैं उनमें सर्वकर परिहार, अकरदायी, सर्वकरसमेत आदि वक्तव्य भी इस बात की ओर निर्देश करते हैं कि **कर** का स्वरूप निश्चित नहीं था और यह नकद, उपज के रूप में; कोई निश्चित वस्तु अथवा धातु के रूप में भी विभिन्न वस्तुओं पर लगाया और वसूला जा सकता था।[2]

प्रणय और **विष्टि** असामान्य, यदाकदा लगाये जाने वाले ऐसे आर्थिक बोझ थे जो क्रमशः प्रजा पर सूखा-बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय तथा गाँवों से होकर राजा अथवा राजकर्मचारिओं एवं सैनिकों के आते-जाते समय लगाये जाते थे। अनुनय-विनय और प्रशंसा द्वारा प्रजा को फुसलाकर **प्रणय** कर लगाया जाता था और यह वचन दिया जाता था कि विपत्ति के बीत जाने पर उसकी वसूली हुई मात्रा पुनः लौटा दी जायगी। **प्रणय** कर को लगाने के छद्मपूर्ण ढंग और उसकी पृष्ठभूमि का राजकीय कोष की वृद्धि में उपयोग मूलतः कौटिलीय **अर्थशास्त्र** की कल्पना प्रतीत होती है।[3] **प्रणय** एक ऐसा आपातकालीन कर था जो विशेष कारणों से राजकोष के बहुत क्षीण हो जाने की स्थिति में ही लगाया जाता था। नियमित करों की मात्रा बढ़ाकर इनकी वसूली होती थी। कौटिल्य (**अर्थशास्त्र**, पञ्चम. २) कर्षकों, व्यापारिओं और कारीगरों (व्यावहारिक) और गाय-भैंस-बकरी आदि का रोजगार करने वालों (योनिपोषकों) से इसकी वसूली का उल्लेख करता है। किन्तु वह **ब्रह्मदेय** भूमि को उससे मुक्त रखता है। ऐसे समय **भाग** (भूमिकर) १/६ से बढ़ाकर १/४ अथवा १/३ तक कर दिया जाता था। **विष्टि** बेगार के रूप में लिया जाने वाला वह मानव श्रम था जो आवश्यकतावश अथवा आपत्तिमूलक अवसरों पर जबरदस्ती किसी पर भी लादा जा सकता था। स्पष्ट है, ये अप्रिय बोझ थे, जिन्हें अपनी प्रजा पर लादकर रुद्रदामा ने सुदर्शन झील जैसी अत्यन्त प्रजाहितकारी पुनर्निर्माण की कृति को भी सम्पन्न कराना उचित नहीं माना। **विष्टि** अथवा बेगार का उल्लेख **गौतमधर्मसूत्र** (दसवाँ, ३१), **विष्णुस्मृति** (तृतीय, ३२), **मनुस्मृति** (सप्तम. १३८) और **महाभारत** में भी प्राप्त (शान्तिपर्व ८५.३९) होता है। वास्तव

---

(१) पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १०; और भी देखें, रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट मौर्यन् एण्ड गुप्त टाइम्स्, पृ. ४८।

(२) अतीन्द्रनाथ बोस ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १६३) कर को सम्पत्ति पर लगने वाला एक वार्षिक कर माना है। श.कु. मैती ने इसे समय-समय पर ग्रामवासिओं पर सामान्यतः लगाया जाने वाला एक अनिश्चित प्रकार का देय स्वीकार किया है। देखें – इकानॉमिक लाइफ ऑफ् नार्दन इण्डिया इन द गुप्त पीरियड्, पृ. ८२।

(३) देखें, पञ्चम, २.१६;२६.२९।

में शरीरश्रम से सम्बद्ध दो प्रकार के कर थे- एक में तो वे गरीब लोग आते थे जो वस्तुरूप में कर नहीं दे पाते थे और उन्हें अपने श्रम के रूप में कर देने की छूट थी। इनमें शूद्र, कारीगर और उद्योग श्रमिक शामिल थे।[१] दूसरा था **विष्टि** जो शुद्ध बेगार था और समय-समय पर जबरदस्ती लिया जाता था। **अर्थशास्त्र** इस बेगार को राजकीय मिलों में लगाने का उल्लेख करता (द्वितीय. १५) है।

हिरण्य-भूमि से सम्बद्ध एक अन्य प्रकार के कर का नाम हिरण्य था। **अर्थशास्त्र**[२] में **समाहर्त्ता** नामक अधिकारी का यह कर्तव्य निर्दिष्ट है कि वह ग्रामों का एक ऐसा लिखित ब्यौरा (निबन्ध) तैयार कराये जिसमें अकेले अथवा समवेत रूप में दिये जाने वाले उपज के **भाग**, पशुरूप में दिये जाने वाले **कर**, हिरण्य अथवा **विष्टि** जैसे अलग-अलग करों के अलग-अलग हिसाब हों। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में **हिरण्य** भूमि से सम्बद्ध कोई नियमित कर न होकर एक अनियमित देय था, जो कभी-कभी ही लगाया जाता था। किन्तु बाद में लिखी जाने वाली स्मृतियों से यह जान पड़ता है कि धीरे-धीरे यह भी एक नियमित कर हो गया, जिसे गुप्तकालीन प्रायः सभी अभिलेखों में दानदत्त ग्रामों की विमुक्तियों में परम्परया गिनाया गया है।[३] **अर्थशास्त्र** और **महाभारत** में इसका अनुपात उपज का १/१० बताया गया है।[४] किन्तु स्मृतियाँ[५] उसे कम करके १/५० की बताती हैं। असम्भव नहीं है कि एक नियमित कर के रूप में प्रतिवर्ष लगाये जाने के कारण ही आगे चलकर उसके देय के अनुपात में कमी हुई हो। हिरण्य का अर्थ स्वर्ण है, किन्तु इस महँगी धातु के रूप में इसकी वसूली की जाती थी, यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है। अतः उपेन्द्रनाथ घोषाल का मत[६] है कि **हिरण्य** एक ऐसा कर था जो उपजने वाली सभी फसलों पर लगाये जाने वाले **भाग** नामक कर के विपरीत उपज के रूप में न लिया जाकर विशेष (बहुमूल्य) फसलों पर अथवा औद्योगिक वस्तुओं पर नकद के रूप में वसूल किया जाता था। उनका समर्थन दिनेशचन्द्र सरकार जैसे अनेक विद्वान करते हैं।[७] परवर्ती गुप्त युग के कुछ अभिलेखों[८] में ईख और आर्द्रक (आदी) जैसी फसलों पर नकद करों के विवरण इस मत की प्रामाणिकता को बल देते हैं। अभिलेखों में **भागभोगकर** और **धान्य** के साथ उसका उल्लेख भी इसी निष्कर्ष की ओर हमें ले जाता है।

उदकभाग-- मौर्ययुगीन प्रशासन कृषि की उन्नति में विशेष संलग्न था। इस दृष्टि से नये ग्रामसन्निवेशों की कल्पना में जहाँ नयी अथवा बंजर भूमि पर खेती करने वालों को

(१) मनुस्मृति, दसवाँ, १२०। एरियन् नामक क्लासिकी इतिहासकार भी इन दो प्रकार के श्रमकरों का उल्लेख करता है। अ.ना. बोस द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट पृ. १६४।

(२) अर्थ., प्रथम. १३; द्वितीय ३५।

(३) कदाचित् अपवादस्वरूप वाकाटक अभिलेखों में इसकी गिनती नहीं है।

(४) अर्थ., प्रथम १३; शान्तिपर्व, ६७.२३।

(५) मनु., सप्तम. १३०; विष्णु., तृतीय. २३।

(६) हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. ६१-६२।

(७) सेलेक्ट इन्सकृशन्स्, भाग १, पृ. ३७२।

(८) एइ., जिल्द ३०, सं. १ और २०।

प्रारम्भ के कई वर्षों तक कई प्रकार के करों में छूटें दी जाती थीं, वहीं राज्य की ओर से सिंचाई के बड़े-बड़े साधनों को जुटाने अथवा बनाने की भी योजनाएँ बनायी जाती थीं।[1] गिरनार पर्वत पर गुजरात में चन्द्रगुप्त के राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा बनवायी गयी विशाल सुदर्शन झील को इसका सर्वप्रमुख उदाहरण कहा जा सकता है। किन्तु राज्य छोटे-बड़े बाँधों द्वारा भी पानी के संग्रह की व्यवस्था करता था और उस हेतु उसके उपयोगकर्ताओं से **उदकभाग**[2] नामक जलकर भिन्न-भिन्न दरों (१/३, १/४ और १/५) से वसूल करता था। किन्तु आगे चलकर गुप्तयुग के आते-आते इस कर का कोई भी उल्लेख न तो अभिलेखों में प्राप्त होता है और न अन्यत्र ही कहीं। इससे विद्वानों[3] ने यह अनुमान लगाया है कि धीरे-धीरे कूप, तड़ाग, बाँध और कुल्याओं के निर्माण आदि जैसी सिंचाई की सुविधाएँ राज्यक्षेत्र से बाहर होकर निजी क्षेत्र में चली गयीं, जिनके व्यक्तिगत दान के अनेकानेक प्रमाण पश्चात्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होते हैं।[4] खारवेल द्वारा नहरों के निर्माण (हाथिगुम्फा अभि.) और रुद्रदामा एवं स्कन्दगुप्त के समय में सुदर्शन झील की मरम्मत के कार्य (दोनों के जूनागढ़ अभिलेख) इस दिशा में राज्य के अपवादात्मक प्रयत्न ही प्रतीत होते हैं, जो सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं मात्र तक सीमित रह गये। वास्तव में ऐसी बड़ी योजनाएँ व्यक्तिगत प्रयत्नों की परिधि के बाहर ही थीं। धर्मशास्त्रों में पानी इकट्ठा होने वाले कूप, तटाक, वापी, कुल्या और प्रपा आदि का निर्माण व्यक्तिगत पुण्य का दायी कहा गया है और किसी दूसरे हाथ में उनकी विक्री प्रायश्चित्तकारक कही गयी है।[5] इनसे इन ज़ल संयोजक साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व का बोध होता है। अतः उन पर राज्य कोई जलकर भार नहीं लाद सकता था।

उपरिकर और उद्रंग-- गुप्त युग और उसके बाद के अन्यान्य अभिलेखों में **उपरिकर** और **उद्रंग** नामक करों के उल्लेख हैं जो दानग्रहीताओं की विमुक्तियों के रूप में उल्लिखित हैं। गुप्तपूर्व युग में उनका कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। किन्तु इनका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या था, यह कह सकना बड़ा कठिन है। विभिन्न विद्वानों[6] ने इनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। चूँकि अभिलेखों में इनकी गणना **भागभोगकर** के अतिरिक्त हुई है, ये दोनों ही कर उनसे भिन्न थे, ऐसा प्रतीत होता है। **उपरिकर** में उपरि शब्द संस्कृत भाषा का है और अतिरिक्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। सम्भव है, यह परम्परयाप्रचलित भूमिकरों के अतिरिक्त रहा हो, जिसका वास्तविक स्वरूप प्रमाणाभाव के कारण निश्चित नहीं

---

(१) सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अर्थ., द्वितीय, १।

(२) स्वसेतुभ्यो हस्तप्रावर्तिनममुदकभागं पञ्चमं दद्युः।
स्कन्धप्रावर्तिनं चतुर्थम् सोतयत्रप्रावर्तिनं च तृतीयम्। अर्थ., द्वितीय, २४।

(३) रामशरण शर्मा, प्रोसीडिंग्स ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९५७, पृ. ६३।

(४) देखें, द्विजेन्द्रनारायण झा, रेवेन्यू सिस्टम इन् पोस्टमौर्यन् एण्ड गुप्त टाइम्स, पृ. ५१-५२।

(५) मनु., अष्टम. २६४; ग्यारहवाँ. ६२; नारदस्मृति, ग्यारहवाँ. २०; याज्ञ., द्वितीय, १५७।

(६) देखें, फ्लीट, कार्पस, जिल्द ३, पृ. ९८, नोट १; उ.ना. घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. २१०; बार्नेट, जराएसो. -१९३१, पृ. १६५; अल्तेकर, राष्ट्रकूटज् एण्ड देयर टाइम्स, पृ. २१६।

किया जा सकता। शचीन्द्र कुमार मैती ने **उद्रंग** को एक प्रकार का पुलिस कर अथवा सुरक्षा कर माना है,[1] जिसका समर्थन पुष्पा नियोगी ने भी किया है।[2]

पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों के कुछ गिने-चुने अभिलेखों में **हलिकाकर**, मेय, दित्य, **तुल्यमेय** और **धान्य** नामक करों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो उसके पूर्व के अभिलेखों से ज्ञात नहीं हैं। धर्मशास्त्रीय एवं कोरे साहित्यिक ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि ये कर बहुत थोड़े समय तक कुछ थोड़े से क्षेत्रों मात्र में प्रचलित थे।[3] इन करों के वास्तविक स्वरूप के बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐसा लगता है कि **हलिकाकर** या तो एक हल की जोतभर की जमीन पर कोई कर था अथवा हलों की गिनती के आधार पर लगाया जाता था जो कदाचित् भाग और **भोग** नामक करों से भिन्न था। तथापि यह ज्ञात नहीं है कि यह अनाज के रूप में लिया जाता था अथवा किसी मुद्रापरिमाण में। **तुल्य** अथवा **तुल्यमेय** वस्तुओं की तौल अथवा भूमिमाप (मेय) के आधार पर लगाया जाता रहा होगा। **धान्य** अनाज रूप में संग्रहीत होता था किन्तु **भाग** नामक कर से भिन्न था, क्योंकि प्रायः इसका उल्लेख **भाग** और **भोग** नामक करों सहित अलग रूप में हुआ है। उपेन्द्रनाथ घोषाल का मत है[4] कि **धान्य** अन्न का एक निश्चित भाग खेत की वास्तविक उपज का भाग था जो १/६, १/८, १/१० और १/१२ के अंशों में संग्रहीत होता था। किन्तु **दित्य** नामक कर के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग से परवर्ती गुप्तकाल तक का भूमिकरों का यह परिचय कुछ निष्कर्षों की ओर निर्देश करता है। वैदिक और बौद्ध युग का **बलि** नामक कर गुप्तयुगीन अभिलेखों और धर्मशास्त्रग्रन्थों में भी उल्लिखित है, जिससे उसके दीर्घकालीन व्याप्ति का प्रमाण उपस्थित होता है। तथापि यह प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे वह भूमिकर न रहकर एक धार्मिक अथवा याज्ञिक क्रियामात्र के रूप में बच गया था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** के **भाग**, **कर** तथा **हिरण्य** भी परम्परागत अर्थों में प्रायः सभी क्षेत्रों में बाद के युग में भी प्रचलित रहे। वे अभिलेखों में तो उल्लिखित हैं ही, परवर्ती स्मृतियों में भी उनके विवरण आते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र से ज्ञात **पिण्डकर** और **उदकभाग** आगे समाप्त से हो गये हैं और उनका कोई भी उल्लेख हमें न तो आभिलेखिक साहित्य में और न धर्मशास्त्रग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रत्युत् परवर्ती गुप्त काल में पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र-गुजरात के कुछ भागों में **हलिकाकर**, **धान्य**, **मेय**, **तुल्यमेय** और **दित्य** नामक कुछ ऐसे कर चल पड़े थे, जो न तो साम्राज्यभोगी गुप्तों के समय प्रचलित थे, न उनके पूर्व के युग में, और न सातवीं शती के पूर्वार्ध के बाद ही किसी साक्ष्य से वे ज्ञात होते हैं। इनके विपरीत **उद्रंग** और **उपरिकर** नामक देय गुप्तपूर्व युग में तो प्रचलित नहीं थे, किन्तु उसके

---

(१) इकॉनॉमिक लाइफ ऑफ् नार्दर्न इण्डिया इन् दि गुप्त पीरियड, पृ. ६२।

(२) इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया, पृ. १८७।

(३) उदाहरणस्वरूप उच्छकल्पवंशी शासक सर्वनाथ के सोहावल और खोह दानपत्र, एइ., जिल्द १९, सं. २१; कार्पस, जिल्द ३, पृष्ठ सं. ३०; त्रैकूटक राज व्याघ्रसेन का सूरत अभिलेख, एइ., जिल्द ११, सं. २१; हर्ष का मधुवन दानपत्र, एइ., जिल्द ७, सं. २२।

(४) हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. २१९।

बाद प्रायः सर्वदा ही चलते रहे और अभिलेखों में दानग्रहीताओं की विमुक्तियों में उनके उल्लेख बहुत ही व्यापक हैं।

करों के रूप और उनकी दरें

उपर्युक्त विवेचन से भूमिकरों, विशेषतः उपज के रूप में लिये जाने वाले भाग अथवा बलि के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या कभी-कभी यह प्रजा पर राज्य द्वारा लगाये गये अत्यधिक बोझ का सूचक तो नहीं था। कम से कम मौर्य युग में, या यों कहें कि कौटिलीय अर्थशास्त्र की संस्तुतियों में, भाग सम्बन्धी जो उल्लेख हैं वे कुछ योरोपीय भारतीविदों अथवा उनके कुछ भारतीय समर्थकों के मत में[1] आततायी होने अथवा प्रजा की पीठ तोड़ने वाले होने का चित्र उपस्थित करते हैं। वैदिक युग में भी इस प्रकार के करों की अत्यधिकता की कल्पनाएँ की गयी है। ऋग्वेद[2] में एक स्थान पर राजा को 'विशंअत्ता' अर्थात् 'विशों' का खादक, कहा गया है, जिससे हॉपकिन्स्[3] ने अनुमान लगाया कि प्रजा से वसूल किये जाने वाले करों का भार बहुत बोझिल था। किन्तु इस व्याख्या से न तो मैकडानेल और कीथ[4] ही सहमत है और न कुछ आधुनिक विद्वान् ही। वास्तव में 'विशों को खाने वाले' का सन्दर्भ उस प्रथा से है, जिसमें राजा और उसका दलबल प्रजाओं (विशों) द्वारा प्रदत्त सामग्री पर निर्भर होता था। डॉ. अ.स. अल्तेकर ने उत्तरवैदिक साहित्य के साक्ष्यों के आधार पर 'अत्ता' का अर्थ भोग करने वाला (विशंअत्ता = विशों का भोग करने वाला) बताया है, जो करों की आततायितता अथवा उत्पीड़कता की ओर निर्देश नहीं करता।[5]

मौर्ययुगीन भूमिकर प्रणाली को भी विद्वानों के एक सम्प्रदाय ने प्रजा की पीठ तोड़ने वाला अथवा उत्पीड़क कहा है। मौर्य साम्राज्य के अधीन भूमिकर साधारणतया १/६ था,[6] जिसे सम्राट् अशोक ने बुद्ध भगवान के जन्म स्थान लुम्बिनी की अपनी तीर्थयात्रा के उपलक्ष्य में घटा कर वहाँ के लिए १/८ कर दिया था। यह उस समय की भूमिकरांश की सबसे निचली सीमा प्रतीत होती है। कौटिल्य ने एक स्थान पर आपातकालीन स्थितियों अथवा राज्यकोष के कारणविशेषों से खाली हो जाने की अवस्थाओं में १/४ तक की वसूली की अनुशंसा की[7] है। किन्तु यह कर प्रणय अर्थात समझाने-बुझाने, जोर-जबरदस्ती, लालच देने और फुसलाने अथवा सामयिक विपत्ति के टल जाने पर लौटा देने की प्रतिज्ञा करने जैसी

---

(१) सन्दर्भों के लिए देखें, अ.ना. बोस, सोशल एण्ड रूरल इकोनॉमी इन् नार्दर्न इण्डिया, भाग १, पृ. १५५, नोट १ और २।

(२) मैकडॉनेल और कीथ, वेदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. २१२-२१३।

(३) इण्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, पृ. २४०।

(४) वेदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. २१३।

(५) स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. २६४।

(६) धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं कल्पयामासुः। अर्थ., प्रथम, १३वाँ अध्याय।

(७) चतुर्थ भागं धान्यानां षष्ठं वन्यानां। वहीं, पञ्चम, द्वितीय अध्याय। डायोडोरस् (द्वितीय, ४०) का कथन है कि भारतीय प्रजा सामान्य भूमि कर के अतिरिक्त भी १/४ के भाग में अपना धान्यान्न राजा को समर्पित करती है।

धूर्त्तताओं की परिधि में आता था, जिनका प्रयोग सामान्यकाल में नहीं किया जाता था। बड़ा स्पष्ट है कि यह एक आपातकालीन कर था। यह तथ्य बड़ा मनोरंजक है कि मेगास्थनीज के सन्दर्भों के आधार पर जो सिद्धान्तवादी मौर्यकालीन भूमिकरों की दरों को उत्पीड़क कहते हैं, वे **मनुस्मृति**[1] में विवृत आपातकाल सिद्धान्त और उस समय प्रजा से उत्पत्ति का १/४ वसूल किये जाने की अनुशंसा पर ध्यान नहीं देते। यही नहीं, राजा को अधिकार था कि वह आपातकाल में संचित अन्न का भी १/८ भाग तथा वैश्यों द्वारा संचित धन (कार्षापणों) का १/२० भाग वसूल करे तथा शिल्पिओं, शूद्रों और भोजन सामग्री बनाने वालों से कर के बदले काम (बेगार) कराये। अतः **अर्थशास्त्र** के **प्रणय** सम्बन्धी अपवादात्मक उल्लेखमात्र के आधार पर तत्युगीन करों के उत्पीड़क होने की धारणा बना लेना कुछ बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता। मौर्ययुग में भी भूमिकर का साधारणतया १/६ होना ही सत्य प्रतीत होता है जो प्राचीन भारत में सामान्यतः लागू था।

किन्तु इसे अन्तिम तर्क नहीं कहा जा सकता। **अर्थशास्त्र** में कौटिल्य ने साधारण भूमिकर (१/६ भाग) के अतिरिक्त **उदक भाग** (द्वितीय, २४वाँ, १८) का भी उल्लेख किया है जो पानी की अनेक सुविधाओं के बदले वसूल किया जाता था और उसका अंश १/५ से १/३ तक होता था। यह उन किसानों से भी प्राप्य था जिनकी सिंचाई की सुविधाएँ स्वनिर्मित थीं (स्वसेतुभ्यः)। अतः यदि दोनों भागों को जोड़ दिया जाय तो सम्पूर्ण कर लगभग १/२ हो जाता है, जो निश्चय ही उत्पीड़क रहा होगा।[2] यहाँ पुरातात्त्विक जानकारियों से उभरे इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि मौर्ययुग अथवा उसके थोड़ा पहले से ही लोहे के फालों वाले हलों द्वारा सारे उत्तरी भारत में, विशेषतः गंगा-यमुना दोआब के जंगलों को काटकर, कृषि को व्यापक आधार प्राप्त हुआ था, जिसके विस्तार में राज्य का स्वकीय योगदान बहुत अधिक था। प्रमाणस्वरूप **अर्थशास्त्र** की नये ग्रामों के संन्निवेश, नयी भूमि को जोतने-बोने और नयी बस्तियों को बसाने सम्बन्धी अनेक राजकीय सुविधाओं, विशेषतः कुछ निश्चित वर्षों तक करमुक्तियों के सन्दर्भों की ओर निर्देश किया जा सकता है। रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात सुदर्शन झील के निर्माण और रखरखाव पर मौर्य सम्राटों द्वारा किया गया व्यय कृषि के विकास मे राजकीय योगदान की एक ऐसी पृष्ठभूमि उपस्थित करता है, जिसमें यह अस्वाभाविक नहीं था कि राज्य कृषिपरक उत्पादों में अपनी एक विशेष हिस्सेदारी समझता था।

मौर्य युग की अपेक्षा गुप्तसाम्राज्य के युग में भूमि की उपज पर लगने वाला करभार अपेक्षाकृत कुछ कम था। स्मृतियों, उनकी विभिन्न टीकाओं, एवं महाकाव्य ग्रन्थों से भूमिकर की निचली सीमा १/१० अथवा १/१२ तक ज्ञात होती है।[3] सम्भव है, मौर्ययुग का

---

(१) मनुस्मृति, सप्तम, ११८, १२०।

(२) मनु., सप्तम, १३०; शान्तिपर्व, ६७.२३ और आगे तथा अध्याय ६६; गौतम (दशम, २४) ने निचली सीमा १/१० तक ही रखी है।

(३) देखें, उ.ना. घोषाल, कन्ट्रीब्यूशन्स् टू दि हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. ३३; एच्.एम्. गोपाल, मौर्यन् पब्लिक फाइनेन्स्, पृ. ७१-७३; कांग्ले, दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग३, पृ. १७४।

अपेक्षाकृत अधिक भूमिकर भार जहाँ उस साम्राज्य की सैनिक आवश्यकताओं की गुरुता के कारण रहा हो, वहीं शक-कुषाण-गुप्तकालीन बढ़ती हुई व्यापारिक समृद्धियों के कारण परवर्ती युग में वाणिज्य और व्यापार से इतनी प्रचुर आय हो जाती रही हो कि राज्य की खेती की आय पर विशेष निर्भरता न रही हो। प्रमाणों से यह भी स्पष्ट है कि राज्य अब कृषि के लिए सर्वावश्यक सुविधा (सिंचाई) का अपनी ओर से कोई विशेष भार भी नहीं उठा रहा था।[1] अतः उसके पास कृषिपरक करों के भार को बहुत बोझिल करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं रह गया था।[2]

भूमिकर (भाग) की इन विभिन्न दरों के कुछ निश्चित आधार थे। भूमि के उपजाऊपन अथवा अनुपजाऊपन; उसके साधारण श्रम और व्यय द्वारा जोती-बोयी जा सकने वाली होने, अथवा उसके विपरीत, विशेषश्रम और धनसाध्य होने; उसके ऊँची अथवा नीची होने; सिंचित अथवा असिंचित होने एवं राजकीय जल प्रणाली द्वारा सिंचित होने अथवा व्यक्तिगत साधनों द्वारा सिंचित होने जैसी अनेक विभिन्नताओं के कारण भी करारोपण की दरों की विभिन्नताएँ होती थीं। **मनुस्मृति** में स्पष्टतः करभार की विभिन्नता का आधार भूमि के उपजाऊपन का आंशिक भेद बताया गया है।[3] इसी प्रकार **अर्थशास्त्र** भी स्थल और केदार (क्रमशः ऊपरी और नीची भूमि) के भेद को खातों में रजिस्टर किये जाने का उल्लेख करता है। **अर्थशास्त्र** ग्रामों के तीन प्रकारों का भी उल्लेख करता है जो कदाचित् उन पर लगने वाले करों में भेद किये जाने के लिए उद्दिष्ट था। वहाँ (पञ्चम अधिकरण, द्वितीय अध्याय) भूमि के विभिन्न प्रकारों पर करभार के विभेदों का भी उल्लेख है। सम्भव है कि करांशभेद भूमि के प्रकारभेद के अतिरिक्त फसलों के प्रकारभेद पर भी आश्रित रहा हो। तथापि निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **भाग** अथवा **बलि** नामक भूमि कर जमीन की उपज का १/६ भाग ही था जो प्रायः परम्परागत रूप में प्राचीन भारत के सभी युगों में साधारणतः स्वीकृत और प्रचलित था। यह मोटे रूप में सभी अर्थशास्त्रीय, धर्मशास्त्रीय और साहित्यिक कृतियों से अनुमन्यित हैं और उसी कारण षडंशभागिन्, षडंशवृत्ति, षड्भागभृत् जैसे विशेषण राजा को प्राप्त हुए थे।[4] इस तथ्य की ओर यहाँ निर्देश किया जा सकता है कि उपज के रूप में भूमिकर को वसूल करने की प्रणाली मध्ययुगीन मुसलमानी शासकों ने भी मुगल युग तक जारी रखी। किन्तु उनके कर हिन्दू युग की अपेक्षा बहुत ही अधिक थे। अलाउद्दीन खिलजी ने दोआब के हिन्दुओं पर उपज का आधा भाग और टोडरमल ने उपज

---

(१) देखें, पीछे पृष्ठ १५३।

(२) किन्तु आगे चलकर शुक्रनीति में तो भूमिकर का भार मौर्ययुग से भी अधिक बोझिल दिखायी देता है। वहाँ, (चतुर्थ (दूसरा), २२७ से २३०) सिंचित भूमि से १/३ अथवा १/४; की वसूली अनुशंसित है। केवल, पथरीली, असिंचित और अप्रकृष्ट भूमि से ही १/६ भाग की वसूली वहाँ अनुमन्यित है। यह व्यवहार में कितना लागू था, यह कह सकना कठिन है।

(३) सप्तम, १३०-१३२।

(४) देखें, अर्थ., द्वितीय, पन्द्रहवाँ; बौधायनधर्मसमत्र, प्रथम, १०, १८; वासिष्ठधर्मसूत्र प्रथम, ४२; विष्णुस्मृति, तृतीय, २२-२५; पराशरस्मृति, द्वितीय, १४, नारदस्मृति, १८वाँ, ४८; शान्तिपर्व ६६, २५, ७१.१०; गौतमधर्मसूत्र, दसवाँ, २४-२७; रघुवंश, द्वितीय ६६; पञ्चम, ८; सत्रहवाँ ६३-६५। इस सम्बन्ध में साहित्यिक सन्दर्भों के लिए देखें, श.कु. मैती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ७७ और उसकी पादटिप्पणियाँ।

का १/३ भाग कर के रूप में निश्चित किया था।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** कृषि की उत्पत्ति में लगने वाले व्यय और श्रम को स्पष्ट मान्यता देता है। वहाँ कथित है कि "नया तालाब अथवा सेतुबन्ध बनाकर जो खेती करे उसे पाँच वर्षों तक की करमुक्ति (परिहार) दी जाय; पुराने जीर्ण-शीर्ण तालाबों का पुनरुद्धार करने वालों को चार वर्षों तक की करमुक्ति दी जाय तथा जंगलझाड़ी और घासफूस काटकर कृषि योग्य भूमि तैयार करने वालों को तीन वर्षों तक की करमुक्ति दी जाय।"[1] **मनुस्मृति** (सप्तम, १३०-१३२) के कुल्लूक, मेधातिथि, गोविन्दराज और रघुनन्दन जैसे टीकाकार स्पष्ट रूप से भूमि की उपज के लाभांशमात्र पर कर लगाने की अनुशंसा करते हैं न कि भूमि की उपज के सम्पूर्ण भाग[2] पर। इस निष्कर्ष को पालि ग्रन्थों अथवा मेगास्थनीज[3] जैसे विदेशिओं के उन कथनों से भी समर्थन प्राप्त होता है कि समय-समय पर राजकीय अधिकारी खेतों की पैमाइश और उनकी फसलों का सर्वेक्षण किया करते थे।

किन्तु अ.ना.बोस का यह सिद्धान्त,[4] कम से कम भूमिकर के सम्बन्ध में, स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि उपज के लाभांश पर ही कर निर्धारित किया जाता था। कौटिल्य कृषकों के विशेष प्रयत्नों पर जिन परिहारो की व्यवस्था देता है वह करों से कुछ दिनों तक पूर्ण मुक्ति थी न कि कृषि की लागत पर किसी लाभांश का आकलन। भूमि की पैमाइश और समय-समय पर राज्याधिकारिओं द्वारा उसका सर्वेक्षण सम्भवतः इस उद्देश्य से प्रेरित था कि कृषकों की उत्पत्ति का एक मोटा-मोटी रूप प्रायः पहले से ही निश्चित किया जा सके और सीमांकन और स्वामित्त्व के प्रश्नों का सही-सही समाधान किया जा सके। इससे अनुमानित भूमिकर का एक स्वरूप राज्य को पूर्वरूप में ज्ञात हो जाता रहा होगा, जिससे कृषकों अथवा करसंग्राहकों की चोरी अथवा धोखाधड़ी भी रोकी जा सकती थी। अतः निष्कर्ष रूप में यही प्रतीत होता है कि भूमिकर का राज्यांश सम्पूर्ण उत्पत्ति पर आकलित होता था, न कि कृषि में लगने वाले खर्चों अथवा श्रम को छाँटकर उसके लाभमात्र पर। प्रमथनाथ बनर्जी,[5] विन्सेन्ट स्मिथ[6] अथवा मोरलैण्ड[7] जैसे भारतीविदों के ये ही निष्कर्ष थे, जिनसे कोई असहमति नहीं हो सकती। इस निष्कर्ष के पीछे **अर्थशास्त्र**, स्मृतियों, महाकाव्यों, विदेशी लेखकों अथवा अभिलेखों के वे अनेकानेक साक्ष्य हैं जहाँ भूमि की उत्पत्ति का प्रायः १/६ भाग अथवा १/४ से लेकर १/१२ भाग तक को **बलि**, **भाग** अथवा **कर** के रूप में संग्रहीत करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

---

(१) तटाकसेतुबधानां नवप्रवर्तने पञ्चवार्षिकः परिहारः।
भग्नोत्सृष्ठानां चातुवार्षिकः समुपास्ठानां त्रैवार्षिकः।। अर्थ., तृतीय, ९वाँ अध्याय

(२) रघुनन्दन की व्याख्या है – व्ययव्यतिरिक्त लाभविषयाभागकल्पना।

(३) स्ट्रैबो, पन्द्रहवाँ, प्रथम, ५०।

(४) सोशल ऐण्ड रूरल इकॉनॉमी, जिल्द १, पृ. १५५।

(५) पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ. १३१।

(६) अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ. १३२।

(७) ऐग्रेरियन् सिस्टम् इन मुस्लिम इण्डिया, पृ. ३।

किन्तु यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि व्यापारिओं, शिल्पिओं और व्यावसायिकों से जो कर वसूल किये जाते थे उनके सम्बन्ध में मूलधन, आनुसंगिक व्यय और शुद्ध लाभ को दृष्टि में रखकर ही उनके भाग निश्चित किये जाते थे। अतः लाभांश पर कर का सिद्धान्त वहाँ प्रचलित था। किन्तु परिस्थितिभेद से वहाँ भी कभी-कभी मूलधन पर ही कर लगाए जाते थे।

कर वस्तुरूप और नकद धन इन दोनों ही रूपों में वसूल किये जाते थे। वस्तुओं के रूप में, विशेषतः अन्न के रूप में, वसूल किये गये कर सामग्री को सुरक्षित रखने हेतु स्थान-स्थानों पर विशेष कोष्ठागार (कोठार) राज्य की ओर से स्थापित किये जाते थे। जिनके उल्लेख कम से कम दो अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।[1] इनके अतिरिक्त **अर्थशास्त्र**[2] में पशुओं, घी, दही, दूध, मधु, कच्चे सामान और **विष्टि** (बेगारी के श्रम) रूप में भी करों की उगाही के उल्लेख हैं। **महाभारत**[3] में राजा को उपदेश दिया गया है कि उसे अपने कोश को अन्न से सर्वदा भरा हुआ रखना चाहिए। मोटे तौर पर **भाग**, **बलि** अथवा **कर** नामक राजदेय वस्तुरूप में और **शुल्क** और **हिरण्य** जैसे देय धन अथवा सिक्कों के रूप में प्राप्त होते थे। कर का स्वरूप द्वैध था जो वस्तु एवं धन दोनों ही रूपों में रहा प्रतीत होता है। पीछे कर की चर्चा करते समय हम तत्सम्बन्धी सन्दर्भों को देख चुके हैं। खारवेल अपने हाथिगुम्फा अभिलेख में इस बात का उल्लेख करता है कि उसने कई सहस्रों के परिमाणों में करों से प्रजा को मुक्त कर दिया।

सिन्धुघाटी की संस्कृति के पीछे राजनीतिक पृष्ठभूमि अथवा राज्य की स्थिति क्या थी, इसकी हमें कोई जानकारी नहीं है। किन्तु यह निश्चित है कि सिन्धु महानद के माध्यम से सामुद्रिक और विदेशी व्यापार की तत्कालीन अवस्था बड़ी उन्नत थी। तथापि उसमें राजकीय भूमिका क्या थी अथवा कोई कर प्रणाली विकसित हो चुकी थी या नहीं, इन सम्बन्धों में हम कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकते। प्रायः यही स्थिति वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भिक दिनों के बारे में भी प्रतीत होती है। किन्तु धर्मसूत्रों, महाकाव्य ग्रन्थों और बौद्ध साहित्य के विविध सन्दर्भ इस बात की ओर निर्देश करते हैं कि एक ओर व्यक्तिगत और सामुदायिक व्यापारिक क्रियाएँ जहाँ बड़ी तेजी से बढ़ रही थीं, वहीं उनमें राज्य की भागीदारी, राजकीय हस्तक्षेप, राजकीय न्यायपद्धति का उनमें प्रवेश, उनके नियन्त्रण के लिए राजकीय विधियों का विकास तथा उन नियमों के उल्लंघकों को राजकीय अर्थदण्ड जैसी प्रक्रियाएँ उभरकर सामने आ रही थीं।

व्यावसायिक और औद्योगिक आय और कर

व्यापार और व्यवसाय में निरत लोगों को राज्य से प्राप्त होने वाली सुरक्षा, तत्सम्बन्धी

---

(१) देखें, सोहगौरा अभिलेख, एपि. इण्डिका, जिल्द २२, पृ. २ और आगे; महास्थानपुर अभिलेख, जिल्द २१, पृ. ८५ और आगे।

(२) द्वितीय अधि., ३५वाँ अध्याय; तृतीय अधिकरण, नवाँ अध्याय।

(३) शान्तिपर्व, ११०, १७।

राजकीय व्यवस्थाओं से लाभ, व्यापारिक-व्यावसायिक नियमों की कार्यरूप में मान्यता और पाल्यता में राज्य की भूमिका तथा राज्य के खर्चों को चलाने के लिए कर प्राप्त करने के राजकीय अधिकारों के तहत राज्य को प्रभूत आय प्राप्त होती थी। व्यापार, व्यक्तिगत व्यवसाय और उद्योगधन्धों का विकास भारत के अत्यन्त प्रारम्भिक दिनों से ही आंरभ हुआ ज्ञात होता है। **ऋग्वेद** में आने वाले वण्णि, पणि, कृ और शुल्क जैसे शब्द उस समय भी व्यापार के प्रारम्भिक चरणों की ओर निर्देश करते हैं। पणि नामक समुदायबोधी व्यापारिक वर्ग को बाद के सार्थवाहों का पूर्वगामी स्वीकार किया गया है।[1] महाकाव्य ग्रन्थों में अयोध्या, विदेह (मिथिला), हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, विदर्भ जैसे जनपदीय नगरों के उल्लेख एक तेजी से विकसित होते हुए नागर जीवन की ओर निर्देश करते हैं। **वाल्मीकि रामायण** के अयोध्याकाण्ड (सर्ग ८२) और किष्किन्धाकाण्ड (सर्ग ४०) तथा **महाभारत** के सभापर्व (नवाँ अ. ३, १-३) इन विभिन्न नगरों में दूर-दूर के देशों से आने वाले व्यापारिओं के उल्लेख करते हैं। राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारियों में वणिक्-प्रमुखों और श्रेणी मुख्यों की उपस्थिति उस वर्ग के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ-साथ इस बात को भी इंगित करती है कि राज्य का व्यापारिक वर्गों से एक जीवन्त सम्बन्ध था। **महाभारत** स्पष्टतः कहता है कि सुरक्षा और व्यवस्था के बदले राज्य को व्यापारिओं पर आगम कर, निर्गमकर, शुल्क, बिक्रीकर, खरीदकर, मुनाफाकर और जीवन के सुखोपभोग वाली वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार है।[2]

गौतमधर्मसूत्र एवं **आपस्तम्बधर्मसूत्र** में श्रेणियों के नियमन, उनके धर्मों (विधियों) की मान्यता, विभिन्न प्रकार की सूद की दरें, १/१६ अथवा १/२० के अंश में व्यापारिक वस्तुओं पर राज्यकर और प्रत्येक मास बाजार मूल्य से कम पर किसी न किसी वस्तु को व्यापारिओं द्वारा समर्पित किये जाने के उल्लेख हैं। ये कर देश के भीतर उत्पन्न होने वाली और बाहर से आने वाली दोनों ही प्रकार की वस्तुओं पर लगाये जाते थे।[3]

बुद्धयुगीन भारत का व्यापारिक स्वरूप पहले की अपेक्षा बहुत ही अधिक व्यापक और प्रायः अखिल भारतीय हो गया। भीतरी और वाह्य दोनों ही प्रकार के व्यापार का तेजी से विस्तार हुआ एवं काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वैशाली, पाटलिपुत्र, चम्पा, साकेत, राजगृह, नालन्दा, शाकल, तक्षशिला, मथुरा, काम्पिल्य, उज्जयिनी, सोपारा एवं ताम्रलिप्ति जैसे अनेक नगरों की बढ़ती हुई श्रीवृद्धि में अनाथपिण्डिक, धनन्जय और मृगार जैसे श्रेष्ठिओं ने तथा अनेक प्रकार के व्यापारिक संघों ने बहुत ही अहम् भूमिका निभायी। कार्ष अथवा कार्षापण नामक आहत मुद्राओं एवं उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्डों की संस्कृति के एक व्यापक फैलाव (विशेषतः उत्तरपूर्वी भारत पर) के लिये यह युग प्रसिद्ध है। आहत सिक्कों का प्रचलन और प्रयोग कदाचित् मूलरूप में व्यापार-वाणिज्य की आवश्यकताओं के कारण ही प्रारम्भ हुआ था। बौद्ध साहित्य, विशेषतः जातकों, के अध्ययनों से स्पष्ट है कि यह युग औद्योगिक विकास

---

(१) शि.कु. दास, इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. ६७।

(२) शान्तिपर्व, ६८.२३-२४।

(३) गौतम, १०वाँ, २४ से ३५ तक; आपस्तम्ब, १२वाँ, ३४-४७।

के क्षेत्र में ज़बरदस्त पगों द्वारा आगे गतिशील था। मगध साम्राज्य के विकास में पाटलिपुत्र, राजगृह और चम्पा जैसे नगरों की बढ़ती हुई व्यापारिक समृद्धि; उनसे होकर गुजरने वाला आन्तरिक और बाह्य व्यापार[1], राजनीतिक और सैनिक शान्ति; हलों के लौह-फालों द्वारा बड़े बड़े जंगलों को काटकर कृषि और कृषिपरक उद्यमों का अभूतपूर्व विस्तार; सिक्कों के प्रयोग और वस्त्र निर्माण; हाथीदाँत के कार्य; बर्तन और खिलौनों के निर्माण, सन्तराशी, खानों से सम्बद्ध कार्य; स्वर्ण जैसी धातुओं से आभूषण-निर्माण तथा विभिन्न प्रकार की दस्तकारियों जैसे उद्योगों के विकास तथा भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए प्रसिद्धि पाने वाले अन्यान्य नगरों की आर्थिक समृद्धि जैसी प्रवृत्तियों ने बुद्धयुगीन व्यापार वाणिज्य को एक जबरदस्त बढ़ावा दिया। इसका पूर्ण प्रस्फुटन मौर्यकालीन इतिहास के समय हमें दिखायी देता है। अतः उ.ना. घोषाल[2] का यह कथन अत्यन्त समीचीन है कि भारतीय इतिहास में प्राक्मौर्य युग औद्योगिक और व्यापारिक समृद्धि के विकास के क्षेत्र में प्रथम महत्त्वपूर्ण युग था।

यह निश्चित है कि राजकीय आय की वृद्धि में भी अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों द्वारा यह समृद्धि सहायक रही होगी। **सूप्पारक जातक** (कावेल ऐण्ड नील, जिल्द ३, पृ. १३२) से यह ज्ञात होता है कि व्यापारिओं पर लगाये जाने वाले करों की मात्रा अमात्यों द्वारा निश्चित की जाती थी। वहाँ पुनः कथित है कि एक राजपुत्र ने उचित और न्यायपरक कराधान के कारण व्यापारिओं और वणिकों में बड़ी लोकप्रियता और प्रसिद्धि पायी। **महाउमग्ग जातक**[3] से यह विदित होता है कि किसी दुर्गनगर के चार-द्वारों से प्रविष्ट होने वाले व्यापारिक माल पर लगने वाली पूरी चुंगी को एक राजा ने अपने बुद्धिमान मन्त्री से प्रसन्न होकर उसे सौंप दिया। इस कर को **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, ६,२१-२२) में उल्लिखित **द्वारदेय** से समरूपित किया जा सकता है, जो आयातित और निर्यातित वस्तुओं पर १/५ की दर से लगता था और वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर उसमें कमीवेशी की जाती थी। जातकों से यह ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से मुनादी द्वारा व्यापारिक नियमों की सूचनाएँ दी जाती थीं और उनका उल्लंघन करने वालों को अर्थदण्ड भुगतना होता था।[4]

धीरे-धीरे व्यापार और उद्योगों के विकास की द्वैध धाराएँ हो गयीं – एक तो व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्रवाहित और दूसरी राजकीय संरक्षण में प्रवाहित। यद्यपि इन दोनों धाराओं की समानान्तर गति का परमोत्कर्ष और विकास कौटिलीय **अर्थशास्त्र** की रचना में ही परिलक्षित होता है, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि प्रायः सभी युगों में इन क्षेत्रों के विभिन्न क्रियाकलाप व्यक्ति, व्यावसायिक-व्यापारिक समुदाय (**श्रेणी, संघ, पूग, व्रात, गण** आदि) और राज्य इन तीनों ही क्षेत्रों में परस्पर विभक्त थे।

अपने निजी व्यय और प्रवन्ध द्वारा राज्य स्वयं भी अनेक व्यापारिक एवं औद्योगिक उद्यमों में निरत होता था। वस्तु-निर्माण, विपणन, बिक्री और मुनाफा द्वारा राज्य अपने लिये

(१) रतिलाल मेहता, प्रीबुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. ४०६।

(२) ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् पब्लिक लाइफ, जिल्द २, पृ. ८६।

(३) अंग्रेजी अनुवाद (पाटेसो.) जिल्द ६, पृ. ३३७।

(४) वहीं, जिल्द ६, पृ. ४३१; जिल्द ३, पृ. ३३६ (गाथा ३८)

आय तो प्राप्त करता ही था, इन क्रियाओं द्वारा बाजार और व्यापारिओं का नियन्त्रण करके राजकीय आय, उपभोक्ताओं के हितों और व्यापारिक मुनाफों के बीच उचित और आवश्यक सन्तुलन भी स्थापित करता था। ऐसा मत व्यक्त किया गया है[1] कि मौर्ययुग के आते-आते व्यापार और वाणिज्य राजकीय एकाधिकार में चले गये। किन्तु **अर्थशास्त्र** की अत्यन्त अधिक व्यापार-वाणिज्य नियन्त्रक अनुशंसाओं को पूरी तरह ध्यान में रखते हुए भी यह मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। यह अवश्य स्वीकार्य है कि राजकीय हस्तक्षेप की मात्रा बढ़ गयी, किन्तु यह कहना कि सभी व्यापारिक-व्यावसायिक क्रियाएँ राजकीय एकाधिकार में चली गयीं, सही नहीं जान पड़ता।

चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक की विजयों के फलस्वरूप प्रायः समस्त भारतवर्ष ही नहीं, अपितु अफगानिस्तान का एक बहुत बड़ा भाग भी, एकछत्र मौर्य साम्राज्य के भीतर आ गया और स्वदेशी और विदेशी दोनों ही प्रकार के व्यापार को जो बढ़ावा मिला, वह उसके पूर्व कदाचित् कभी भी प्राप्त नहीं हुआ था। कलिंग से प्रारम्भ कर दक्षिण-दक्षिणापथ और सौराष्ट्र का सारा समुद्रतट भारतीय व्यापार का उन्मुक्त द्वार हो गया जो भूमध्यसागर तक पहुँच गया।[2] इसके अतिरिक्त मध्य एशिया से मिस्र तक के यूनानी राज्यों से मौर्यो के जो राजनीतिक और कूटनीतिक सम्बन्ध थे, उनके परिणामस्वरूप भी विदेशों में भारतीय व्यापार और वाणिज्य भरपूर रूप में बढ़ा, जिसकी अधिक चर्चा व्यापार सम्बन्धी अध्यायों में की जाएगी। चूँकि मौर्य साम्राज्य स्वयं भी अनेक उद्योगों का संचालन करके प्रभूत मात्रा में व्यापारिक वस्तुओं का निर्माण करता था, उसकी स्वदेशी और विदेशी व्यापार से होने वाली आय राजकीय राजस्व का एक बहुत बड़ा भाग रही होगी। राजपण्य[3] अर्थात् राजकीय उद्यम द्वारा बाजार में ले जायी जाने वाली विक्रय की वस्तुएँ दो प्रकार की होती थीं – एक तो स्वभूमिज अर्थात् देश में ही उत्पन्न और दूसरी परभूमिज अर्थात् विदेशों में उत्पन्न। इससे स्पष्ट है कि राज्य की विदेशी व्यापार में भी एक बहुत बड़ी हिस्सेदारी थी।

इन व्यापारिक क्रियाकलापों से जो विभिन्न प्रकार के राजकीय राजस्व प्राप्त होते थे, उनकी कोई विस्तृत सूची बनाना यहाँ आवश्यक नहीं है। सामान्यरूप में यह ध्यातव्य है कि अष्टादशतीर्थों में **समाहर्त्ता** और **सन्निधाता** नामक दो केन्द्रीय अधिकारी ऐसे थे जिनके माध्यम से सारे करसंग्रह (नकद और वस्तु दोनों ही रूपों में) किये जाते थे और राजकीय कोष्ठागारों में ब्यौरों सहित रखे जाते थे। **समाहर्त्ता** के अधीन अनेक विभागाध्यक्ष होते थे जो अलग-अलग क्रियाकलापों के लिए उत्तरदायी थे। व्यापारिक-व्यावसायिक कार्यों तथा बाजार के नियन्त्रक (पण्यध्यक्ष); राजकीय भूमि (सीता) पर खेती कराने की सभी आवश्यक व्यवस्थाओं को देखने वाले (सीताध्यक्ष); व्यापारिक वस्तुओं पर लगने वाले करों के संग्राहक (शुल्काध्यक्ष); खानों की देखरेख करने वाले (खन्यध्यक्ष); राजकीय कोष्ठागारों की देखरेख करने वाले (कोष्ठागाराध्यक्ष); व्यापारिक नौकायन की देखरेख करने वाले तथा पार उतार के

(१) सरिता कुमारी, रोल ऑफ् स्टेट इन ऐंशियेण्ट इण्डियान् इकॉनॉमी, पृ. १३६।
(२) वि.प्र. सिनहा, काम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द २, पृ. ७७।
(३) कॉंग्ले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७७।

करों के संग्राहक (नौकाध्यक्ष) जैसे अनेक विभागाध्यक्षों की सूची **अर्थशास्त्र**[1] में मिलती है। वहाँ उनके विभिन्न प्रकार के कार्यों के व्यापक उल्लेख हैं, जिनमें सर्वाधिक जोर राजकीय आय को बढ़ाने और राजकीय कोठारों को सर्वदा सभी चीजों से भरे रहने के उपायों पर दिया गया है।

राज्य अनेक प्रकार की औद्योगिक वस्तुओं के स्वतः निर्माण के लिए अपने कारखानों की व्यवस्था करता था[2], जिनके उत्पादों के विपणन और बिक्री द्वारा बाजार का नियन्त्रण तो होता ही था, राजकीय आय में भी वृद्धि होती थीं। सूत्राध्यक्ष (कपड़ों के उत्पादन और विपणन के लिए उत्तरदायी); खन्यध्यक्ष अथवा आकराध्यक्ष (विभिन्न प्रकारों की खानों और भौगर्भिक धातुओं, द्रवों-द्रव्यों पर राजकीय[3] एकाधिकार को ठेकों द्वारा अथवा प्रत्ययक्षतः राज्य के नियन्त्रण को कार्यरूप देने वाला; सुराध्यक्ष (शराबखोरी का नियन्त्रक); गणिकाध्यक्ष (वेश्यावृत्ति का नियन्त्रक), सौवर्णिक (सोने के उद्योग का नियन्त्रक); लोहाध्यक्ष (लोहा उद्योग का नियन्त्रक); लक्षणाध्यक्ष और मुद्राध्यक्ष (लक्षण और मुद्राओं के निःसरण और प्रचारण की देखरेख करने वाला); कुप्याध्यक्ष, गोध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यक्ष जैसे अनेकानेक बड़े और छोटे विभागीय अध्यक्ष प्रायः सभी आयपरक उद्यमों अथवा उद्योगों की देखरेख, तत्सम्बन्धी वस्तुनिर्माण तथा उनसे होने वाली राजकीय आय के संग्रह और सुरक्षा हेतु नियुक्त किये जाते थे[3]। विभिन्न वस्तुओं के निर्माण, भण्डारण, विपणन, बिक्री और मुनाफों में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक व्यापार हेतु उनके ले जाने में, जो व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक (विभिन्न व्यापारिक संस्थाओं से सम्बद्ध) भागीदारी थी उससे राज्य कर के रूप में एक लम्बी राशि वसूल करता था। वह साधारणतया **कर** अथवा **शुल्क** कहलाती थी, जिनसे सम्बद्ध अधिकारी शुल्काध्यक्ष के नाम से प्रसिद्ध था। व्यापारिक वस्तुओं पर कर अथवा शुल्क किस आधार पर वसूल किया जाना चाहिए, इसका एक सैद्धान्तिक उल्लेख आगे चलकर **मनुस्मृति**[4] में प्राप्त होता है। यह इतना पारम्परिक और बद्धमूल हो गया कि बाद में लिखी जाने वाली प्रायः सभी स्मृतियाँ और **महाभारत** उसे बार-बार दुहराते हैं। वहाँ कथित है कि राजा को वणिक्जनों की वस्तुओं के क्रयमूल्य, विक्रयमूल्य, उन्हें ले आने-जाने के खर्चो, उनके भोजनादि पर होने वाले व्ययों, सुरक्षा पर होने वाले व्ययों तथा ऐसे सभी सम्बद्ध खर्चो का आकलन करके ही करों का निर्धारण करना चाहिए[5]। संक्षेप में यह एक स्थिर व्यापारिक सिद्धान्त बन गया कि शुद्ध मुनाफे पर ही कर लगाया जाय और सभी प्रकार की लागतों को कराधान में छाँट दिया जाय।

---

(१) द्वितीय, छठाँ अध्याय और आगे।

(२) देखें, आर. शामशास्त्री, इवोलूशन् ऑफ् इण्डियन् पॉलिटी, पृ. १४८।

(३) खानों पर राजकीय एकाधिकार की पुष्टि महाभारत (शान्तिपर्व, ६६, २६) और मनुस्मृति (सप्तम, ६२; नवाँ, ३३१) से भी होती है।

(४) काँग्ले के मत में (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७८) शुल्क आयात और निर्यात (प्रवेश्य और निष्काम्य) कर मात्र नहीं था अपितु देश के भीतर उत्पन्न होने वाली चीजों पर एक आबकारी कर के रूप में भी था।

(५) क्रय विक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां दापयेत्करान्।। सप्तम, १२७ और देखें, पा.वा. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. २४-२५।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद वाले युग में व्यापार और उद्योगों पर राजकीय नियन्त्रण बहुत कम हो गया प्रतीत होता है। **मिलिन्दपञ्हो** और **दिव्यावदान** जैसे इस युग के बौद्ध ग्रन्थ एवं **मनुस्मृति, गौतमधर्मसूत्र** एवं **पारस्करगृह्यसूत्र** जैसे धर्मशास्त्र ग्रन्थ इस तथ्य की ओर निर्देश करते हैं कि क्रमशः राज्य उद्योगों अथवा व्यापारिक-औद्योगिक क्रियाओं में अपनी प्रत्यक्ष भूमिका कम करने लगा और व्यक्तिगत व्यापारिओं और व्यापारी समूहों की भूमिकाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं। अव भूमि और व्यापार दोनों ही पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व का सिद्धान्त जोर पकड़ने लगा। यह युग भारत के विदेशों से होने वाले व्यापार का स्वर्णयुग था जब कुषाणों-शकों और सातवाहनों के समय भारत के व्यापारिक सम्बन्ध, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यौरोप (विशेषतः रोम) से अपनी चोटी पर पहुँच गये। दक्षिण और पश्चिमी भारत के कई स्थानों से प्राप्त होने वाली रोमक स्वर्णमुद्राएँ, प्लिनी जैसे रोमक इतिहासकार एवं **पेरिप्लस् ऑफ दि इरीथ्रियन सी** के अज्ञातनामा मिस्री-यूनानी लेखक के तत्सम्बन्धी उल्लेखों से इस व्यक्तिगत व्यापार की एक अत्यन्त व्यापक और विकसित स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। अभिलेखों में भी व्यापार-उद्योग के क्षेत्रों में राजकीय प्रयत्नों के कोई उल्लेख नहीं मिलते। प्रत्युत गुप्तयुगीन अभिलेखों में श्रेणियों के तत्सम्बन्धी प्रयत्नों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

विविध कर

भूराजस्व एवं व्यावसायिक-औद्योगिक करों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के कर ऐसे भी थे, जिनका कोई निश्चित वर्ग नहीं बनाया जा सकता। अतः उन्हें विविध करों की सूची में सम्मिलित किया जाना चाहिए। गोचारक और पशुपालक प्रारम्भिक वैदिक संस्कृति के युग में न तो बड़े-बड़े राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ था और न कोई विकसित एवं व्यवस्थित करपद्धति ही थी। किन्तु उसी संस्कृति के अगले विकासक्रम में हमें करपद्धति के बीज दिखायी देते हैं। तथापि अभी राजकीय आय विवशतापूर्वक अथवा स्वेच्छया दी जाने वाली **बलि**, युद्धों में विजित सम्पत्ति एवं कमजोर राजाओं द्वारा प्रदत्त भेंट जैसी चीजों मात्र तक सीमित थी।[१] यद्यपि आगे चलकर बुद्धयुगीन आर्थिक पद्धति अधिक विकसित हो चुकी थी, अब भी राज्यों की सीमाएँ प्रायः जनपदात्मक मात्र थीं। मगध साम्राज्य का विकासक्रम अभी प्रारम्भ मात्र हुआ था। तथापि पालि साहित्य, विशेषतः जातकों, से यह ज्ञात होता है कि राजा को दिये जाने वाले करों के स्वरूप और संख्या अपेक्षया बहुत विकसित हो चुके थे। राजाओं को कर के रूप में प्रजा द्वारा समर्पित उपहार **पण्णकर** कहलाता था। राज्य की ओर से कर लगाये जाते थे, जिनकी वसूली के समय कभी-कभी बल प्रयोग भी होता था।[२]

किन्तु एक पूर्ण विकसित अर्थतन्त्र मगध साम्राज्य के विकास और विस्तार के

---

(१) ऋग्वेद, चतुर्थ, ५.८-९ के अनुसार राजा अपनी प्रजा और शत्रुजनों की सम्पत्ति का स्वामी था। मनुस्मृति (सप्तम, ९६) की व्यवस्था है कि रथ, घोड़ों, हाथी, छत्र, धनधान्य, पशु और स्त्रियाँ, सभी द्रव्यादि युद्ध में विजित होने पर विजयी (सिपाही-सेनापति) की होती हैं। वहीं कुल्लूकभट्ट की टीका में कथित है कि सोना, चाँदी, भूमि, अन्न आदि जो राज्यकृष्ट धन है, वह विजयी राजा का होता है।

(२) फॉसबॉल, द्वितीय, पृ. २४०; चतुर्थ, पृ. २२४; पञ्चम, पृ. ९३।

चरमोत्कर्ष के समय ही दिखायी देता है। **अर्थशास्त्र** में कथित है कि राज्य की सारी क्रियाएँ कोष से ही सम्भव हैं (कोषपूर्वा सर्वारम्भाः) और जिस राजा का कोष भरा नहीं होता वह अपनी प्रजाओं को ही ग्रसता है (अल्पकोषो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते)। इसी प्रकार शान्तिपर्व (१५वाँ, ४८) में भी सभी समारम्भ अर्थ में समायत्त कहे गये हैं। **अर्थशास्त्र**[1] के अनुसार राष्ट्र, दुर्ग, खनि (खानें), सेतु (बाग, भवन, पुल और जलव्यवस्थाएँ), वन, व्रज (पशुधन और चरागाह), वणिक्पथ (व्यापारिक मार्ग और क्रियाकलाप), शुल्क (सामान्य कर), दण्ड (अदालतों में अथवा राज्याधिकारियों द्वारा लगाये जाने वाले अर्थदण्ड) जैसे अनेक कर राजकीय आय के स्रोत थे। आगे चलकर **कामन्दक नीतिसार**[2] भी प्रायः इसी प्रकार आठ प्रकार के आय स्रोतों की चर्चा करता है। वे थे – कृषि, व्यापार-वाणिज्य बढ़ाने वाले मार्ग, राजधानी के सैन्यदुर्ग, नदियों पर बनें हुए पुल, हाथिओं को पालने के लिए जंगल, राजकीय खानें, छोटी खदानें और नयी भूमि को कृषि हेतु मानवाधिकार के भीतर लाना। **अर्थशास्त्र** में बाटमाप (पौतव), मुद्रा, सुरा, सूत्र (कपड़ा), तेल, घी, नमक, सोना, वेश्यावृत्ति, जुआ, मजदूरी, शिल्प, देवालय, नटनर्तन, नदी के पार-उतार (तर), नाव और पत्तन (बन्दरगाह अथवा घाटकर) जैसे अनेकानेक आयस्रोतों की गिनती राष्ट्र (सम्पूर्ण राज्य) विषय के अन्तर्गत **समाहर्त्ता** नामक प्रधान करसंग्राहक और उसके अधीन काम करने वाले अधिकारिओं के कर्तव्यों के उल्लेख के सिलसिले में आती है। **सीता** अर्थात् राजकीय भूमि पर कृषि अथवा उससे होने वाली अन्यान्य प्रकार की आय भी राज्यकोष की वृद्धि में सहायक थी। आगे वहाँ इनमें से प्रत्येक के उत्तरदायी अध्यक्षों की व्यापक कार्यसूचियों के उल्लेख हैं। उनका कोई संक्षिप्त समाहार भी दे सकना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः राजकीय राजस्व के इन विविध स्रोतों का एक मोटामोटी स्वरूप मात्र यहाँ उपस्थित है। मगनलाल बूच ने उनका निम्नवत् वर्गीकरण किया है –

१. कर से प्राप्त राजस्व
२. भूमि राजस्व
३. व्यापारिक राजस्व
४. पथकर अथवा आगमकर
५. बिक्रीकर (आबकारी)
६. प्रत्यक्ष सम्पत्ति कर (व्यापार वाणिज्यकर)
७. बिना कर लगाये भी प्राप्त होने वाला राजस्व (सीताभूमि आदि राजकीय सम्पत्तियों से)
८. अर्थदण्ड
६. राजकीय कारखानों और मिलों से प्राप्त लाभ, और
१०. विविध

---

(१) द्वितीय, छटाँ अध्याय।

(२) कृषिवणिक्पथो दुर्गः सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम्। (पञ्चम, ७८)
अष्टवर्गमिदं साधुस्वच्छवृत्तोविवर्धयेत्।
जीवनार्थमिहाजीव्यैः कर्तव्यः करणाधिकैः।। (वहीं, ७६)

कुछ अन्य प्रमुख आय स्रोतों का विवरण आगे उपस्थित है।

खनिज एवं अन्य प्राकृतिक स्रोत

भूमि के गर्भ में छिपी हुई और खानों द्वारा उत्पन्न सभी वस्तुओं पर राजकीय अधिकार था। लौह, रजत, स्वर्ण, लवण, पीतल, ताम्र, शीशा (त्रपु), रांगा, हरताल और कांसा जैसी धातुएँ एवं सभी बेशकीमती पत्थर और रत्न आदि राजकीय सम्पत्ति होती थीं। **अर्थशास्त्र** की ही तरह शान्तिपर्व (६६, २६) में भी खानों, नमक, शुल्क, नदी के पार-उतार और हाथियों को राजकीय आय का स्रोत कहा गया है, जिनकी व्यवस्था के लिए उन्हीं अमात्यों की नियुक्ति की अनुशंसा है जो राजा के बहुत ही विश्वस्त हों और जहाँ तक सम्भव हो, उसके निकट के पारिवारिक सम्बन्धी हों। प्रभावतीगुप्ता के पूना और रुद्रपुर ताम्रफलकों से यह[1] स्पष्ट होता है कि खनिज पदार्थों पर राज्य ने अपने एकाधिकार का कभी भी त्याग नहीं किया। द्वितीय प्रवरसेन के सिवनी और चम्मक ताम्रपत्रों (कार्पस्, जिल्द २, पृ. २४६) से भी इस स्थिति की पुष्टि होती है। **अर्थशास्त्र** से ज्ञात होता है कि कुछ खानों के चलाने का प्रबन्ध तो राज्य स्वयं करता था, किन्तु बहुतों को कुछ शर्तों पर उनसे प्राप्त होने वाली धातुओं और द्रव्यों के निष्कासन का काम व्यक्तिगत लोगों को सौंप दिया जाता था। इस प्रकार के ठेकों द्वारा राज्य को कुछ निश्चित आय प्राप्त होती रहती थी, और वह उनके संचालन की झंझटों से भी बच जाता था। खानों के संचालन और रखरखाव पर खर्च कम आये, इस उद्देश्य से ही ठेकेदारी की यह प्रथा विकसित हुई। **आकराध्यक्ष** स्वतः केवल उन्हीं खानों का राजा की ओर से संचालन करता था, जिन पर लागत कम लगती थी।[2] खानों से होने वाली आय के १८ प्रकार थे जिनके ब्यौरों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। कौटिल्य उन्हें आयमुख की संज्ञा देते हुए इनमें मूल, भाग, ब्याजि, परिघ, क्लिप्त और उपक्लिप्त की गिनती करता है।

अर्थशास्त्र[3] की व्यवस्था के अनुसार जंगलों और उनमें पाये जाने वाले हाथियों पर भी राजकीय अधिकार थे। लकड़ी और हाथियों की बिक्री से राज्य की आय बढ़ती थी। नदियों के पार-उतार पर भी कर लगते थे जिन्हें तर (तरण-पार करना) की संज्ञा दी गयी है।[4] इसी प्रकार कौटिल्य पर्वतों पर भी राज्य के अधिकार का हिमायती था। किन्तु इस अवधारणा के विपरीत **महाभारत** के अनुशासनपर्व (७९वाँ अध्याय) में कहा गया है कि जंगल, नदियाँ, पर्वत और तीर्थस्थानों पर किसी का अधिकार नहीं होता और वे 'अस्वामिक' हैं। अतः उनके प्रयोग पर कोई कर नहीं लगाया जा सकता। यह व्यवस्था अर्थशास्त्रीय सम्प्रदाय के विपरीत धर्मशास्त्रीय सम्प्रदाय की थी, जिसका पूर्ण विकास स्मृतियों और उनकी

---

(१) एपि. इण्डिका, जिल्द १५, पृ. ४२; जर्नल ऑफ् दि एशियाटिक् सोसायटी ऑफ् बेंगाल, जिल्द २० (१६२४), पृ. ५६ (नयी अवलि)।

(२) व्ययक्रियाभारिकमाकरम्। भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात्। लाघविकमात्मना कारयेत्। अर्थ., द्वितीय अधिकरण, १२वाँ अध्याय।

(३) काँग्ले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १८३।

(४) १९वाँ, ६२।

टीकाओं में दिखायी देता है। सम्भवतः इसी परम्परा में **मनुस्मृति** का कथन है[1] कि कुएँ, तालाब, प्राकृतिक जलस्रोत और सिंचाई की व्यवस्था वाली अन्य सुविधाओं पर कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता और निजीरूप में उनका निर्माण करने वाला व्यक्ति भी उन्हें यदि किसी अन्य के हाथों बेंचे तो उसे प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, प्राकृतिक सुविधाओं पर सामुदायिक स्वत्त्व की कल्पना प्रबल होती गयी।

किन्तु भूमिगर्भ से प्राप्त अस्वामिक सम्पत्ति, बहुत दिनों से रखी हुई किसी के भी द्वारा दावा न किये जाने वाली जमाराशि (उपनिधि), सभी खनिजों और नमक पर राजकीय अधिकार **अर्थशास्त्र** की रचना के बाद वाले युग में भी बना रहा। गुप्तकालीन अभिलेखों से इसके प्रभूत प्रमाण प्राप्त होते हैं।[2] **मनुस्मृति** (अष्टम. ३०) का विधान है कि कोई भी गायब हुआ धन, जिसके असली स्वामी का पता न हो, राजा द्वारा उसके स्वामी के आने और खोजने की प्रतीक्षा में रक्षणीय है। किन्तु तीन वर्षों की ऐसी प्रतीक्षा के बाद भी यदि उस धन का कोई दावेदार उपस्थित नहीं होता तो वह राजा का हो जाता है। यदि इस धन का स्वामी उपस्थित हो जाय तो उस धन की रक्षा करने के बदले राजा उसका १/६, १/१० अथवा १/१२ भाग ले लेने का अधिकारी था। ऐसा खोया हुआ धन यदि कोई सामान्य व्यक्ति प्राप्त करता तो उसके लिए यह आवश्यक था कि वह उसकी सूचना पूर्ण ब्यौरों के साथ राजा को दे।

इसी प्रकार के नियम अस्वामिक गड़ी हुई सम्पत्ति के बारे में भी लागू थे।[3] किन्तु यदि ऐसी सम्पत्ति किसी विद्वान् ब्राह्मण के हाथ लगे तो राजा सम्पूर्णतः उस धन को उसे ही दे देता था। यही नहीं, अनुशंसा तो यह भी है (**मनु.** अष्टम. ३८) कि राजा सभी प्रकार की अस्वामिक गड़ी हुई सम्पत्ति का आधा भाग ब्राह्मणों को दे। **नारदस्मृति** (सप्तम ६-७) के अनुसार भी ब्राह्मणेतर लोगों द्वारा प्राप्त भूमिगर्भ का कोई भी खजाना राजा का होता था, किन्तु ब्राह्मणों द्वारा उसके प्राप्त होने पर वह उन्हीं को सौंप दिया जाता था। किन्तु हर दशा में ऐसा खजाना प्राप्त करने वालों को इसकी सूचना राजा-राज्य को देनी आवश्यक थी।

तरणकर

अर्थशास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में कथित है कि नदियों पर राजकीय अधिकार[4] था और नावों द्वारा उनको पार करने वालों एवं सामान ले जाने-आने वालों को राज्य को तरणकर अथवा तरकर देना होता था।

भेंट और उपहार

वैदिक साहित्य में शक्तिशाली और विजयी राजाओं के सम्मुख संरक्षण और हस्तक्षेप

(१) मनु., अष्टम. ३३, ३८-३६।

(२) देखें, श.कु० मैती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ६१; इस प्रकार की सम्पत्ति राजा की होती थी, यह पुरानी परम्परा थी। देखें जातक, कॉवेल का अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम पृ. ३६८; तृतीय २६६; चतुर्थ ४८५; षष्ठ ३४६; सुत्तनिपात, प्रथम ८६।

(३) मनु., अष्टम ३५।

(४) अर्थ., द्वितीय, छठाँ अध्याय; मनु., अष्टम ४०६-४०७। किन्तु गर्भिणी स्त्रियों, प्रव्रजित मुनिओं, ब्राह्मणों और विद्यार्थिओं से इसकी वसूली नहीं होती थी।

से मुक्ति पाने के उद्देश्य से विजित अथवा पड़ोसी और कमजोर राज्यों-जातियों द्वारा समर्पण और भेंट के अनेकानेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[1] विशेष अवसरों पर राजाओं का प्रजा द्वारा भेंट अथवा उपहार समर्पित किये जाने की प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित रही। जातकों में उल्लिखित[2] **पण्णकर** (पर्णकर = पत्तों के बड़े दोनों में रखकर भेंट की गयी सामग्री) की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। **अर्थशास्त्र** में **उत्संग** का उल्लेख आता है जिसे उसके टीकाकार भट्टस्वामी ने राजा के पुत्र होने पर प्रजा द्वारा प्रदत्त उपहार बताया है। स्ट्रैबो ने भी विशेष अवसरों पर राजा को दिये जाने वाले उपहारों का उल्लेख किया है।[3] **महाभारत**[4] में इन्हें ही दक्षिणा की संज्ञा दी गयी है। किन्तु यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊपर से तो ये भेंट या उपहार स्वेच्छया प्रदत्त थे, किन्तु वास्तव में वे धीरे-धीरे एक परिपाटी बन गये और प्रजा के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर अनिवार्य से हो गये। अधीनस्थ, विजित और अर्द्धस्वतंत्र राज्यों द्वारा दी जाने वाली भेंटें अथवा माण्डलिकों द्वारा प्रदत्त उपहार भी साम्राज्यों की राजकीय आय में वृद्धि करते थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित विजित राज्यों द्वारा उसके सम्मुख उपस्थित होकर 'सर्वकरदान' सम्बन्धी उल्लेख इस प्रथा के प्रतिनिधि उदाहरण हैं।

प्रणय

आपातकाल में कोष के अत्यन्त ही छीज जाने की स्थिति में करसंग्रह के कुछ अनियमित, प्रायः अनैतिक अथवा अधार्मिक, उपायों से भी उनके भरे जाने की अनुशंसा **अर्थशास्त्र** और **महाभारत** करते हैं। अन्तर्निहित सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि सामान्य काल में तो अतिरिक्त करों की कोई आवश्यकता नहीं होती, किन्तु दीर्घकालीन युद्धजन्य जैसी स्थितियाँ कभी-कभी उत्पन्न हो सकती हैं, जब राष्ट्रीय पुनर्निर्माण नियमित और धार्मिक तरीकों से प्राप्त आय् से सम्भव नहीं होगा और राष्ट्र को पुनः आर्थिक दृष्टि से मजबूत हो जाने के लिए कुछ नये, अतिरिक्त और अविहित उपायों का सहारा लेना ही होगा। विशेष स्थिति के कारण उसे अनुचित नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के करों को **प्रणय** की संज्ञा दी गयी है। यद्यपि भूमिकरों के सन्दर्भ में भी हम इसका उल्लेख कर चुके हैं, यह स्पष्ट सा है कि इसका स्वरूप द्वैध था और विविधकरों की श्रेणी में ही उसे गिना जाना चाहिए। यह कर कौटिल्य की व्यावहारिक बुद्धि की विशेष सूझ प्रतीत होती है, क्योंकि इसका उल्लेख रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख के अतिरिक्त वाकाटक, आन्ध्र-सातवाहन अथवा गुप्तों के अभिलेखों में आगे कही भी प्राप्त नहीं होता। अतः यह निश्चित सा लगता है कि धीरे-धीरे इसकी मान्यता बिल्कुल ही समाप्त हो गयी।

यह बढ़ा हुआ कर कई रूपों में और अनेक प्रकार के माध्यमों द्वारा वसूल किया जाता था। धनीमानी लोगों से भेंट ली जाती थी और अन्यों से उनका अनुसरण कराने हेतु, राजदरबार में बुलाकर पगड़ी, छाता और छड़ी आदि से सम्मानित किया जाता था।[5] कृषकों,

(१) देखें, मगनलाल बुच, इकॉनॉमिक लाइफ् इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, द्वितीय पृ. २८।
(२) अ.ना. बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग १, पृ. १६८।
(३) पन्द्रहवाँ, १६.६।
(४) अनुशासनपर्व, ६७वाँ.२४।
(५) अर्थ., पञ्चम अधि., द्वितीय अध्याय।

व्यापारिओं और पशुपालकों[1] पर उनके द्वारा उत्पन्न अन्न, व्यापारिक वस्तुओं और पशुओं पर अलग-अलग अंशों में यह लगाया जाता था। इसमें भूमिकर १/६ के स्थान पर १/४ अथवा १/२; मुर्गों और सूअरों का आधा भाग; छोटे पशुओं का १/६ भाग; गाय, भैंस, खच्चर, ऊँट और गधों का १/१० भाग वसूल किया जाता था। किन्तु ये अतिरिक्त कर भी केवल उन्हीं लोगों पर लगाये जाते थे जो उन्हें देने में समर्थ थे, सब पर नहीं। कृषिपरक **प्रणय** प्रायः उसी भूमि की उपज से वसूल किया जाता था जो अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ थी। यहाँ यह सिद्धान्त दिखायी देता है कि ऐसे सम्पन्न करदाताओं की भविष्य में भी कर देने की शक्ति बनी रहे। इसी प्रकार स्वर्णकार जैसे धनी व्यवसाय वाले लोग इसके विशेष शिकार होते थे। सीमावर्ती, अपेक्षाकृत विपन्न, लोगों से यह नहीं वसूला जाता था।[2] व्यापारिक वस्तुओं, उत्पादों, द्रव्यों, खनिजों, बाजार में बेंचे जाने वाले पदार्थों, वन्यजात, गोरस, बागवानी से उत्पन्न पदार्थों एवं मधु आदि के निश्चित भागों को राज्य लेता था। इनकी दरें सामान्यकालीन दरों से कुछ अधिक होती थीं। राजा के कर्मचारी जब इन्हें वसूल करने जाते थे तो उनके लिए अनुशंसा थी कि वे उनके लिए याचना[3] करें और उनकी भिक्षा माँगें। किन्तु इन मीठे शब्दों के प्रयोग के बावजूद भी ये कर जबरदस्ती वसूल किये जाने वाले ही कर थे, जिनमें धनिकों को (विशेषतः उन धनिकों को जो राज्यशासन की टीका टिप्पणी करते थे), धर्मान्धों को अथवा सहज ही विश्वास कर लेने वालों को धोखेधड़ी के उपायों से भ्रमित करना और अन्यान्य छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग करना अनुचित नहीं माना गया। किन्तु ये **प्रणय** केवल एक बार ही वसूले जाते थे[4], दुबारा नहीं।

महाभारत में बाहरी आक्रमण जैसी वास्तविक आपदा के समय अथवा उसका भयमात्र दिखाकर जनता से मीठे शब्दों में एक ऐसे कर के वसूल किये जाने की अनुशंसा है जिसे आजकल की शब्दावली में युद्धकर कहा जा सकता है। तद्नुसार, राजा यह कहलाते हुए प्रजा के सम्मुख उपस्थित होता था कि "महत् भयरूपी एक आपदा उत्पन्न हुई है – उपस्थित घोर आपदा तथा भय से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा – तुम लोगों से धन ग्रहण करने की इच्छा रखता हूँ – उपस्थित भय नष्ट होने से ही तुम लोग उस धन को फिर मुझसे पाओगे, परन्तु शत्रु लोग बलपूर्वक जो धन इस राज्य से हर लेंगे, उसे कभी नहीं पावोगे" आदि, आदि। इस प्रकार 'मधुर, आदरसम्पन्न और विनीत वाणी'[5] से प्रजा के सम्मुख उपस्थित होकर ही राजपुरुष इस आपातमूलक सहायता की याचना करते थे। इसमें आगत भय के बीत जाने पर अधिक रूप में वसूल किये हुए उस कर को राज्य द्वारा पुनः लौटा दिये जाने की प्रतिज्ञा सम्मिलित होती थी तथा अनेक प्रकार के भुलावे-फुसलावे और धोखेधड़ी के उपायों का आश्रय लिया जाता था। इन उपायों में एक अजीब आधुनिकता दिखायी देती है। यद्यपि इस सन्दर्भ में **प्रणय** शब्द का कहीं उपयोग तो नहीं है, तथापि इस युद्धकर को उसी कोटि में रखा जा सकता है।

---

(१) इति कर्षकेषु प्रणयः – इति व्यापारिकेषु प्रणयः १ – इति योनिपालकेषु प्रणयः।। (अर्थ., पञ्चम अधि., द्वितीय अध्याय)

(२) प्रत्यन्तं अल्पप्राणं वा न याचेत्। वहीं।

(३) वहाँ भिक्षेत् और याचेत् जैसे शब्दों के प्रयोग हैं। वहीं।

(४) सकृदेव, न द्विप्रयोज्यः। वहीं।

(५) इतिवागमधुरयाश्लक्षणया सोपचारया।
स्वरश्मीनम्यवसृजदेवोगमाधाय कालवित्।। (शान्ति., ८७.३४)

विष्टि राजकीय बेगार था, जिसका राज्य को सर्वदा ही अधिकार था। शिल्पिओं, मजदूरों, स्वस्थ शरीर वाले लोगों, कृषकों, चरवाहों और खेतों में मजदूरी करने वाले लोगों से आवश्यकतानुसार राजकीय खेतों (सीता भूमि), सेना के प्रयाण के समय, राजा या राजकीय अधिकारिओं के पड़ाव के समय अथवा राज्य द्वारा संचालित औद्योगिक कारखानों और मिलों में यदाकदा आवश्यकतानुसार **विष्टि** (बेगारी) प्राप्त की जाती थी। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन थी और कौटिलीय **अर्थशास्त्र** के अतिरिक्त बाद के अनेकानेक अभिलेखों और साहित्यिक साक्ष्यों में इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं जो इसकी व्यापकता के द्योतक हैं। **महाभारत**[1] में तो यहाँ तक कथित है कि जो ब्राह्मण होते हुए भी श्रोत्रिय और आहिताग्नि न हों, उन सबसे धार्मिक राजा को **बलि** और **विष्टि** (बेगार) लेनी चाहिए। **मनुस्मृति** की अनुशंसा है (सप्तम. १३८) कि ''राजा महीने में एक दिन प्रत्येक शिल्पी; वस्तुनिर्माता, शूद्र और मजदूर से अपने लिए कार्य कराये।''

शुल्क – शुल्क शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक, प्रायः अनिश्चित, और अनेक प्रकार के देयों के सन्दर्भ में हुआ है। प्राचीन भारत का कोई भी युग ऐसा नहीं था जब अन्यान्य राजकीय देयों में इसकी गिनती न की गयी हो।[2] किन्तु मुख्यरूप से **शुल्क** पथकर, सीमाकर, आगमकर अथवा बिक्रीकर के अर्थों में प्रयुक्त होता था और अधिकांश अवसरों पर यह एक व्यापारिक अथवा वाणिज्यीय कर था। **अर्थशास्त्र** में इसकी वसूली के लिए उत्तरदायी अधिकारी को **शुल्काध्यक्ष** और परवर्ती अभिलेखों में **शौल्किक**[3] कहा गया है। **शुल्क** आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापारों पर लगते थे, जो सीमाओं पर, नदियों के आर-पार, सड़कों के मुख्य द्वारों पर, पत्तनों अथवा बन्दरगाहों में अथवा बाजारों में वसूल किये जाते थे। सम्भवतः इसी कारण **अमरकोश** जैसे कोशग्रन्थों में इसका अर्थ पार-उतार अथवा घाटों पर दिये जाने वाला कर (घट्टादिदेय) किया गया है।[4] **अर्थशास्त्र** के कुछ सन्दर्भों के आधार पर उ.ना. घोषाल ने **शुल्क** का अर्थ लगाया है[5] दुर्ग नगरों में व्यापारिओं पर लगाया जाने वाला कर जो पत्तन नगरों अथवा घाटों पर लगने वाले करों से भिन्न था। किन्तु स्वयं कौटिल्य भी **नावाध्यक्ष** के कर्तव्यों के सिलसिले में **शुल्क** की उगाही की गिनती करता है। **मनुस्मृति** (अष्टम.४००), **याज्ञवल्क्यस्मृति** (द्वितीय.२६२) और **नारदस्मृति** (१८वाँ.३८) में **शुल्क** को व्यापारिक वस्तुओं पर लगने वाला सीमाकर ही स्वीकार किया गया है और ब्यौरेवार रूप में व्यापारिओं को उसे चुकाने की सलाह देते हुए दोषी के दण्ड के विधान निश्चित किये गये हैं।

कुछ वाकाटक अभिलेखों[6] में **क्लिप्त** और **उपक्लिप्त** शब्दों का प्रयोग प्रत्यक्ष करों के

---

(१) अश्रोत्रिया सर्वे एवं सर्वे चानाहिताग्नयः।
तानृसर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्। शान्ति, ७६.५

(२) अथर्ववेद, तृतीय, २९.३; अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि., छठाँ अध्याय तथा १६वाँ अध्याय; वसिष्ठस्मृति, १९वाँ.३७; गौतमधर्मसूत्र, १०वाँ, २५-२६; मनुस्मृति, अष्टम, ३०७।

(३) विभिन्न सन्दर्भों के लिए देखें – श.कु. मैती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ८९ और उसकी पादटिप्पणियाँ।

(४) अमरकोश, अष्टम.२८।

(५) बिगिनिङ्गुस् ऑफ इण्डियन् हिस्टॉरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज, पृ. १७७।

(६) फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृ. २९-३०; एइ., जिल्द १५वाँ, पृ. ४२; जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल, नयी अवलि, जिल्द २०, पृ. ५३।

अर्थ में किया गया है, जिनके तात्पर्य बहुत स्पष्ट नहीं हैं। **क्लिप्त** का उल्लेख **अर्थशास्त्र** में भी हुआ है जो भूमि की उपज से सम्बद्ध प्रतीत होता है। शामशास्त्री[1] ने इसको राजकीय आय की परिधि में एक निश्चित प्रकार का कर स्वीकार किया है।[2] वाकाटक अभिलेखों में **क्लिप्त** और **उपक्लिप्त** की जहाँ भी चर्चाएँ आयी हैं वे **निधि** और **उपनिधि** के साथ हैं। निधि से तात्पर्य गड़ी हुई सम्पत्ति से है और **उपनिधि** कम अथवा अधिक मात्रा में रखी हुई जमा राशि का बोधक है। इस आधार पर श.कु. मैती ने इन्हें कोई नियमित कर न स्वीकार[3] करके भूमि पर राजकीय अधिकार को जताने वाला एक ऐसा प्रतीक माना है जिसका स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। इसके विपरीत दि.च. सरकार[4] ने इन्हें क्रय अथवा विक्रयकर के रूप में स्वीकार किया है। वा.वि. मीराशी[5] ने इन्हें **मनुस्मृति** में वर्णित अनेक करों की परिधि में आने वाला एक फुटकल अथवा अनिश्चित कर माना है।

अर्थदण्ड – विभिन्न दोषों के लिए अदालतों अथवा राज्याधिकारिओं द्वारा लगाये जाने वाले अर्थदण्ड राजकीय आय के एक प्रमुख स्रोत के रूप में सर्वदा से ही सर्वत्र स्वीकार किये गये हैं। **अर्थशास्त्र**, महाकाव्यों और स्मृतियों ने प्रत्येक क्षेत्र के विभिन्न अपराधों की एक लम्बी सूची दी है और उन पर लगाये गये अर्थदण्डों का विधान किया है। **अर्थशास्त्र** (द्वितीय, ३५वाँ अध्याय) में दण्ड एवं कर को राजकीय आय के प्रमुख स्रोतों में माना गया है। आभिलेखिक साक्ष्यों से भी अर्थदण्डों के प्रभूत प्रमाण प्राप्त होते हैं।[6]

कर निर्धारण के सिद्धान्त और नीति

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्रिओं, अर्थशास्त्रिओं, धर्मशस्त्रिओं एवं अन्यायन्य साहित्यकारों ने कर ग्रहण-अधिकार तथा विभिन्न प्रकार के करों, शुल्कों अथवा देयों की जहाँ स्पष्ट व्यवस्था दी, वहीं वे यह बताने से भी नहीं चूके कि विभिन्न प्रकार के करों को निर्धारित करने के सिद्धान्त क्या होने चाहिए। सर्वप्रमुख और सर्वप्रथम सिद्धान्त यह था कि राजा अथवा राज्य का कर-संग्रह अधिकार स्वयंभूत, एकान्तिक अथवा निरंकुश नहीं था। अपितु उसका मूल आधार राजस्व की उत्पत्ति के साथ लगा हुआ राजा और प्रजा के बीच का वह संविद अथवा समझौता था, जिसमें **मात्स्यन्याय** से पीड़ित जनसमुदाय ने प्रथम शासक मनु को अपनी रक्षा के बदले विभिन्न वस्तुओं के अलग-अलग भागों को कर रूप में देने का स्वयं वादा किया था।[7] राजा और प्रजा के बीच संविद का यह सिद्धान्त ब्राह्मणधर्मपरक ग्रन्थों में तो प्राप्त होता ही है, बौद्ध ग्रन्थों में भी उसकी चर्चाएँ आती हैं।[8] इसी कारण प्रजारक्षण

(१) अर्थ., अनुवाद, तृतीय संस्करण, पृ. ५८।
(२) उ.ना. घोषाल भी इस मत से सहमत हैं – हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. २६३।
(३) पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ६२।
(४) उद्धृत, वहीं।
(५) वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख, पृ. ५४।
(६) इन प्रमाणों की एक लम्बी सूची श.कु. मैती (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ६२) ने दी है।
(७) अर्थशास्त्र, प्रथम अधि., १३वाँ अध्याय; महा., शान्ति., ६६.२३-२६।
(८) दीघनिकाय, पाटेसो., जिल्द ३, पृ. ८२ और आगे; महावस्तु, पाटेसो., जिल्द १, पृ. ३४७-३४८; रॉकहिल, दि लाइफ ऑफ् दि बुद्ध, पृ. ७; सोशल आर्गनाइजेशन इन् नार्थ ईस्ट इण्डिया इन् बुद्धज् टाइम (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. ११४।

राजधर्म का पर्यायवाची कहा गया है।[1] इस रक्षण के बदले प्राप्त की जाने वाली भूमि की उपज के जो १/६ भाग वाली **बलि** थी उसे राजा का वेतन (बलिठष्ठेनभागेन वेतनेन धनागमम्) कहा गया। उस भाग अथवा वृत्ति से जीवित रहने के कारण राजा को षडांशवृत्तिक अथवा षड्भागभृत् की संज्ञाएँ दी गयीं। **गौतमधर्मसूत्र**[2], **मनुस्मृति**[3] और **नारदस्मृति**[4] प्रजारक्षण के बदले ही करसंग्रह के इस सिद्धान्त को स्पष्ट मान्यता देती हैं। प्राचीन साहित्य[5] में अन्यत्र भी इस सिद्धान्त के उल्लेख बार-बार आते हैं।

राज्य द्वारा कर प्राप्ति का अधिकार उसके द्वारा प्रजा की रक्षा के कर्तव्य के साथ इतना जुड़ा हुआ था कि उसे बार-बार दुहराया गया है। **मनुस्मृति** एवं **महाभारत** का कथन है कि जो राजा प्रजा से बलि तो ग्रहण करता है किन्तु चोर-डाकुओं से उसकी रक्षा नहीं करता तो प्रजा उससे विद्रोह कर देती है और वह स्वयं भी भविष्य में स्वर्ग से च्युत हो जाता है। यही नहीं, वह प्रजा के पापों का भी भागी होता है। वहाँ ऐसे अरक्षक राजा को चोर तक कहा गया है। **मार्कण्डेयपुराण** (१६वाँ.१२६) में भी **बलि** के बदले प्रजारक्षण के इस सिद्धान्त को दुहराया गया है। गौतमीपुत्र शातकर्णि, रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के सुराष्ट्र स्थित गोप्ता (गवर्नर = राज्यपाल) पर्णदत्त के लिए यह दावा किया गया है कि उसने कभी भी शास्त्र विरुद्ध करों की उगाही नहीं की।[7] **मनुस्मृति** में इस सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हुए यह व्यवस्था दी गयी है कि राजा यदि अपने कर्तव्य (प्रजारक्षण) में प्रमाद करे तो वह भी दण्ड का भागी होता है और "जहाँ साधारण मनुष्य १ पण के दण्ड का पात्र हो, वहीं राजा पर एक हजार पण का दण्ड लगना चाहिए।"[8] **महाभारत**[9] में अरक्षी राजा को उसी प्रकार त्याग देने की अनुशंसा है जैसे टूटी हुई नाव को उस पर सवार यात्री त्याग देते हैं। यहाँ तक कि कर्तव्यच्युत राजा को पागल कुत्ते की तरह मार डालने तक की वहाँ अनुशंसा है।[10] डॉ. उ. ना. घोषाल के मत में ये उल्लेख राजा को अपने-अपने कर्तव्य के प्रति प्रमाद न करने के लिए आगाह करने मात्र के लिए उद्दिष्ट थे।[11] किन्तु इन कथनों के आधारभूत बीज

---

(१) शान्तिपर्व, ५७.१ और ४।

(२) १०.२७-२८।

(३) योऽरक्षन् बलिमादत्तेकरं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्।।
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलकारकम्।। अष्टम, ३०७-३०८

(४) १८.४८।

(५) बुद्धचरित, ११.४४; सौन्दरनन्दकाव्य, ११.७; विष्णुस्मृति., ३.२; याज्ञ., १.३३५; वा.रा. तृतीय, ६.११-१४; शान्ति, ६६.२६।

(६) मनु., ८.३०८; ६.२५४; महा., शान्ति., १३६.१००।

(७) देखें, वासिष्ठीपुत्र पुलमायी का नासिक बौद्ध गुहालेख, एइ., जिल्द ८, पृ. ६० और आगे; दि.च. सरकार, सेलेक्ट इन्सकृप्शन्स्, भाग १, पृ. १९९; फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३, पृ. ५९; आठवीं पंक्ति; रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख, एइ., जिल्द ८, पृ. ४२ और आगे।

(८) अष्टम, ३३६।

(९) शान्तिपर्व, ५७.४३-४५; २४.१६-२०।

(१०) अनुशासनपर्व, ६१.३१-३३; देखें, काणे, हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र, जिल्द ३, पृ. २२६।

(११) ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् पोलिटिकल् आइडियाज़, पृ. १८७, पादटिप्पणी।

भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन युग में ही वर्णित हो चुके थे। वैदिक साहित्य से हमें ऐसे अनेक राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं जो अपनी राजगद्दी से च्युत किये जाकर राज्य से निष्कासित किये जा चुके थे तथा पुनः उन्होंने राजगद्दी की दुबारा प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये थे।[1] जातकों में भी उपर्युक्त कथनों की पुनरुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्त की तुलना आधुनिक योरोप के प्रारम्भिक युग (१६वीं से १७वीं सदी तक) के एक अंग्रेज राजशास्त्री जॉन लॉक के उस विचार से की जा सकती है जहाँ वह शासकों की शासितों के प्रति कर्तव्य और न्यासभाव के उल्लंघन की दशा में प्रजा को खुले विद्रोह के अधिकार को स्पष्ट मान्यता देता है। भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में यह मत व्यक्त किया गया है कि अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ और अन्तिम शुंग शासक के विरुद्ध उन्हीं के सेनापतियों द्वारा सैनिक विद्रोह उनके प्रजारक्षण के प्रति प्रमाद के कारण ही उत्पन्न हुए थे।[3] बाणभट्ट (कॉवेल और टॉमस का अनुवाद, पृ. १९३) बृहद्रथ के 'प्रतिज्ञादुर्बल' अर्थात् प्रजारक्षण की अपनी राज्याभिषेक की प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थ होने का उल्लेख करता है।

प्रजारक्षण के बदले ही राज्य अथवा राजा को कर पाने के अधिकार के इस सिद्धान्त को आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्रिओं ने आर्थिक संगठन के एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी है। ऐडेम स्मिथ का नाम इनमें सर्वोपरि है, जिनकी मान्यताओं को आगे चलकर स्टुअर्ट मिल और पीगू जैसे अर्थशास्त्रिओं ने और भी अधिक मुखर किया। यहाँ स्मिथ के कुछ शब्द समीचीन प्रतीत होते हैं। तदनुसार[4] "प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी-अपनी योग्यता (क्षमता) के अनुरूप राज्यशासन को चलाने हेतु करों की अदायगी करनी चाहिए अर्थात् राज्य द्वारा प्रदत्त सुरक्षा से उत्पन्न अपनी आय के अनुरूप ही वह करांश होना चाहिए।" बड़ा स्पष्ट है कि यहाँ भी राज्य द्वारा कर वसूली का आधार प्रजा को उसके द्वारा प्रदत्त सुरक्षा ही है।

कर निर्धारण के सिद्धान्तों के पीछे दो परस्पर भिन्न स्थितियों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। एक स्थिति तो वह थी जब परम्परा से निश्चित भौमिक, व्यावसायिक, व्यापारिक अथवा अन्य प्रकार की विभिन्न वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर निश्चित नियमों के अनुसार नियमित थे और सभी सामान्य कालों में वसूल किये जाते रहे। भूमि की उपज का १/६ भाग ऐसा ही पारम्परिक कर था। किन्तु किसी तात्कालिक विपत्ति के आ जाने अथवा विशेष परिस्थितियों के कारण राजकोष के क्षीण हो जाने की स्थिति में वह दूसरी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी जब राज्य को उसे भरने के लिए करसंग्रह के नये, विशेषतः आपातकालीन और छद्मपूर्ण, उपायों को अपनाना पड़ता था। इस प्रकार के करों को प्रायः प्रणयकर की परिधि में सम्मिलित किया जाता था। कौटिल्य[5] तत्सम्बन्धी सिद्धान्त का

---

(१) अथर्व., पृष्ठ १३४; वैदिक इण्डेक्स्, जिल्द २, पृ. २१३।

(२) देखें, फॉसबॉल संस्करण, तृतीय, पृ. ५१३-५१४; षष्ठ, पृष्ठ १९६ और आगे तथा जातक सं. ७३ और ५४७।

(३) देखें, न.ना. खेर, ऐग्रेरियन् एण्ड फिस्क्ल् एकॉनॉमी इन् दि मौर्यन् ऐण्ड पोस्ट मौर्यन् एज, पृ. २५०-२५१।

(४) देखें, दि वेल्थ ऑफ् नेशन्स्, जिल्द २, पञ्चम संस्करण, पृ. ३१०।

(५) सकृदेव न द्विप्रयोज्यः। अर्थ., पञ्चम अधि., दूसरा अध्याय।

प्रतिपादन करते हुए कहता है कि ये प्रणय कर केवल एक बार लगाये जा सकते थे, बार-बार नहीं। तदनुसार, ऐसे ही समय भूमिकर १/६ से बढ़ाकर १/४ कर दिया जाता था। शान्तिपर्व[1] से भी इस स्थिति की आपातिक पृष्ठभूमि और तज्जन्य करों की वसूली में अपनायी गयी छद्मपूर्ण मृदुता की जानकारी प्राप्त होती है।

करों की वसूली में साधु प्रकृति और भले स्वभाव के वर्ग वाले लोगों तथा असाधु, दुष्ट, अपुण्यात्मा और गर्हितवृत्ति अथवा बहुत आसानी से धनी हो जाने वाले वर्ग लोगों के बीच स्पष्टतः भेद किये जाते थे। द्वितीय वर्ग वाले लोगों पर ही प्रायः अनियमित और छद्मपरक उपायों से वसूल किये जाने वाले करों के भार लादे जाते थे, भले लोगों पर नहीं। **अर्थशास्त्र**[2] में विभिन्न वस्तुओं पर अलग-अलग अंशों में लगाये जाने वाले प्रणयकरों के अतिरिक्त भी छद्मपूर्ण उपायों से धनसम्पन्न वर्गों से कर वसूली के जो निर्देश दिये गये है, उन्हें **अर्थशास्त्र** के एक सम्पादक, जॉली महोदय, ने अनैतिक और अधार्मिक की संज्ञा दी है।[3] सम्बद्ध सन्दर्भो को देखने से सतही तौर पर यह आकलन सही ही प्रतीत होगा। किन्तु चूँकि वहाँ वर्णित सारे उपाय साधारण समय के लिए न होकर आपत्तिमूलक विशेष अवस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के लिए उद्दिष्ट बताये गये हैं, उनकी अनुशंसा के लिए कौटिल्य जैसे शुद्ध भौतिक और व्यावहारिक अर्थशास्त्री को दोष नहीं दिया जा सकता। वास्तव में स्वयं उसे भी सामान्य लोगों से करों की असामान्यकालीन अग्राह्यता का पूरा ध्यान था। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि वे "दूषित अर्थात् कुत्सित उपायों से धनी हुए लोगों और अधार्मिक लोगों मात्र से वसूल किये[4] जाने चाहिए", पवित्रात्मा और सदाचारी और धार्मिक लोगों से नहीं। इस प्रकार के कर निरूपण के सिद्धान्तों का समाहार करते हुए स्वयं उसकी अनुशंसा है कि जिस प्रकार माली बगीचों से 'केवल पके पके फल' तोड़ता है, कच्चे फल नहीं, उसी प्रकार राजा को अपने विनाश का भय रखते हुए ऐसे कर नहीं लगाने चाहिए जो प्रजा के मन में क्रोध उत्पन्न करते हों।[5]

करारोपण प्रजा के लिए मृदु, सह्य, आसानी से देय, क्रमिक, प्रजा की वित्त-शक्ति के अनुरूप, लोगों के मन में राजा के प्रति घृणा और क्रोधभाव न उत्पन्न करने वाला एवं राजा और राज्य के लिए स्वयंघाती न होना चाहिए, इस प्रकार के उपदेशक नीतिवाक्यों से जातक, महाकाव्यग्रन्थ, **दिव्यावदान** स्मृतियाँ, **अर्थशास्त्र**, **कामन्दकनीतिसार** और कालिदास के **रघुवंश** जैसे साहित्यिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं।[6] **महाभारत** में शान्तिपर्व के दो-तीन अध्यायों (७१वाँ, ७८वाँ और ८८वाँ) में प्रायः एक जैसे शब्दों में साधारण जीवन की घटनाओं की तुलनाओं से युक्त ऐसे २०-२५ श्लोक हैं जो यह बताते है कि कर किस प्रकार लगाये जाने

---

(१) अध्याय ८७।

(२) ५वाँ अधिकरण, दूसरा अध्याय।

(३) जॉली का (पंजाब संस्कृत सीरिज से प्रकाशित) अर्थशास्त्र का संस्करण, भूमिका।

(४) एव दूष्येष्वधार्मिकेषु च वर्तेत। नेतरेषु। ५वाँ अधि., अन्तिम श्लोक का पूर्ववर्ती अनुच्छेद।

(५) पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आत्मच्छेदभयादायं वर्जयेत्कोपकारकम्।। वही, ५वाँ अधि., अध्याय २, श्लोक १।

(६) नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्।। मनु., सप्तम, १३९।

चाहिए। कथित है कि 'अतिरवादी' अर्थात् अत्यधिक कर लगाने वाले राजा से प्रजा द्वेष करने लगती है और वह नष्ट हो जाता है, उसे श्रेय मिलना तो दूर रहा।[1] अशास्त्रसम्मत कर लगाने वाला मूर्ख राजा प्रजा को पीड़ा देते हुए स्वयं अपनी ही हिंसा करता है।[2] **मनुस्मृति**[3] के अनुसार कर ऐसे होने चाहिए जिनसे राजा और राष्ट्र दोनों का ही कल्याण हो।

इस सम्बन्ध में तीन-चार उपमाएँ बार-बार प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलती हैं। जैसे दूध के लालच में गाय का स्तन ही काट लेना उचित नहीं है, उससे दूध प्राप्त करने के लिए उसकी सेवा सुश्रूषा और भोजन व्यवस्था की भी पूरी आवश्यकता है; जैसे खिलाया हुआ बछड़ा ही बैल होकर खूब भार ढो सकने में समर्थ होता है; जैसे भ्रमर प्रत्येक पुष्प, मञ्जरी और वृक्ष से मधु अज्ञातरूप में निकालता है; जैसे माली माला बनाने के लिए पौधों-पौधों से फूल चुनता है, पेड़ों को ही काट नहीं देता अथवा बगीचे में ही आग नहीं लगा देता और जैसे ग्वाला गाय दुहते समय बछड़े के लिए दूध अवश्य ही छोड़ देता है[4], उसी प्रकार राजा को राष्ट्र का मधुदोहन ही करना चाहिए; उसी तरह जैसे दूध पीते समय बछड़ा धीरे-धीरे गाय का स्तनपान करता है, उसे काट नहीं डालता और उसी प्रकार जैसे जोंक अनजाने में शरीर में चिपककर मृदुभाव से खून खींच लेती हैं।[5] कथित है कि राजा को अतीक्ष्ण भाव से क्रमशः धीरे-धीरे, मृदुरूप में और थोड़ा-थोड़ा करके ही राष्ट्र को पीना (अर्थात् प्रजा पर कर लगाना) चाहिए। करारोपण सम्बन्धी **महाभारत** की ये सारी तुलनाएँ **मनुस्मृति** एवं उसके बाद की स्मृतियों में प्रायः उन्हीं शब्दों में प्राप्त होती है।[6] वहाँ राष्ट्र का अत्यधिक कर्षण (करारोपण) करने वाले राजा को आगाह किया गया है कि बिना सोचे-समझे मूर्खतावश ऐसा करने वाला शासक शीघ्र ही (प्रजा के क्रोध के कारण) बन्धुबान्धवों सहित नष्ट हो जाता है।[7]

इन नीतिवाक्यों अथवा अनुशंसाओं से यह स्पष्ट है कि राज्य कर निर्धारित करते समय जहाँ इस बात का ध्यान रखता था कि सभी आवश्यक राज्य खर्चों के लिए कोष हमेशा

---

(१) शान्तिपर्व, ८७.१६-२०।

(२) वहीं, ७१.१५।

(३) मनुस्मृति का कथन (सप्तम ११२) है –
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपिप्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्।। (मनु., सप्तम, १२८)

(४) वहीं, ७१.१८-१६; ८७.१८-४०।

(५) मधुदोहं दुहेद्राष्टं भ्रमराइव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनाञ्च्न विकुट्टयेत्।।
यथाशल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रसमापिवेत्।। (वहीं, ८७.४ एवं ६)

(६) मनु., सप्तम, १२६। पञ्चतन्त्र (प्रथम.२४२) में कथित है कि बकरी को काटकर जो खा जाता है उसे अधिक से अधिक एक समय का भोजन मिलता है, किन्तु जो उसे खूब खिलाता है उसे तो सर्वदा ही दूध मिलता रहता है –
अजामिव प्रजा हन्याद्यो मोहात् पृथिवीपतिः।
तस्यैकाज्ययेत् प्राप्तिर्न द्वितीया कदाचन।।

(७) मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयेत्पनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रंश्यते राज्याज्जीविताञ्च सबान्धवः।। (मनु., सप्तम १११)

भरा-पूरा रहे, वहीं उसे इस ओर भी ध्यान देने की बड़ी भारी आवश्यकता थी कि कर उसी मात्रा तक लगाये जाँय जिसमें लोग विना ग्लानि तथा राजा के प्रति विना घृणा और विराग तथा उत्पीड़न के भाव से उसे दे सकें। इस प्रकार राज्य और प्रजा, शासक और शासित, के पारस्परिक आर्थिक हितों में एक समुचित सामञ्जस्य की स्थापना ही प्रमुख लक्ष्य था। प्रमथनाथ बनर्जी के शब्दों[1] में "जिन सिद्धान्तों पर कर व्यवस्था आधृत थी, वे युक्तिसंगत और ठोस थे।" आधुनिक अर्थशास्त्रिओं के शब्दों में यदि कहा जाय तो प्राचीन काल के आर्थिक नियमों के निर्माताओं के सामने दो मार्गनिर्देशक सिद्धान्त थे – एक तो प्रजा की कर दे सकने की समुचित शक्ति और दूसरी उनके द्वारा किये जा सकने वाले त्याग का उचित आकलन। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महाभारत में कथित है कि चूँकि राजकीय कर मुख्यतः वैश्यवर्ग से ही प्राप्त होते हैं और वे ही (व्यापार-वाणिज्य और कृषि द्वारा) राजकीय कोष के मुख्य आधार हैं, राजा को उन्हें सर्वदा प्रसन्न और राजोन्मुख[2] बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तभी सम्भव था जब करनीति न्यायप्रिय, नीतियुक्त और अनुत्पीड़क हो। किन्तु इन सारी नीतियों के वावजूद भी कभी-कभी इस बात की सम्भावनाएँ रहती ही होंगी कि कर उगाहने वाले बड़े-बड़े राज्याधिकारी अथवा राजपुरुष निश्चित अथवा उचित मात्रा से अधिक कर वसूल करते हों। व्यावहारिक पक्ष के धनी कौटिल्य को ऐसी स्थिति का एहसास पूरी तरह था और उसने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि ऐसे कर्मचारिओं को, उनके ऊपर अन्य राजपुरुषों द्वारा दृष्टि रखकर, दण्डित करना चाहिए। इस प्रकार का दण्ड अधिक वसूल किये गये कर की मात्रा से दुगुना तक हो सकता था।[3]

करनिर्धारण का एक प्रमुख सिद्धान्त यह था कि पहले तो कर थोड़ी मात्रा में लगाये जाते थे और बाद में करदाताओं के अभ्यस्त हो जाने पर प्रायः स्वीकार्यरूप में क्रमशः धीरे-धीरे ही वे बढ़ाये जाते थे।[4] यह भी मान्य था कि वे विधिसम्मत ही होने चाहिए।[5] विधिसम्मत अर्थात् शास्त्रों द्वारा प्रणीत और समर्थित करों के प्रमाण कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, साहित्य ग्रन्थों और अभिलेखीय उद्धरणों से ज्ञात १/६, १/८, १/१०, १/१२ (भूमिकर = भाग अथवा बलि), १/२० से १/५० (व्यापारिक वस्तुएँ); महीने में एक दिन की विष्टि, मजदूरों, शिल्पिओं, शूद्रों और अश्रोत्रिय ब्राह्मणों अथवा अन्यान्य पशुभागों के ग्रहण सम्बन्धी सन्दर्भों में प्राप्त होते हैं।[6]

करनिर्धारण का एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त यह था कि वे उचित समय ओर उचित

---

(१) पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. १८०।

(२) शान्तिपर्व, ८७.३५-४८।

(३) अर्थशास्त्र, चतुर्थ अधिकरण, नवाँ अध्याय; महाभारत (शान्तिपर्व, ८८.२६;१३०.२६-२७) में भी इस प्रकार के दण्ड की व्यवस्था है।

(४) अल्पेनाल्पदेयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततोः भूयः ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्।। (शान्ति., ८८.७)

(५) अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, १३वाँ अध्याय; मनु., सप्तम १३०-१३२; शान्ति पर्व, ६७.२३; गीतमधर्मसूत्र, दशम.२४।

(६) न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधिः।। (शान्तिपर्व, ८८.१२)

स्थान पर लगाये जाँय। ये समय और स्थान पहले से ही तय रहते थे। उदाहरण के लिए, **बलिकर** अथवा **भाग** (भूमि की उपज का भाग) दँवरी-कटनी के बाद खलिहान[१] में वर्ष में कदाचित् दो बार (खरीफ और रबी की फसलों के अन्त में) लिया जाता था। **शुल्क** अर्थात् निर्यात और आयातकर अथवा पथकर या तो सीमावर्ती चौकियों पर या मार्गस्थित दुर्गों (धन्वन् दुर्गों) के द्वार पर या बाहर-भीतर की सीमाओं का निर्माण करने वाले नदी-सेतुओं पर अथवा बाजार मार्गों पर आगमन-निर्गमन के समय लगाये जाते थे।[२] इसी प्रकार बिक्रीकर बिक्री के समय (चाहे जहाँ भी बिक्री हो) लगाया जाता था। **मनुस्मृति** से यह स्पष्ट होता है कि **शुल्क** वसूल किये जाने के नियत स्थान (शुल्क स्थान) हुआ करते थे। जो व्यापारी चोरी छिपे इन स्थानों से बचकर बाजार में सीधे पहुँचते थे उन्हें देय **शुल्क** के आठ गुना दण्ड देना पड़ता था।[३] इन शुल्कस्थानों पर बाजार में बेंची-खरीदी जाने वाली सभी वस्तुओं (पण्य) की पूरी जानकारी रखने वाले अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जो लाभांश का बीसवाँ भाग शुल्क के रूप में वसूल करते थे।[४] **अर्थशास्त्र**[५] में अलग-अलग वस्तुओं पर अलग-अलग अंशों में शुल्क लगाने की अनुशंसा है।

औद्योगिक एवं व्यावसायिक वस्तुओं पर कर केवल उनके लाभांश मात्र पर लगाने की स्पष्ट व्यवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। **मनुस्मृति** का कथन[६] है कि क्रयमूल्य, विक्रयमूल्य, राह के खर्चों, वणिक्जनों के स्वयं भोजनादि के खर्चों तथा **योगक्षेम** का पूरा आकलन करके ही करों के निरूपण होने चाहिए। अन्यत्र[७] वहीं कथित है कि खरीद और बेंची में (शुद्ध लाभ का आकलन करने हेतु विक्रयमूल्यों को निश्चित करते समय वस्तुओं के आगम और निर्गम स्थान तथा उनमें होने वाले क्षय (सूखने) और वृद्धि (नमी से बढ़ जाने) को अवश्य ही देखना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि लाभांशमात्र पर कर लगाने के सिद्धान्त को सर्वग्राही मान्यता प्राप्त थी। आगे चलकर **शुक्रनीति** में लाभमात्र पर कर लगाये जाने के सिद्धान्त को और भी स्पष्ट मान्यता दी गयी।[८] पुनः यह भी निश्चित था कि कर अथवा शुल्क केवल एक बार लगाया जाय, दुबारा नहीं।[९]

---

(१) इ.एच्. जान्स्टन्, जराएसो., १९२६, पृ. ६६-६७।

(२) शुल्कदेशाहट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः। शुक्रनीति, चतुर्थ, २१८।

(३) शुल्कस्थानं परिहरन्नकालेक्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी व संख्याने दाप्येऽष्टगुणमत्ययम्।। (मनु., अष्टम, ४००)

(४) शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्धयथापण्यं ततो विशं नृपो हरेत्।। (वहीं, अष्टम. ३९८)
महाभारत (शान्ति., ६९वाँ, २९) भी इन अधिकारियों की नियुक्ति की अनंशसा करता है।

(५) षोडशभाग्येमानव्याजी; विंशतिभागंतुलामानम्; गण्य पण्यानां एकादश : भाग। १ अधि., २, १६वाँ अध्याय।

(६) क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिगादापयेत्करान्।। (मनु., सप्तम.१२७)

(७) आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ।। (वहीं, अष्टम.४०१)

(८) न हीनममूल्यादि शुल्कं विक्रेतितो हरेत्।
लाभं द्रष्ट्वा हरेत्शुल्कं कृतेताश्व सदा नृपः।। (चतुर्थ, २.१६)

(९) वस्तुजातस्य एकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः।। शुक्र., चतुर्थ., २.१११।

करमुक्ति

करनिर्धारण में करमुक्ति की नीति भी अन्तर्निहित थी। करमुक्ति आंशिक, अल्पकालिक अथवा स्थायी हो सकती थी। कठिन और श्रमसाध्य भूमि पर खेती करने वाले की कठिनाइयों का कौटिल्य को ध्यान था और वह ऐसे खेतिहरों को आंशिक करमुक्ति देने की अनुशंसा करता है।[१] सिंचाई के निजी साधनों का निर्माण करके कृषि करने वालों को वह कुछ दिनों तक की करमुक्ति देने का हिमायती था – यथा नया तालाब अथवा सेतुबन्ध बनाकर कृषि करने वालों को ५ वर्षों तक की करमुक्ति (परिहार); जीर्ण-शीर्ण तालाबों का उद्धार करने वालों को चार वर्षों तक की तथा जंगल-झाड़ काटकर खेती प्रारम्भ करने वालों को तीन वर्षों तक के परिहार **अर्थशास्त्र**[२] में कथित है। यदि कभी खेती झुक जाय तो उस समय राज्य की ओर से करों में छूट दी जाती थी।[३] अशोक के सम्मिनदेई स्तम्भलेख एवं खारवेल के हाथिगुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि इस प्रकार की छूटें राज्य द्वारा विशेष कृपाएँ मानी जाती थीं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि कृषि में भी कर लगाते समय लागत, मेहनत, मजदूरी और प्राकृतिक कठिनाइयों का ध्यान रखा जाता था और आपेक्षिक लाभ पर ही कर लगते थे।

समाज के कुछ विशेष वर्गों को कुछ करों से बिल्कुल ही मुक्ति प्राप्त थी। इनके पीछे धार्मिक और सांस्कृतिक और कदाचित् राजनीतिक कारण थे। ये वर्ग थे – श्रोत्रिओं, ऋत्विजों, पुरोहितों, प्रव्रजित संन्यासिओं, स्त्रियों, विद्यार्थिओं और धर्मसंस्थानों के। इन्हें कर से मुक्त रखने का अनुशासन वह कौटिल्य भी देता है[४] जो उञ्छ्रजीवी साधु-संन्यासिओं से भी राजा का १/६ भाग लेने का हिमायती था। उपर्युक्त वर्गों की करमुक्ति उन्हें **ब्रह्मदेय**[५] भूमि दिये जाने के कारण थी, जो सभी शुल्कों से मुक्त होती थी। कौटिल्य स्पष्टरूप से करद और अकरद नामक दो प्रकार की भूमियों का उल्लेख करता है। आगे चलकर सातवाहन युग के बाद के प्रायः सभी अभिलेखों में राजदत्त **ब्रह्मदेय** ग्राम अथवा भूमिक्षेत्र सभी प्रकार के देयों (परिहारों) से राज्य द्वारा मुक्त किये जाने लगे। **मनुस्मृति**[६] का तो कथन है कि राजा यदि (कोषाभाव के कारण) मरणायमान भी हो तो भी उसे श्रोत्रिय से कर नहीं वसूल करना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि उसके राज्य में कोई श्रोत्रिय क्षुधा से पीड़ित न रहे।

अन्धों, जड़ों (जन्मना मस्तिष्कहीन), बधिरों, पंगु लोगों तथा ऐसे अन्य सभी विकलांगों, स्थविरों, श्रोत्रियों और जो किसी प्रकार की जीविका न रखते हों – ऐसे लोगों

---

(१) अर्थशास्त्र, पञ्चम अधिकरण, दूसरा अध्याय।

(२) तृतीय अधिकरण, नवाँ अध्याय।

(३) अर्थ., द्वितीय, प्रथम अध्याय; महा., सभापर्व, ६१.२५।

(४) अरण्यजातं श्रोत्रियंच परिहरेत्। पञ्चम अधि., २रा अध्याय।

(५) अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि., अध्याय १, ७ तथा तृतीय अधि., अध्याय १०.६; देखें, कांग्ले पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७१।

(६) म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छोत्रियो विषये वसन्।। सप्तम. १३३।

से कर नहीं वसूल किये जाते थे।[1] नदियों के पार उतार में दो मास से अधिक की गर्भिणी स्त्रियाँ, प्रव्रजित मुनि, (वानप्रस्थी), ब्राह्मण और ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) भी करमुक्त श्रेणी में आते थे।[2] इन अनुशंसाओं से स्पष्ट है कि समाजसेवी, समाज में कमजोर, शरीर से अक्षम और उद्यमहीन लोगों को सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्तव्य था। अध्यापकों और विद्यार्थिओं एवं विकलांगों को मिलने वाली आजकल की अनेक सुविधाओं से इन विमुक्तियों की तुलना की जा सकती है।

श्रोत्रियों की करमुक्ति, उन्हें दिये जाने वाले सभी परिहारमुक्त **ब्रह्मदेय** ग्रामों एवं तज्जन्य आर्थिक सुविधाओं, प्रणयकरों से उनकी मुक्ति, जमीन के भीतर से उनके द्वारा पाये जाने वाले खजानों से राज्य द्वारा कोई भी अंश न लिया जाना और धार्मिक संस्थानों को दिये जाने वाले सभी प्रकार के करमुक्त दान आदि की अनुशंसाओं तथा वास्तविक जीवन में उनके पालन को कुछ विद्वानों ने पूर्णतः अनुचित और स्वस्थ आर्थिक सिद्धान्तों के बिल्कुल ही विपरीत माना है। इस प्रकार का एक प्रतिनिधि मत अतीन्द्रनाथ बोस का है,[3] जिन्होंने **अर्थशास्त्र**, सभी धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों, जातकों, **सुत्तनिपात**, मेगास्थनीज के कथनों, अशोक मौर्य, खारवेल, सातवाहनों, वाकाटकों और परवर्ती शासकों के अभिलेखों का हवाला देते हुए श्रोत्रिय वर्ग की आर्थिक विमुक्तियों का एक विशद स्वरूप उपस्थित किया है। वे कहते है – "वास्तविक उत्पत्ति के १/६ पर कर के रूप में अधिकार रखने वाले राज्य के सामने खाली हुए राजकोष और उसे भरने की घबराहट क्यों उत्पन्न हो जाती थी? यह इस कारण था कि भारतीय कर व्यवस्था के बृहत्स्वरूप में एक बड़ी भारी दरार थी, जिससे राज्य को उचित रूप से प्राप्य कर का एक बहुत बड़ा भाग छनकर बाहर निकल जाता था।" यहीं नहीं, "ब्राह्मण तो सभी प्रकार के करों से मुक्त था ही, राजा को उसकी सम्पत्ति ले लेने का उस समय भी अधिकार नहीं था जब उसका कोई उत्तराधिकारी भी न हो (**आपस्तम्ब**, द्वितीय, १०.२६.१; **विष्णुस्मृति**, तृतीय, ८१.८४; अर्थ., द्वितीय अधिकरण और आगे; **अग्निपुराण**, २२३.१४; **महाभारत**, शान्तिपर्व, ३८३.१८)। इन्हीं ग्रन्थों[4] की यह भी सामान्य व्यवस्था है कि यदि किसी ब्राह्मण के हाथ कोई गड़ा हुआ खजाना लग जाय तो उसे पूरी तरह रख लेने का वह अधिकारी है, किन्तु यदि उसी तरह का अवसर किसी अब्राह्मण के हाथ लग जाय तो उस खजाने को उसे राजा को सौंप देना ही होगा; यह क्यों?" – "यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि उपरोक्त सुविधाएँ सभी ब्राह्मणों को नहीं, अपितु श्रोत्रिय मात्र को प्राप्त थीं, उन्हें जो वेद पढ़ते थे और यज्ञों का सम्पादन करते थे और इस प्रकार समाज की सेवा में उपयोगी थे।" – किन्तु "पालि साहित्य, विशेषतः जातकों से स्पष्ट है कि **ब्रह्मदेय** भूमि प्राप्त करने वाले सभी ब्राह्मण श्रोत्रिय नहीं थे और ऐसा भी नहीं था

---

(१) अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेसुपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम्।। मनु., अष्टम, ३९४।

(२) गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरं।। वहीं, अष्टम, ४०७।

(३) पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १७७-१७९।

(४) वहीं।

कि वे सर्वदा अध्यात्मनिरत ही हों। यदि यह मान भी लिया जाय कि सम्पत्ति और दान केवल वास्तविक रूप से धार्मिक लोगों और संस्थानों की ओर ही बहाये जाते थे तो भी इतिहास में इस बात के प्रभूत प्रमाण हैं कि सतत् रूप में इस प्रकार के दान पवित्र से पवित्र ग्रहीताओं को भी भ्रष्ट (कर्तव्यच्युत) कर देते थे। जो भी हो, राज्य की गरीबी तो बढ़ती ही जाती थी और उसे मेहनतकश लोगों की जेब टटोलने हेतु विवश होना पड़ता था।"

दूसरी ओर रामचन्द्र दीक्षितार ने श्रोत्रियों की करमुक्ति सम्बन्धी सुविधाओं को पूरी तरह उचित और ठीक ठहराया है। उनकी दृष्टि में सभी ब्राह्मण श्रोत्रिय थे। हो सकता है कि दक्षिण भारत के सम्बन्ध में यही वास्तविक स्थिति रही हो। **मनुस्मृति** और तोल्काप्पियम् की कृति **पुरत्तियन** के तमिल टीकाकार नच्चिनारकिन्नियर के हवालों से श्रोत्रिय ब्राह्मण के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए वे कहते हैं : "अतः दान इन दो प्रकार के कर्तव्यों के पालन के साधन हैं – शिक्षा और धर्म, जिन पर समाज की प्रगति निर्भर करती है। समाज के प्रति उनकी (ब्राह्मणों की बहुमूल्य सेवाओं का ध्यान करके ही शासक एवं साधारण लोग श्रोत्रियों को धन और भूमि के प्रभूत (करमुक्त) दानों से अलंकृत करते थे। वे ठीक वैसे ही थे जैसी आजकल की आर्थिक और वैसी ही अन्य सहायताएँ हैं, जो शिक्षा जैसे विषयों के विकास हेतु दी जाती हैं और जिन पर उनके प्राप्तकर्ताओं को कोई आयकर नहीं देना होता।"[1]

परस्पर भिन्न इन दोनों तर्कों के दो अतिवादी छोरों के बीच डॉ. अ.स. अल्तेकर के तर्क हैं जो, अधिक सुविचारित, समीचीन तथा ऐतिहासिक तथ्यों की मजबूत भित्ति पर आधृत प्रतीत होते हैं। किन्तु डॉ. अल्तेकर के निष्कर्षों को देखने के पूर्व यहाँ कुछ अन्य तथ्य भी विचारणीय हैं। प्रथमतः तो यह कि कौटिल्य अथवा मनु केवल श्रोत्रिय ब्राह्मणों मात्र की कर से मुक्ति की अनुशंसा करते हैं – सभी ब्राह्मणों की नहीं। यह अवश्य सही है कि **विष्णुस्मृति** (तृतीय. २५-२६) जैसी कुछ स्मृतियाँ सभी ब्राह्मणों को करमुक्ति की सुविधा दिलाने की पक्षपाती हैं, किन्तु उनका समर्थन प्रमुख अथवा अपेक्षाकृत अधिक मान्य स्मृतियों से नहीं होता। वास्तव में **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** उन अनेक प्रकार के लोगों की एक सूची ही देता है जो राजकीय करों से मुक्त थे। इनमें श्रोत्रिय, सभी वर्णों की स्त्रियाँ, विद्यार्थी जीवन में राजकुमार, अन्तेवासी विद्यार्थी, धर्मलीन तपस्वी, सेवा करने वाले शूद्र, अन्धे, बधिर, मूक और रोगों से रुग्ण व्यक्ति[2] सम्मिलित थे। बड़ा स्पष्ट है, यहाँ उन सभी लोगों को करमुक्ति अनुशंसित है जिनके पास किसी प्रकार का व्यवसाय अथवा आजीविका नहीं थी, जिनकी कोई आय नहीं थी और जो शरीर से अक्षम थे। इनमें कहीं भी वर्ण और जन्म के कारण कोई भेद नहीं किया गया है। अतः श्रोत्रियों को दी जाने वाली करमुक्ति की पृष्ठभूमि में उनके अध्ययन-अध्यापन एवं यजन-याजनपरक कर्म थे जिनके लिए वे कोई न तो फीस लेते थे और न उनकी तनख्वाहें बँधी थीं। यह अनुचित नहीं था कि शिक्षा की वितरण जैसी समाजसेवा में लगे इन विद्वान् और आचरणयुक्त लोगों की करमुक्त ब्रह्मदेय ग्रामों के दान

---

(१) हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स्, पृ. १८९-१९०।

(२) अकरः श्रोत्रिय। सर्ववर्णानां स्त्रियः। कुमाराश्च प्राग्जनैभ्यः। ये च विद्यार्थिनो वसंति। तपस्विनश्च ये धर्मपराः। शूद्राश्च पादावनताः। अंधबधिरमूकरोगाविष्टाश्च। (द्वितीय १०.२६.१-१७)

द्वारा अथवा अन्य करमुक्तियों द्वारा रक्षा और भरण-पोषण करना राज्य अपना उचित कर्तव्य समझता हो।

महाभारत में श्रोत्रिय एवं आहिताग्नि ब्राह्मणों के विपरीत ऐसे ब्राह्मणों की चर्चा है जो केवल जन्मना ब्राह्मण थे, कर्मणा नहीं। ऐसे ब्राह्मणों को वहाँ ब्राह्मणबन्धु कहा गया है और इंगित है कि वे क्षत्रिय अथवा वैश्यों के आयपरक धन्धों में निरत होते थे।[1] ऐसे ब्राह्मणबन्धुओं से खलिकर, प्रणयकर अथवा अनेक प्रकार के कर राजा को वसूल करना चाहिए, ऐसी स्पष्ट अनुशंसा वहाँ प्राप्त होती है।[2] अतः स्पष्ट है कि सभी ब्राह्मणपरक साहित्य भी सभी ब्राह्मणों को राजकीय करों से मुक्ति का अधिकार नहीं देता। डॉ. अ.स. अल्तेकर ने ऐसे अनेक सन्दर्भों को उपस्थित किया है।[3] अतः यह असम्भव नहीं है कि अधिकांश राज्यों में करमुक्ति केवल श्रोत्रिय ब्राह्मणों तक सीमित रही हो। इनसे ज्ञात होता है कि वास्तविक जीवन में ब्राह्मणों पर भी अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। यद्यपि वे उदाहरण अधिकांशतः दक्षिण भारत के हैं और पूर्वमध्ययुगीन हैं, वे एक प्राचीनकाल से चली आती हुई परम्परा के द्योतक ही प्रतीत होते हैं। उदाहरण हेतु, बिन्दुगर नामक अग्रहार ग्राम के स्वामी को १०० निष्कों का और केशवपुर नामक अग्रहार ग्राम के स्वामी को ३०० निष्कों का कर चुकाना पड़ता था।[4] स्पष्ट है, इन ग्रामों के प्राप्तकर्ता ब्राह्मणों की आय भरपूर थी और राज्य की दृष्टि में उनकी करमुक्ति उचित अथवा आवश्यक नहीं थी। किन्तु जिन अग्रहारों की आय सीमित थी, उन्हें कर मुक्ति प्राप्त होती थी।[5] दक्षिण भारत से पूर्वमध्ययुगीन कुछ ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि राजकीय कर न चुका सकने की स्थिति में ब्राह्मणों की भूमि भी नीलाम कर दी जाती थी।[6] एक अन्य उदाहरण ऐसा है जिसमें कर की बकाया राशि पर राज्य उन्हें वसूल करते समय अग्रहार ग्राम के स्वामिओं से भी सूद वसूल करता था।[7] अतः डॉ. अल्तेकर का कथन है कि "हमारे पास उत्तर भारत के सम्बन्ध में ऐसे तथ्यों को दर्शाने वाले आलेख्य नहीं है, किन्तु हमारा यह कथन गलत नहीं होगां कि कभी-कभी ही समस्त ब्राह्मण जाति करों से मुक्ति का लाभ पाती थी। साधारण नियम यह था कि ब्राह्मणों को भी राजकीय कर देने पड़ते थे। केवल वे ही ब्राह्मण मुक्त थे जो निर्धन और विद्वान् थे तथा जिन्हें कोई राजकीय संरक्षण नहीं प्राप्त था।"[8]

---

(१) शान्तिपर्व, ७६.४-५।

(२) अश्रोतिया सर्वे एते सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सदर्वानुधार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेस्।। वहीं, ७६.७।

(३) पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. २६७-२६६।

(४) एपिग्राफिया कर्नाटिका, पञ्चम, सं. १७३ और १७६।

(५) अ.स. अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, तृतीय संस्करण पृ. २६८-२६६।

(६) वहीं, पृ. २६६।

(७) वहीं।

(८) वहीं।

व्ययशरीर

अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण के छठें अध्याय में आयशरीर और व्ययशरीर नाम से विभिन्न स्रोतों से होने वाली राजकीय आय और विभिन्न मदों पर किये जाने वाले व्ययों को क्रमशः अलग-अलग गिनाया गया है जो आय और व्यय की अन्यान्य मदों का एक मोटा-मोटी परिचय उपस्थित करता है। किन्तु न तो भविष्य की आय को पहले से निश्चित कर पाना उस समय सम्भव था और न व्यय के सभी मदों में खर्च किये जाने वाले धन की मात्रा को ठीक-ठीक निश्चित कर सकना सम्भव था। अतः इस ब्यौरे को आजकल की शब्दावली में बजट अथवा आय-व्ययक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। बजट का स्वरूप रखने वाले, ब्यौरेवार, और विभिन्न मदों में निश्चित खर्चों का कुछ प्रारूप **शुक्रनीति** से अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु इधर ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं कि क्या शुक्रनीति बहुत पुराना ग्रन्थ है? यदि यह भी स्वीकृत हो जाय कि अपने मूल स्वरूप में यह प्राचीन हो सकता है, तब भी इसके बजट सम्बन्धी विवरण इतने नवीन प्रकार के से लगते हैं कि प्राचीन भारतीय सन्दर्भों में उनकी ग्राह्यता सहज ही स्वीकार्य नहीं दिखायी देती।

ऐसी दशा में यह स्वीकार्य नहीं है कि प्राचीन भारत में आजकल की तरह विधिवत् बजट तैयार किये जाते रहे। तथापि **अर्थशास्त्र** के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि आधुनिक बजट अथवा आयव्ययक के पीछे जो मूलभूत सिद्धान्त होते हैं, उनकी जानकारी उस समय भी थी। कौटिल्य आयशरीर, व्ययशरीर, राजवर्ष (आर्थिक वर्ष) अथवा काल, करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय और नीवी जैसे आर्थिक क्षेत्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हुए उनकी आधुनिक जैसी व्याख्याएँ उपस्थित करता है और आगे उनके छोटे-छोटे भेद भी बताता है। पुनः नित्यप्रति के वेतनादि में जो राजकीय खर्च होते हैं तथा उनके अतिरिक्त भी वैसे ही जो अन्य प्रकार के व्यय आते हैं, उन्हें वह अनुत्पादक व्यय की संज्ञा देता है। जिन व्ययों से भविष्य में कोई आमदनी होने वाली हो, उन्हें उत्पादक व्यय कहता है।[1] इन व्ययों का सभी आयमुखों को देखते हुए, विधिवत् एक हिसाब-किताब रखना तथा उन्हें तैयार करना **समाहर्त्ता** का कार्य था।

अनुत्पादक व्ययों में नौकरशाही पर खर्च होने वाली वह सारी सूची सम्मिलित थी, जो **अर्थशास्त्र** के पञ्चम अधिकरण के तृतीय अध्याय में दी गयी है। कौटिल्य वहाँ ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री और पुरोहित सहित सभी विभागाध्यक्षों, नौकर-चाकरों, राजधानी के अतिरिक्त प्रान्तों, जिलों तथा स्थानीय अधिकारिओं एवं राजकार्यों में लगे हुए अन्यान्य प्रायः सभी कर्मचारिओं को दी जाने वाली वार्षिक वेतन-राशियों को पणों की गिनती में बताता है। वहाँ उन्हें प्रायः सम्पूर्ण रूप में नित्यनैमित्तिक अनुत्पादक व्यय कहा गया है। नौकरशाही को दिये जाने वाले वेतन का यह विवरण बड़ा व्यापक दिखायी देता है।

किन्तु नागरिक व्यय की इस सूची को व्यय का पूर्ण शरीर अर्थात् व्यय की सारी मदों का पूर्ण ब्यौरा नहीं कहा जा सकता। इसमें राजकीय उद्योगों, व्यापार और **सीताभूमि** पर की

---

(१) नित्यो नित्योत्पादिको लाभः लाभोत्पादिक इति व्ययः। अर्थ., द्वितीय अधि., सप्तम अध्याय।

जाने वाले कृषि के व्ययों जैसे अनेक खर्चों का कोई उल्लेख नहीं है। यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कौटिल्य एक साम्राज्य की नौकरशाही को ही दृष्टि में रखकर कर्मचारिओं को नकद रूप में प्राप्त होने वाली सालाना तनख्वाहों का उल्लेख करता है। सभी राजकर्मचारिओं को सभी साम्राज्यों अथवा राज्यों में वेतन नकद रूप में ही दिया जाता था, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारत में प्रायः नौकरशाही को वेतन कृषियोग्य कुछ भूमि देकर, या कुछ भूमि से प्राप्त करों को वसूल करने का अधिकार देकर, भी चुकाया जाता था। अतः सभी राज्यों में सभी अनुत्पादक अथवा उत्पादक व्ययों का पहले से कोई निश्चित हिसाब अथवा आकलन रखा जाता था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उत्पादक खर्चों में कृषि की उन्नति के लिए प्रदत्त सिंचाई की सुविधाएँ, खानों से निकाली जाने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति जैसी औद्योगिक क्रियाएँ तथा अन्यान्य प्रकार की व्यावसायिक वृत्तियों में जो धन राज्य लगाता था, उनसे उसे शुद्ध लाभ प्राप्त होते थे। इन सबकी गिनती उत्पादक व्ययों में की जाती थी। राजकीय आय के व्यय विनियोग में इन उत्पादक मदों पर होने वाले व्ययों को वरीयता दी जाती थी ताकि राज्य के आयस्रोत सूखें नहीं। कौटिल्य सिंचाई जैसे उत्पादक व्ययों के पूर्वाकलन की अनुशंसा करते हुए कहता है कि वैसा न करने से राज्य की ही हानि होती है।[१]

राजकीय आय-व्यय के सिद्धान्त का समाहार करते हुए कौटिल्य समाहर्त्ता के लिए अनुशंसा करता है कि वह राजकीय आय के समुदय अर्थात् प्राप्ति सहित उसकी वृद्धि (भरपूर कोष) को दिखावे। साथ ही उसका प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि व्ययों में आय के मुकाबले कमी बनी रहे।[२] बजट तैयार करने का सबसे बढ़िया आधुनिक सिद्धान्त यह माना जाता है कि वह बचत का बजट हो न कि घाटे का। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त से कौटिल्य पूरी तरह अवगत था। **वाल्मीकि रामायण** के अयोध्याकाण्ड स्थित कच्चित्सर्ग (१००वाँ) में भी राम भरत से प्रश्न करते हुए पूछते हैं कि "क्या तुम्हारी आय विपुल है और व्यय उसकी तुलना में कम है।[३] हे राघव क्या तुम्हारा कोश अनावश्यक कार्यों में तो नहीं खर्च होता।" आजकल की तरह उस समय भी एक संचित कोश (रिजर्व फण्ड) सर्वदा बनाये रखने की परम्परा थी। पूर्वमध्यकालीन मुसलमानी इतिहासकारों के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि जब हिन्दू राजा मरते थे तो वे अपने उत्तराधिकारिओं के लिए राजकोश में प्रभूत धन छोड़ जाया करते थे। प्रायः इन संचित भण्डारों के लिए ही तुर्क आक्रान्ता इन पर आक्रमण किया करते थे। अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर को दक्षिण-भारतीय हिन्दू राज्यों पर आक्रमणों और विजयों से प्राप्त प्रभूत राशियाँ इसके उदाहरण हैं।

आकस्मिक आपत्तियों (सूखा, बाढ़, महामारी, टिड्डी दल के आक्रमण, युद्ध अथवा

---

(१) सामुदायिकेष्वक्लिप्तिकं व्ययमुखस्य राजाऽनुतप्येत्। वहीं, द्वितीय अधि., सप्तम अध्याय।

(२) एवं कुर्यात्समुदयं वृद्धिं चास्य दर्शयेत्।
ह्रासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेच्च विपर्ययम्।। अर्थ., द्वितीय, ६.१।

(३) आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः।
अपात्रेषु न ते कंच्चित्कोशो गच्छति राघव।। अयोध्याकाण्ड, १००.५४।

राज्य द्वारा हाथ में ली गयी बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने) से निपटने के लिए भी धनराशियाँ बचाकर रखी जाती थीं। रुद्रदामन् ने सुदर्शन झील की मरम्मत का काम विना कोई नया कर लगाये ऐसी ही बची हुई राज्यराशि से पूरा किया था, जिसका श्रेय वह अपने लिए जूनागढ़ अभिलेख में लेता है। **अर्थशास्त्र**[1] में ऐसे बचाये हुए धन को व्ययप्रत्यय कहा गया है।

यह सब कुछ तभी सम्भव था जब राजकोश को अनावश्यक रूप से, बिना विचारे अनावश्यक योजनाओं पर अथवा आमोद-प्रमोद, दान और उत्सवों में न खर्च किया जाय। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब राज्य के प्रति भलीभाँति अपना उत्तरदायित्त्व न समझने पर मन्त्रिगण राजकोश से बिना सोचे विचारे खर्च करने वाले राजाओं का हाथ रोक देते थे। पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि एक बार कोसलराज जब अतुलनीय दान (असदिसदान) करना चाहा था तो उसके काल नामक मंत्री ने उसे वैसा करने से रोकना चाहा और उसका पद उसके हाथ से जाता रहा।[2] ठीक उसी प्रकार प्रभूत दान करने वाले अशोक को भी उसके मन्त्रियों ने रोक दिया।[3] **याज्ञवल्क्यस्मृति** की अनुशंसा है कि राजा को धर्मपूर्वक अर्थात् शास्त्रानुसार ही अलब्ध की इच्छा करनी चाहिए (कर लगाना चाहिए); यत्नपूर्वक अपनी आय की रक्षा करनी चाहिए, अपने संरक्षित धन की नीतिपूर्वक वृद्धि करनी चाहिए और उचित कार्यों और पात्रों में ही अपना धन व्यय करना चाहिए।[4]

---

(१) रामचन्द्र दीक्षितार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १६३।

(२) मलालशेखर, डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स्, जिल्द २, सन्दर्भ 'काल'। और देखें, विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री ऑफ् कोशल, पृष्ठ २२।

(३) दिव्यावदान, सम्पादित, पी.एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, पृष्ठ २८६।

(४) अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत्।
पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।। याज्ञ., प्रथम. ३१७।

नवाँ अध्याय

व्यापार और वाणिज्य

बाह्य व्यापारपथ

पश्चिम और पश्चिमोत्तर के पथ

सिन्धु घाटी की खुदाइयों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह प्रायः निश्चित है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में सिन्ध और पश्चिम एशिया के देशों के बीच गहरे आर्थिक सम्बन्ध थे। मोहेनजोदाड़ों में एक बन्दरगाह था, जहाँ से समुद्र के रास्ते ऊर और किश और आगे संभवतः मिस्र तक अनेक वस्तुओं के आदान-प्रदान होते थे। स्थल मार्गों से मध्य एशिया के क्षेत्र भी सिन्धु घाटी के नगरों से जुड़े हुए थे।[1] आगे की शताब्दियों में इन व्यापारिक सम्बन्धों की कोई स्पष्ट और अकाट्य जानकारी नहीं है। किन्तु केनेडी[2] जैसे व्यापारिक इतिहास के लेखकों का मानना है कि भारतवर्ष के पश्चिमी व्यापार का स्पष्ट इतिहास सातवीं शती ईसा पूर्व के बाद से ही ज्ञात होता है। हिब्रू ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि सॉलोमन (८०० ई. पू.) के शासनकाल में टायर के शासक हिरम द्वारा सुसज्जित एक जहाज पूर्व की ओर गया और लौटते समय सोना, चाँदी, हाथीदाँत, बन्दरों, मोरों और अनेक प्रकार के वल्गु (चन्दन) के पौधों तथा अनेक प्रकार के रत्नों के साथ लौटा।" इस जहाज ने जहाँ से इन मालों को भरा उसका नाम ओफीर (आभीर या सुप्पारक अथवा सौवीर) था। वावेरुजातक[3] से यह ज्ञात होता है कि भारतीय नाविक और व्यापारिक वावेरु (बेबीलोनिया) = वाबुल तक पानी के जहाजों में जाते थे और मार्ग में दिशाओं और आगे के देशों को ज्ञात करने हेतु उनका ज्ञान कराने वाले पक्षियों (कौवों) को अपने साथ रखते थे। किन्तु इस जातक की रचना-तिथि का सही-सही निर्धारण न होने से यह कहना कठिन है कि ऐसी समुद्रयात्राओं का समय क्या था। मुघेर (काल्डिया में ऊर) के चन्द्र मन्दिर (छवीं शती ईसा पूर्व) और नेबुकडनजार के महल में चन्दन की लकड़ी के प्रयोग प्राप्त होते हैं। इस आधार पर इन व्यापारिक सम्बन्धों का काल कम से कम नवीं शताब्दी ईसा पूर्व तो स्वीकार किया ही जा सकता है। १४वीं शताब्दी ई.पू. के बोगजकोई अभिलेख में भारतीय देवताओं (मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ) के जो उल्लेख हैं, उनसे भी पश्चिम एशिया से भारतवर्ष के जीवन्त सम्बन्धों के प्रमाणों की आकाट्य पुष्टि स्पष्ट है।

मिस्र सहित पश्चिम एशिया भारत के व्यापारिक सम्बन्धों का अन्तिम छोर नहीं था। वह छोर तो एक ओर योरोप में आगे जाकर रोम नगर तक तथा दूसरी ओर अफ्रीका के मैडागास्कर द्वीप तक पहुँचता था, जहाँ के निवासी ठीक उसी तरह बहुराष्ट्रीय और बहुदेशीय

---

(१) वेदिक एज, नवाँ अध्याय।

(२) जराएसो., १८९८, पृष्ठ २५० और आगे।

(३) कॉवेल का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द ३, पृष्ठ ८३।

थे जैसे सोकोद्रा के जहाँ भारतीय, अरब और मिस्री सब एक मिलीजुली आवादी के रूप में बसे हुए थे और मुख्यतः व्यापारिक क्रियाओं में ही लिप्त थे। मैडागारकर द्वीप की भाषा भी एक ऐसी मिली जुली भाषा का रूप थी, जिसमें इण्डोनेशियायी और संस्कृत भाषा के अनेक शब्द थे और वहाँ की परम्परा के अनुसार उस द्वीप का नाम मलय था, जहाँ उनके पूर्वज भारतवर्ष के मंगलोर नगर से गये थे। अफ्रीकी महाद्वीप से भारतीय व्यापार का प्रारम्भ ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियों के पहले से ही था। रोम तक भारतीय व्यापार प्रारम्भ में सीधे-सीधे नहीं होता था, अपितु अदन और अलेक्ज़ेण्डरिया (सिकन्दरिया) के बन्दरगाहों तक ही भारतीय जहाज पहुँचते थे और वहाँ से मिस्री लोग उनके माल को स्वयं अपने जहाजों में रोम तक पहुँचाते थे। सीधे रोम और भारत के जमीनी व्यापार में एक रुकावट तब पैदा हो गयी जब पार्थिया में एक शत्रु शासन सत्ता की स्थापना (प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में) हो गयी और विवशतावश रोमक लोगों को समुद्री रास्तों का ही सहारा लेना पड़ा। हिप्पैलस् द्वारा मानसूनी हवाओं की खोज से इस समुद्री व्यापार में एकाएक (पहली शती के बाद) तेजी आयी। **पेरिप्लस्**[1] का लेखक कहता है कि इन हवाओं के ज्ञान के बाद लालसागर के मुहाने पर स्थित ओकेलिस् नामक बन्दरगाह से चलकर जहाज सीधे बीच समुद्रों से होते हुए केवल ४० दिनों में मुजिरिस् (मलावार तट पर क्रंगानूर) अथवा भारत के पश्चिमी तट के अन्य बन्दरगाहों पर पहुँच जाते थे। इसी प्रकार भारत के माल भी अलेक्ज़ेण्डरिया (सिकन्दरिया) बन्दरगाह तक तीन महीनों से भी कम समय में ही पहुँच जाते थे। इस समुद्री मार्ग को अपनाने के कारण अव समुद्री किनारों पर बसे हुए समुद्री डाकुओं की जमातों की लूट से भी व्यापारिओं को वहुत राहत मिली। उधर रोम में एक साम्राज्य की स्थापना से भी पश्चिम से होने वाले भारतीय व्यापार की बहुत वृद्धि हुई। उस साम्राज्य-स्थापन से एक शान्ति का वातावरण बना तथा संचारवृद्धि और मार्गों की सुरक्षा बढ़ गयी, जिससे प्रारम्भ में भारतवर्ष ही लाभ में रहा। फलतः, रोम के विपरीत भारत का व्यापारिक लाभ दस गुना अधिक हो गया। प्लिनी कहता[2] है कि लगभग ५५ करोड़ सेस्टेरस् (दो लाख बीस हजार पाउण्ड) की स्वर्णमुद्राएँ रोम के व्यापारिक घाटे को पूरा करने के लिये भारत को भेजे जाने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस कथन की पुष्टि भारतवर्ष के दक्षिणी भागों (विशेषतः अरिकामेडु) से प्राप्त होने वाले उन सुवर्ण सिक्कों से होती है जिन्हें आगस्टस् और नीरो नामक रोमक शासकों (३६ ई.पू. से ६३ ई. तक) ने मुद्रित कराया था। संगमयुग का तमिल साहित्य भी इस तथ्य की पुष्टि करता है, जिसमें मामल्लपुरम्, पुहार और कई अन्य बन्दरगाहों के चित्रण में कर्कश बोली बोलने वाले यवनों के उल्लेख[3] हैं। आगे चलकर पामीरा और पेट्रा नामक स्थान भारतीय माल के प्रमुख हाट बन गये। भारतीय माल समुद्र के रास्ते फरात (यूफ्रेटीज़) नामक नदी के किनारे बोलोज़ेरिया तक पहुँचता था, जहाँ से वह स्थल मार्ग से पामीरा ले जाया जाता था। इसी प्रकार लाल समुद्र के अरब में पड़ने वाले समुद्री किनारे के एल्ब और न्यूकेकोम नामक बन्दरगाहों से आगे स्थल मार्ग द्वारा भारतीय माल पेट्रा तक पहुँचता था।

(१) स्कॉफ का अनुवाद पृष्ठ ४५।

(२) रालिंसन्, इण्टरकोर्स विटविन् इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ. १०३; कनिंघम, क्वायन्स् ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. ५०।

(३) दि एज ऑफ् इम्पीरियल् यूनिटी, पृ. ६०३।

१०५ ई. में पेट्रा के विनष्ट हो जाने के बाद पामीरा का महत्त्व बढ़ गया। किन्तु २६३ ई. में उसके ऊपर होने वाले आरेलियन् के विनाशक आक्रमण के बाद भारतीय व्यापार फरात नदी पर स्थित बतने की ओर मुड़ गया। आगे यह व्यापार अरबों के हाथों में चला गया। धीरे-धीरे अफ्रीका के समुद्री किनारे पर स्थित अदुलि बन्दरगाह व्यापार का प्रमुख केन्द्र हो गया, जहाँ भारतीय और अरब के व्यापारी समान रूप से पहुँचते थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि रोम साम्राज्य के साम्राज्यभोगी युग के बाद भारत-रोमक व्यापार कुछ शिथिल हो गया। रोम पर होने वाले गाथ और हूण जातियों के आक्रमणों का विनाशक प्रभाव इसका मुख्य कारण था। राबर्ट सिवेल के शब्दों में "स्पष्टतः यह ऐसा काल नहीं था, जब हम रोमवासियों से यह आशा करें कि वे पौर्वात्त्य व्यापार को प्रोत्साहित करेंगे।"[2] तथापि ऐसा नहीं प्रतीत होता कि रोम का भारत से होने वाला व्यापार एकदम बन्द हो गया। ४०८ ई. में अलरिक ने रोम पर अपने आक्रमण में उस नगर को ध्वस्त न करने की शर्तों के रूप में ३ हजार पौण्ड काली मिर्ल और ४००० रेशमी वस्त्रों की माँग[3] रखी। स्पष्टतः ये वस्तुएँ रोम में भारतीय क्षेत्रों से ही आयातित होती थीं। वाईज़ैण्टाइन के औषधीय ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली सारी वस्तुएँ, जैसे भारतीय मसाले, जायफल, लवङ्ग आदि कुस्तुन्तुनिया में बड़ी आसानी से उपलब्ध हो जाती थीं।[4]

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद विदेशों-विशेषतः पश्चिमी देशों—से होने वाले व्यापार-पथों के प्रयोग और उपयोगिता में बहुत ही परिवर्तन आने लगे। इसके प्रमुख कारणों में सम्भवतः सर्वप्रमुख था व्यापार के नये-नये केन्द्रों का विकास। पुराने शहर खत्म होने लगे और नये नगरों का तेजी से उद्भव और विकास हुआ। उदाहरण के लिए, मकरान के रास्ते जाने वाला पश्चिमी तट से मेसोपोटामिया तक का मार्ग अब प्रायः त्यक्त हो गया तथा भारत और पश्चिम के बीच का व्यापार अब मुख्यतः बल्ख (बैक्ट्रिया), मर्व, एकबतना, केट्सीफान् और सेलूशिया के माध्यम से होने लगा। बल्ख (बैक्ट्रिया) अब भारत के बाह्य व्यापार का केन्द्र-बिन्दु बन गया और वहाँ से भारतीय माल पूर्व में खोतान, यारकन्द, काशगर सहित चीन के अन्यान्य केन्द्रों तक, पश्चिमोत्तर में वंक्षु नदी की घाटी तक और पश्चिम में फरात (यूफ्रेटीज़) और दजला (टिग्रिस) नदियों की घाटी तक भेजे जाने लगे। भारत के उत्तरीपश्चिमी नगर तक्षशिला से बल्ख पहुँचने के लिए हिन्दुकुश की पहाड़ियों से होकर तीन यात्रामार्ग निकलते थे जो पंजशीर और गोरबन्द नदियों के संगम पर स्थित कपिशा में मिलते थे। इनमें से बामियान से होकर जाने वाला मार्ग व्यापार और यात्रा के लिए अपेक्षाकृत अधिक आसान और सरल था।[6] बल्ख पहुँच जाने पर भारतीय व्यापारिओं का पश्चिम एशिया के अन्तिओकिया राज्य के नगरों तथा दजला (टिग्रिस) नदी की घाटी में स्थित सेलुशिया तथा

(१) दि एज ऑफ् इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ ६२४।

(२) जराएसो, १६०४, पृष्ठ ६०७।

(३) शचीन्द्र कुमार मैती, इकनॉमिक लाइफ इन नार्दन् इण्डिया इन दि गुप्त टाइम्स्, पृ. १७६।

(४) वहीं।

(५) टार्न, ग्रीक्स् इन इण्डिया ऐण्ड बैक्ट्रिया, पृष्ठ १३६।

(६) वहीं, पृष्ठ १३६।

बाबुल (बेबीलोन) तक पहुँचना बहुत आसान हो जाता था। धीरे-धीरे बाबुल (बेबीलोन) भारतीय व्यापारिक वस्तुओं की एक ऐसी आढ़त बन गया, जहाँ भारत से आने वाले मुख्य स्थलमार्गों अथवा सीस्तान होते हुए दक्षिणवर्ती स्थलीय मार्गों से अथवा भृगुकच्छ से पटल होते हुए आगे जाने वाले समुद्रीमार्गों से भारी मात्रा में व्यापारिक माल पहुँचते थे।

पश्चिम एशिया के राजदरबारों से मौर्य शासकों के राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। पाटलिपुत्र के राजदरबार में सेल्यूकस् का राजदूत मेगास्थनीज रहता था और सेल्यूकस् के उत्तराधिकारी का दूत डायमेकस भी बिन्दुसार के दरबार में रहता था। बाद में मिस्र के शासक द्वितीय टॉलेमी फिलाडेल्फस् का एक अन्य दूत डायोनिसियस् अशोक के समय पाटलिपुत्र आया था। बिन्दुसार के बारे में तो यूनानियों का कथन है कि उसने ऐण्टीओकस् सोटोर (सेल्यूकस् के उत्तराधिकारी) से यूनानी शराब, अंजीर और एक सॉफिस्ट विद्वान् अपने यहाँ भेजने का संदेश भेजा था। अशोक के अभिलेखों[1] (१३वाँ शिलालेख) में मिस्र के शासक द्वितीय टॉलेमी फिलाडेल्फस्, उत्तरी अफ्रीका में स्थित साइरीन के शासक मग, मकदूनिया के शासक ऐण्टीगोनस् गोनाटास और कोरिन्थ अथवा एपिरस के शासक अलिकसुन्दर (अलेक्ज़ेण्डर) के दरबारों में धर्मदूतों के भेजने के जो उल्लेख हैं, वे इन सभी देशों से भारतवर्ष के गहरे राजनीतिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्धों के सूचक हैं। एथेनियस् का कथन है कि मिस्र के शासक टॉलेमी फिलाडेल्फस् (२८५-२४६ ई.पू.) के राजदरबार में भारतीय कुमारियाँ, भारतीय शिकारी कुत्ते, भारतीय गायें तथा ऊटों पर ढोकर ले जाये गये मसाले हुआ करते थे। वह यह भी कहता है कि उसकी एक जहाजी नौका में भारतवर्ष से ले जाये गये पत्थरों से जटित एक सैलून भी था।[2] भारतवर्ष के सीरिया से सम्बन्ध अत्यन्त गाढ़े और विस्तारित थे और उसके औद्योगिक विकास के मूल में भारतवर्ष से प्राप्त होने वाली व्यापारिक वस्तुएँ मुख्य थीं। उसके नगरों में अन्तिओक, पामीरा और दमिश्क अपनी सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध थे।[3] पश्चिम और उत्तर पश्चिम के देशों से भारतीय सम्पर्क और व्यापार के क्षेत्र में अफगानिस्तान के कन्दहार शहर का विशेष स्थान था, जहाँ कई दिशाओं से आने वाले व्यापारपथों का सम्मिलन होता था। वहाँ से एक मार्ग दक्षिण दिशा में बोलन के दर्रे से होता हुआ सिन्धु नदी के मुहाने को जाता था; उत्तर पूर्व दिशा में दूसरा पथ गजनी और काबुल को जाता था और कपिशा में तक्षशिला-बल्ख के मुख्य व्यापारपथ से मिलता था और तीसरा मार्ग फराह और हेरात होते हुए मर्व नगर तक पहुँचता था। इसी प्रकार पश्चिम की ओर जाने वाला एक मार्ग कन्दहार को पर्सिपोलिस्, सूसा, सेलूशिया और बाबुल (बेबीलोन या बेबीलोनिया) से जोड़ता था।[4]

यूनानी लेखकों ने भारतवर्ष के पश्चिमी समुद्री किनारों से होकर पश्चिम के देशों को जाने वाले उन समुद्री मार्गों का भी उल्लेख किया है जो भारतीय इतिहास के आद्यैतिहासिक

---

(१) दि.च. सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, भाग १, पृष्ठ ३७।

(२) रालिंसन्, इण्टरकोर्स बिटविन् इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ. ६३-६४।

(३) एम.पी. चार्ल्सवर्थ, ट्रेडरूट्स् ऐण्ड कामर्स विद रोमन् इम्पायर, पृ. ४४।

(४) टार्न, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६३।

काल से ही नाविकों द्वारा प्रयुक्त थे। बारबेरिकम् (सिन्धु नदी के मुहाने पर) से यमन (यूडेमान) तक जाने वाला समुद्रतटीय पथ रस-मुसनुदान, रस-हद ओर रस-मद्रक से गुजरता था, जहाँ भारतीय व्यापारिक वस्तुओं के बड़े-बड़े हाट होते थे।[1] यूडेमान (यमन) से समुद्री मार्ग लाल सागर से ओसेलिस् (सेल्ला के निकट) और उसके पूर्वी किनारे पर स्थित मूजा तथा पश्चिमी किनारे के अडूलिस् नामक स्थानों को छूता था तथा उसी रास्ते से अफ्रीका के बेरेनिस् नामक बन्दरगाह को पहुँचता था, जो भारतीय व्यापारिओं का मनपसन्द पत्तन था। वहाँ से भारतीय व्यापारी या तो मरुस्थलीय क्षेत्रों से होते हुए सिकन्दरिया (अलेक्ज़ेंडरिया) अथवा समुद्री रास्तों से होर्मुस् की खाड़ी से निकलकर नील नदी के मुहाने पर पहुँचते थे। सिकन्दरिया भारतीय वस्तुओं का एक प्रमुख हाट था, जहाँ से वे रोम के प्रसिद्ध बन्दरगाह पूतेओली भेजी जाती थीं। इस मुख्य व्यापारिक मार्ग से जुड़ने वाला एक अन्य मार्ग भी था जो अन्तिओक से रोम को जोड़ता था। रोम का एक अन्य बन्दरगाह ब्रुन्डीज़ियन् था, जिससे कोरिन्थ और एथेन्स् के कई नगर जुड़े हुए थे।

मिस्र से भारतवर्ष के पश्चिमी समुद्रतटों को छूने वाले समुद्री मार्ग का सर्वाधिक विस्तृत विवरण **दि पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी** के उस अज्ञातनामा यूनानी (मिस्र में बस जाने वाले) लेखक से प्राप्त होता है, जिसने ईसा की प्रथम शताब्दी के दूसरे भाग में उस मार्ग का एक विशद विवरण अपनी परिचयात्मक यात्रा में तैयार किया था। उसकी पूरी चर्चा[2] तो यहाँ असंभव है, किन्तु कुछ सम्बद्ध व्यापार पथों की कुछ मुख्य बातें अवश्य उपस्थित की जा सकती हैं। उसने मिस्र के आगे स्थित मुसेल (म्योस् होरमोस्) से जहाज द्वारा चलकर लाल सागर की खाड़ी पर स्थित बेरेनिके, ओरीन नामक टापू पर बसे हुए अडुलि (असुलिस्) और वहाँ से अरब की खाड़ी से पूरब की ओर जाते हुए लगभग ४०० स्टेडिया की दूरी पर स्थित अनेक हाटों की चर्चा की है। आगे मुण्डुस् और मोसिलम् नामक बन्दरगाह नगर थे। पुनः छोटी नील नदी के आगे अनेक हाट थे जहाँ जुलाई के महीने में मालों से लदे हुए मिस्र के जहाज तो आते ही थे, एरियाक और बैरिगज़ा (भृगुकच्छ) से भी माल भरे जहाज नियमित रूप से आते थे। वहाँ भारत से निर्यातित वस्तुओं में गेहूँ, चावल, घी, तेल, सूती कपड़े, कमरबन्द और शक्कर मुख्य थीं। बेरेनिस् नामक नगर की वायीं ओर मुसेल नामक बन्दरगाह से पास की ही खाडी पेट्टा तक एक सड़क जाती थी, जहाँ अरब से छोटी छोटी नावें पहुँचती थीं। उसी से सटा हुआ अरब (यमन) देश था। आगे एक खाड़ी पर बसा हुआ मुज़ा (मोखा) नामक बन्दरगाह नगर था जो अरबी जहाजों, यात्रिओं और व्यापारिओं से गुंजायमान रहता था। वहाँ के व्यापारी भृगुकच्छ (भरुच) सहित दूर-दूर के देशों से व्यापार करते थे। आगे यूडेमा अरेबिया (आधुनिक अदन) बन्दरगाह का विवरण है जो मिस्र और भारतवर्ष के बीच होने वाले व्यांपारिक मालों के हस्तान्तरण का मुख्य स्थान था। आगे एक पतली सी खाड़ी के अन्तरीपी भाग पर कना नामक बन्दरगाह था, जहाँ से भृगुकच्छ, सीरिया,

---

(१) ई.एच्., वार्मिङ्टन्, कामर्स बिटविन् रोमन इम्पायर एण्ड इण्डिया पृ. ६।

(२) सम्बद्ध विवरणों के लिए देखें, पेरिप्लस् का अंग्रेजी अनुवाद, स्कॉफ, पृष्ठ १३०-१३९।

ओमान और फारस के समुद्री तटों के दूर-दूर तक के देशों के बीच व्यापार होता था। पुनः, डायसकोरिहा (आधुनिक सोकोट्रा) नामक द्वीप की चर्चा है, जहाँ के सभी निवासी विदेशी थे– अरबी, यूनानी और भारतीय – जो सभी व्यापार के सिलसिले में ही वहाँ जाकर बस गये थे। पुनः, भुजा, डमिरिका (भारत का द्रविड़ देश) और बैरिगजा (भृगुकच्छ-गुजरात) के व्यापारिओं द्वारा अपने-अपने माल के ले जाने का उल्लेख है। ओमान की खाड़ी के आगे थोड़ी दूर मोखा (आजकल का खोर-रेरी-मस्कत में) नामक बन्दरगाह था, जहाँ कना से नियमित रूप में जहाज आते थे। गुजरात और द्रयिड़ देश से लौटते हुए विदेशी जहाज अपनी जाड़े की ऋतु मोखा (मस्कत) बन्दरगाह में ही बिताते थे और लोहबान के बदले वहाँ के व्यापारिओं को कपड़ा, गेहूँ और तिल के तेल की आपूर्ति करते थे। इस बन्दरगाह नगर की यह विशेषता थी कि वहाँ जहाजों में लदे हुए माल अथवा अन्य वस्तुओं की कोई चोरी नहीं होती थी। आगे फारस की खाड़ी के किनारे ओम्मन नामक पारसीक बाजार नगर था, जहाँ भृगुकच्छ से ताँबा, चन्दन, शीशम, सागौन और आबनूस की लकड़ियाँ बड़े-बड़े जहाजों पर लदकर आती थीं और वहाँ से भृगुकच्छ को मोती और रंगीन फैशनी कपड़े, शराब, खजूर और गुलाम भेजे जाते थे।

पेरिप्लस् का लेखक एक बात का विशेष उल्लेख करता है कि लगभग ४५-५४ ई. के पहले रोम, यूनान अथवा मिस्र से चलने वाले यात्रिओं-व्यापारिओं को समुद्र में चलने वाली दक्षिण-पश्चिमी इटेसियायी (मानसूनी) हवाओं का ज्ञान नहीं था। उसका ज्ञान सर्वप्रथम रोम के हिप्पेलस् नामक नाविक से ही पश्चिमी जगत अथवा भारतीय नाविकों को हुआ। किन्तु विद्वानों[१] ने इस बात पर सन्देह व्यक्त किया है कि यूनान-रोम-मिस्र के नाविकों के विपरीत भारतीय नाविकों को मानसूनी हवाओं का ज्ञान नहीं था। कुछ बौद्ध जातकों[२] में **अकालवात** की चर्चा है, जिससे भृगुकच्छ के नाविक भली-भाँति परिचित थे। मिस्र से भारत आने वालो यूडोकस् किज़ीकस् नामक एक मिस्री नाविक जब समुद्र में फँस गया तो एक भारतीय नाविक ने ही उसकी रक्षा करते हुए उसके मार्ग दर्शन में अपनी जान भी जोखिम में डाल[३] दी थी। अरब की खाड़ी के कुछ अरबी (मिस्री) तटरक्षकों ने उसे अधमरी और अचेत अवस्था में उसके जहाज से उबारा था। स्ट्रैबो (द्वितीय, तीसरा, चौथा) के अनुसार वह भारतीय नाविक भारत के समुद्रतट से निकला था किन्तु वह आगे अपना मार्ग भूल गया। उसके अन्य सभी साथी भूख और प्यास से तड़पकर मर चुके थे किन्तु वह अकेले अचेतावस्था में था, जिसे अरब तटरक्षकों ने बचाया और वे उसे मिस्र के राजदरबार में ले गये। मिस्र के शासक ने उसे अनेक प्रकार की भेटें दी और वापस भारत भेजा। **सुप्पारक जातक** से यह प्रतीत होता है कि भृगुकच्छ से मिस्र जाने वाला सीधा समुद्री मार्ग भारतीय नाविकों को बहुत पहले से ही ज्ञात था।[४]

---

(१) केनेडी, जराएसो, १८९८, पृष्ठ २७२-२७३; लैंसें, हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् कामर्स, जबिओरिसो., जिल्द ९० (१९२४), पृष्ठ २३२।

(२) जिल्द ४ (पी.टी.एस्.), पृष्ठ १४१-१४२।

(३) र.च. मजूमदार, ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐज़ डेस्क्राइब्ड इन क्लासिकल् लिटरेचर, पृष्ठ ९७।

(४) का.प्र. जायसवाल, जबिओरिसो., जिल्द ४, पृष्ठ १६५; रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ २८८।

अतीन्द्रनाथ बोस[1] ने स्ट्रैबो और **पेरिप्लस्** के आधार पर भारतीय-मिस्री व्यापार के मार्गों का एक समाहार प्रस्तुत किया है। तद्नुसार, "अलेक्ज़ेण्ड्रिया से नील नदी होते हुए काप्टस् तक, वहाँ से ऊँटों के माध्यम से म्योस् होर्मुस् (जिफातिन् नामक द्वीप समूह) तक तथा वहाँ से जहाज लाल सागर के नीचे मोज़ा और आगे ओकेलिस् की खाड़ी तक" जाते थे। "वहाँ से वे समुद्री किनारों का रास्ता अपनाते थे और वहाँ से बारबेरिकम् (सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित) अथवा बैरिगजा (भृगुकच्छ) तक; बीच में कभी-कभी सोकोट्रा में रुकते हुए। अन्य कुछ नाविक सीधे मलावार तट (डिमिरिके) पर पहुँचते थे। अमोरत अथवा गुआरुदकुई की खाड़ी से एक अन्य मार्ग सीधे मलावार तट पर पहुँचता था।" प्लिनी कहता[2] है कि अनेक नयी खोजों के कारण आगे भारत-मिस्री व्यापार और भी अधिक सरल हो गया। इन खोजों में हिप्पैलस् द्वारा मानसूनी हवाओं का ज्ञान सर्वप्रमुख रहा।

भारत के पश्चिमी समुद्रतटीय पथ

पेरिप्लस् के भारतीय प्रायद्वीप के समुद्रतटीय नगरों-बन्दरगाहों के विवरण भी विशद और प्रभूत[3] हैं। सर्वप्रथम अरव सागर में गिरने वाली पश्चिमोत्तर भारत की सबसे बड़ी नदी सिन्धु (सिन्धम्) और उसके दलदली सप्तमुखों का उल्लेख, बारबेरिकम् (सिन्धु नदी के मुहाने का वन्दरगाह और मिन्नगर नामक बन्दरगाह नगरों में आयातित होने वाली वस्तुओं-महीन कपड़ों, चित्रित कपड़ों, पीले पुखराज, प्रवाल (विद्रुम अथवा मूँगा), शिलाजीत, लोहबान, शीशों के घड़ों, सोने-चाँदी की तश्तरियों और कुछ मात्रा में शराब का विवरण है। ठीक उसी प्रकार वहाँ से निर्यातित होने वाली वस्तुएँ भी गिनायी गयी हैं। वे थीं – कूँठ, गुग्गुल, कठबाँस अथवा जटामासी, वैदूर्य (नीलम), चीनी बल्कल, सूती कपड़े, रेशमी धागे और नील। आगे इरिनान, बरक (बराका) अर्थात् कच्छ की खाड़ी, आभीर और सुराष्ट्र प्रदेश के वर्णन हैं, जिसमें वहाँ की उपजाऊ भूमि तथा उसके विभिन्न उत्पादों और फसलों के उल्लेख हैं। नर्मदा और माही नदियों के मुहानों की नौकायन सम्बन्धी कठिनाइयों और वहाँ के शासक (संभवतः नहपान) द्वारा कुशल मल्लाहों की नियुक्त का वहाँ उल्लेख है जो समुद्री किनारों की चट्टानों को बचाते हुए विदेशी नाविकों और उनके माल को अपनी छोटी-छोटी नौकाओं में देश के भीतरी भागों तक पहुँचा देते थे। तूफानी समुद्रगर्जन की तुलना **पेरिप्लस्** में किसी आक्रान्ता सेना के तुमुलनाद से की गयी है।

भृगुकच्छ के नीचे दक्षिणापथ में स्थित पैठन (प्रतिष्ठान) और तगर नामक व्यापारिक बन्दरगाह नगरों के विशेष उल्लेख हैं और वहाँ की व्यापारिक वस्तुओं की गिनती है। इन नगरों के उत्तर, किन्तु भृगुकच्छ से दक्षिण, स्थित सोपारा (सूर्पारक), कल्याण, सेमिलन, मण्डगोर, पालैपत्तनै, मोलिजिगर, बाइज़ेण्टियम्, तोगरम और ओरन्नदेयम की गिनती है। गोवा सहित कुछ द्वीपों के साथ दक्षिण के दमिरिका (द्रविड़) देश के नौरा (कन्नानूर), टिण्डिस् (पोन्तानी), मुजिरिस् (मुयिरिकोट) अर्थात क्रंगानूर जैसे उन स्थानों के विवरण है जो

(१) सोशल ऐण्ड रूरल इकानॉमी ऑफ् नार्दर्न इण्डिया, जिल्द २, पृष्ठ ६४।

(२) स्कॉफ्. पेरिप्लस् का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २३२ पर उद्धृत।

(३) देखिए स्कॉफ् का अनुवाद, पृष्ठ १६५ और आगे।

आजकल के मलयालमभाषी मलावार, कोचीन और उत्तरी ट्रावनकोर के क्षेत्रों में पड़ते थे और प्राचीन काल के केरलपुत्र नामक क्षेत्र थे। नेलकन्द (नीलकण्ठ) आधुनिक कोट्टयम था जो पाण्ड्य देश में स्थित था। ये सारे के सारे बन्दरगाह नगर और हाट थे जहाँ मिस्र देश के जहाज अपने माल लेकर जुलाई मास में मानसूनी हवाओं के सहारे पाल डाँड़कर सीधे बीच समुद्र से होते हुए पहुँचते थे। इनके आगे वाले बन्दरगाह थे – बकारे (आधुनिक पोरकाड), परेलिया (पुराली-ट्रावनकोर का प्राचीन नाम), बलित (वर्क्कलई), कुमारी (कन्याकुमारी), कोत्की (कोत्कई-पाण्ड्य क्षेत्र की मनार की खाड़ी का प्रसिद्ध बन्दरगाह) चोल्ल मण्डलम् का अरगई (उरययूर), कमर (कारीकल), पोदुका (आजकल का पुड्डुचेरि) और सोपतम् (सुपत्तन = चेन्नई = मद्रास का आधुनिक बन्दरगाह) आदि।

पेरिप्लस् के लेखक (नाविक) ने चेन्नई से आगे भारत के पूर्वी समुद्रतट की भी यात्रा की थी। मालिया (मसूलीपत्तनम्, दशार्ण नामक देश, उत्तर पूर्व के किरात क्षेत्रों, गंगा नदी और गंगासागर की चर्चाएँ **पेरिप्लस्** में प्रमुख रूप में प्राप्त हैं। किन्तु इनकी सूचनाएँ अपेक्षाकृत सीमित ही हैं। तथापि उत्तरवर्ती चीन देश से भारत में आयातित रेशमी धागों, वस्त्र, लोहबान, जटामासी और दालचीनी के व्यापारिक उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं।

दक्षिणपूर्व के एशियायी देशों को जाने वाले पथ

पश्चिम और पश्चिमोत्तर के मध्य एशियायी और योरोपीय देशों की तुलना में दक्षिण पूर्व के एशियायी देशों से भारतवर्ष के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों का इतिहास अधिक व्यापक और दीर्घकालिक था। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में उनका महत्त्व केवल एक बात से जाना जा सकता है कि भारतीयों ने उनके लिए एक सामूहिक नाम सुवर्णभूमि रख दिया और ताम्रलिप्ति के पूरब और दक्षिणपूर्व के सभी देश इस सुवर्णभूमि क्षेत्र के भीतर गिने जाने लगे। अनेक जातक कथाओं में इस सुवर्णभूमि को व्यापार और मुनाफे हेतु जाने वाले सौदागरों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] भरुकच्छ (भरुच) से सुवर्णभूमि और यवद्वीप (जावा) को जाने वाला एक मार्ग जावा द्वीप के ग्रन्थों में उल्लिखित है। तद्नुसार, यवद्वीप को किसी गुजराती राजकुमार ने ही सर्वप्रथम आबाद किया था।[2] किन्तु यवद्वीप (जावा), सुवर्णभूमि (सुमात्रा) और चम्पा (अन्नाम) को जाने वाला सर्वाधिक प्रचलित मार्ग पूर्वी तट के मसूलीपत्तनम् (मछलीपट्टनम्) से प्रारम्भ होकर सीधे बंगाल की खाड़ी से होकर समुद्र के बीचोबीच जाता था।[3] तीसरा समुद्री मार्ग उड़ीसा के पोलूर (आधुनिक गोपालपुर) से प्रारम्भ होता था। किन्तु उत्तरी भारत के मध्यवर्ती व्यापारिओं के लिए सबसे आसान था ताम्रलिप्ति (कलकत्ता के पास तामलुक का बन्दरगाह) से प्रारम्भ होने वाला दक्षिणपूर्व का वह समुद्री मार्ग, जिससे होकर चीनी यात्री फा-श्येन् चीन को लौटा था।[4] उत्तर-पूर्व में चीन तक की

---

(१) जातक (पी.टी.एस्.) जिल्द ३, पृष्ठ १८८; जिल्द ४, पृष्ठ १५, १७, १५८; जिल्द ६, पृष्ठ ३०-३४।

(२) र.च. मजूमदार, चम्पा, पृष्ठ १२वाँ; सुवर्णभूमि, जिल्द १, पृष्ठ ४।

(३) पेरिप्लस्, स्कॉफ का अनुवाद, पृष्ठ २५२।

(४) विशुद्धानन्द पाठक, पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृष्ठ २७।

यात्राओं के लिए यही मार्ग सर्वाधिक प्रयुक्त था। चीन से भारतवर्ष को आने-जाने वाले चीनी धर्मयात्री-जैसे प्रथम शताब्दी में फूनान नगर से प्रारंभ करने वाला दल तथा सातवीं शताब्दी के चतुर्थांश में भारतवर्ष आने वाला इ-त्विग् इसी ताम्रलिपि बन्दरगाह पर अपने जहाजों से उतरे थे।[1] आगे वेसुंग्[2] (पेगू) और वेरापथ पड़ते थे, जहाँ से नेग्राइस् की खाड़ी होते हुए मलयद्वीप को समुद्री मार्ग जाते थे। मलय द्वीप समूह ईसा की शताब्दियों के पूर्व भी भारतीय व्यापरिओं के वाणिज्यिक क्रियाकलापों का प्रसिद्ध केन्द्र था, जहाँ का तक्कोला (तकुआ-पा[3]) बन्दरगाह प्रसिद्ध था। वहाँ से या तो समुद्री मार्ग से अथवा स्थल मार्ग से कम्बुज (कम्बोडिया) और चम्पा (अन्नाम) तथा उसके आगे की भी यात्रा की जा सकती थी। किन्तु पूरी तरह समुद्री मार्ग से होकर जाने वाले जलमार्ग की अपेक्षा यवद्वीप (जावा) जाने वाला वह मार्ग अधिक आसान और प्रचलन में था, जिसमें जहाजों को बदलना नहीं पड़ता था। किन्तु चम्पा और भारतवर्ष के बीच का समुद्री रास्ता अपेक्षाकृत अधिक घुमावदार और टेढ़ा-मेढ़ा तथा अधिक समय खाने वाला था। चीनी परम्परा यह बताती है कि २४०-२४५ में चम्पा के एक शासक ने अपना जो दूतमण्डल भारतवर्ष भेजा था, उसे ताम्रलिप्ति पहुँचने में करीब एक वर्ष का समय व्यतीत करना पड़ा।[4]

भारतवर्ष से बर्मा (म्यांमार) और उसके आगे के देशों को जो स्थल मार्ग जाते थे, उनकी जानकारी बहुत ही कम है। किन्तु म्यांमार से सम्बन्ध के मार्ग संभवतः बँगलादेश और मणिपुर से होकर निकलते थे। चीन को जानेवाला स्थल मार्ग संभवतः असम, ऊपरी म्यांमार और युन्नान (हुन्नान) प्रान्त होकर जाता था। चीन इसी मार्ग से अपने सूती वस्त्रों और बाँस की बनी चीजों का व्यापार बल्ख तक करता था।[5] भरुकच्छ (भृगुकच्छ=भरुच) से होते हुए चीनी रेशम का सेलूशिया और अलेक्ज़ेन्डरिया तक का निर्यात भी इसी मार्ग से होता था।[6]

भारतवर्ष से चीन के व्यापारिक सम्बन्धों का एक अन्य मार्ग था[7] तक्षशिला से कपिशा होते हुए बल्ख तक का। वह आगे मध्य एशिया से होते हुए चीन के भीतर तक जाता था। किन्तु भारतीय व्यापारी प्रायः उसी मार्ग को अपनाते थे जो तष्कुरगान होकर जाता था। तष्कुरगान के लिये बल्ख से जाने वाले दो मार्ग थे, एक पामीर पर्वतों की ओर अलाईघाटी से होकर जाता था और दूसरा बदक्शाँ नगर से होकर जाता था। तष्कुरगान व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था, जहाँ से चिचिल्किक के दर्रे तथा यांगी-हिसार होते हुए काशगर को एक प्रचलित पथ जाता था। श्वान्-च्वांग् ने भारत आते समय यही मार्ग अपनाया था। कुमारजीव

---

(१) वहीं, पृष्ठ १४५।

(२) सिल्वाँ लेवी, सिनो-इण्डियन् स्टडीज, जिल्द २, सं. २, पृष्ठ ७३।

(३) र.च. मजूमदार, हिन्दू कालोनीज़ इन दि फार ईष्ट, पृष्ठ १६। वार्मिण्टन् (पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ १२७) ने इसकी पहचान यांगून (रंगून) से की है।

(४) र.च. मजूमदार, चम्पा, पृष्ठ १७।

(५) प्र.च. बाग्ची, इण्डिया ऐण्ड चाइना, पृष्ठ ५, १६; पेरिप्लस्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २६३।

(६) पेरिप्लस्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २६८ और आगे।

(७) प्र.च. बाग्ची, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७।

(४०० ई.) और धर्मगुप्त नामक भारतीय बौद्ध विद्वान् चीन जाते समय काशगर में रुके थे।[1] चीन की मुख्य भूमि को काशगर से जोड़ने वाले दो मार्ग थे। एक उत्तरी मार्ग जो लोपनार से होकर जाता था और दूसरा दक्षिण की ओर यारकन्द होते हुए जाता था। श्चान् च्वांग् का कथन है कि खोतान को अशोक के पुत्र कुणाल ने एक भारतीय उपनिवेश के रूप में आबाद किया था।

आन्तरिक व्यापारपथ (उत्तर भारत)

देश के भीतरी व्यापारिक स्थानों और मुख्य बस्तियों-नगरों को जोड़ने के दो माध्यम विकसित हुए-प्रथमतः स्थलमार्गों द्वारा और दूसरा नदियों द्वारा। हड़प्पा संस्कृति की दक्षिण-पश्चिम और पूर्व में विस्तार की जो तस्वीरें आधुनिक खुदाइयों से प्राप्त हुई हैं, उनसे प्रतीत होता है कि इस विस्तारित संस्कृति के सभी स्थान संभवतः एक दूसरे से जुड़े हुए थे। मालवा संस्कृति के सम्बन्ध दक्षिणापथ से थे तथा पश्चिम में उसका सम्बन्ध सौराष्ट्र और राजपूताना से भी था। राजपूताना की आहाड़ संस्कृति की साम्यता नागदा, नवदाटोली और बहल संस्कृतियों से थी।[2] ये सभी स्थान उज्जैन के पास स्थित थे। अतः दक्षिणापथ, मालवा और गंगा-यमुना की घाटियों का इनसे जुड़ाव स्वाभाविक था।

वैदिक ऋचाओं से आर्यों की व्यापारिक अभिरुचि और नगरीय जीवन के विकास की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती हैं। मरुत् द्वारा पहाड़ियों को तोड़कर रास्तों के निर्माण (ऋग्वेद, प्रथम, ४५-४६, द्वितीय, ३४.५); इन्द्र द्वारा जंगलों को जलाकर नये पथों के निर्माण (वहीं १४०. ६); इन्द्र द्वारा ही नदियों में नौकायन की कला का विकास (वहीं, द्वितीय, १३.५); आदि ऐसे अनेक प्रकरण हैं, जो स्पष्ट करते हैं कि प्रारंभिक आर्यों को सड़कों-पथों और नदी मार्गों के महत्त्व की भरपूर जानकारी थी। **अथर्ववेद** (चौदहवाँ, १, ३४; बारहवाँ, १, ४६) में ये प्रार्थनाएँ की गयी हैं कि मातृ प्रथिवी उनके व्यापारिक पथों को शत्रुओं, डाकुओं और अन्यान्य बाधाओं से बचाये रखें। नौकायन की कला प्रारंभ करने के लिए अग्नि की प्रशंसा (**ऋग्वेद**, द्वितीय, १३.५) की गयी है तथा उसे पथकृत् भी कहा गया है (**ऋग्वेद**, षष्ठ, २१.१२; **अथर्व** १८वाँ, २.५३)। वे मार्ग सुनिर्मित और धूलिरहित थे (**ऋग्वेद**, प्रथम ३५.११)।

संभवतः सरस्वती नदी के बहाव के क्षेत्र में आने वाले सूखेपन के कारण कुरु-पञ्चाल जनपदों से आगे बढ़कर आर्यों के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। **शतपथ[3] ब्राह्मण** में यज्ञ की पवित्र अग्नि को लेकर गौतम राहुगण के नेतृत्त्व में विदेघ माठव के पूर्व में सदानीरा (बड़ी गण्डक) तक जाने का उल्लेख इस विस्तार की ओर इंगित करता है। यह मार्ग आसन्दिवत, परिचक्र, काम्पिल्य, निमिष, इन्द्रप्रस्थ और अहिछत्र जैसे नगरों से होकर गुजरता था। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इन नगरों की स्थापना विदेघ माठव की इस पथकृत यात्रा के बाद हुई थी या वे पहले से ही विद्यमान थे।

---

(१) आरियेल् स्टाइन, ऐंशियेण्ट खोतान, जिल्द १, पृष्ठ ४०-४१।

(२) व्हीलर, अर्ली इण्डिया ऐण्ड पाकिस्तान, पृष्ठ १४०-१४४।

(३) प्रथम ४.११-१७; सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट सीरिज, जिल्द बारहवाँ, पृष्ठ १०४।

वाल्मीकि रामायण में अनेक यात्रा मार्गों के विवरण हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि ये न तो पूरी तरह सुरक्षित थे और न कठिनाइयों से निरापद। इनमें से दो मार्गों की चर्चा यहाँ की जा सकती है। एक तो अयोध्या से जनकपुर का मार्ग था और दूसरा अयोध्या से केकय देश का। ऋषि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण ने जब जनकपुर की यात्रा की थी तो वे सिद्धाश्रम के लिए अयोध्या से सरयू नदी के दाहिने (दक्षिणी) किनारे से होते हुए आगे बढ़े थे (वा.रा. प्रथम, २२.१०); पुनः, आगे कामाश्रम के लिए चले जहाँ से गंगा और सरयू नदियों का संगम दिखायी दे रहा था (छपरा नगर के दक्षिण); पुनः आगे (पूरब में) गंगा नदी की ओर बढ़कर उन्होंने उसे नौका द्वारा पार किया, जहाँ ताटकवन स्थित था। आगे वे सिद्धाश्रम पहुँचे जहाँ से जनकपुर का मार्ग उत्तराभिमुख था और हिमालय की तराइयों के बीच से होकर जाता था। संभवतः उन्होंने सोन नदी पार कर उत्तर-पूर्वी दिशा की ओर यात्रा की जिसके पूर्व में मगध की राजधानी गिरिव्रज पड़ती थी। कदाचित् सोन नदी को पारकर उन्होंने विशालापुरी (वैशाली) का मार्ग अपनाया।

वाल्मीकि रामायण[1] में राजा दशरथ की मृत्यु के बाद केकय देश से भरत-शत्रुघ्न के अयोध्या लौटने के मार्ग का भी उल्लेख है। भरत ने क्रमशः सुदामा (चिनाब), और ह्लादिनी (रावी एवं सतलुज) नदियों को पार करते हुए अपर्वत देश (शिवालिक की पहाड़ियों) से होते हुए गंगा-यमुना के प्रदेशों में प्रवेश किया। वहीं दक्षिणपूर्व दिशा में उन्हें यमुना नदी पार करनी पड़ी। किन्तु आगे उन्होंने किस मार्ग का अनुसरण किया, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। किन्तु वसिष्ठ ने अपने दूतों को भरत को बुलाने हेतु केकय देश जिन मार्गों से भेजा, उनका विवरण[2] वहाँ कुछ अधिक व्यापक है और बीच में पड़ने वाले अनेक नगरों के अनुमान लगाये जा सकते हैं।

उन दूतों ने पहले मालिनी नदी पार की तथा हस्तिनापुर पहुँचे। इस बीच उन्होंने काम्पिल्य और अहिछत्र नामक नगरों को अवश्य पार किया होगा। हस्तिनापुर में गंगा नदी पारकर पुनः शरदण्डा नदी पारकर कुरुजांगल देश से होते हुए वे कुलिन्द नगर और अभिकाल देश पहुँचे। पुनः वाह्लीक और सुदामा की पहाड़ियों से होते हुए विपाशा (व्यास) नदी को पारकर वे केकय देश पहुँचे। इस पूरे रास्ते को कवि ने विशाल (पठातिमहत्) और दुरूह (विकृष्ट) बताया है।

संस्कृत ग्रन्थों की अपेक्षा बौद्ध पालि साहित्य में प्राचीन भारतीय अन्तरपथों, नगरों, बाजार-हाटों और व्यापारिक क्रियाकलापों के विवरण अधिक व्यापक, स्पष्ट और ध्यानयोग्य दिखायी देते हैं। यद्यपि स्वयं बुद्ध भगवान ने उत्तर और उत्तर-पूर्वी भारत की लगभग ४५ वर्षों तक, वर्षावासों को छोड़कर, लगातार यात्राएँ की थीं, तथापि ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वे उत्तर में आलवी, सोरेय्य (सोरों) और मथुरा; पश्चिम में संभवतः उज्जैन; मध्य में कौशाम्बी, प्रयाग, अयोध्या, साकेत और काशी आदि के क्षेत्र; उत्तरपूर्व में श्रावस्ती, कपिलवस्तु, रामग्राम, कुसिनारा और पावा तथा पूर्व में वैशाली पाटलिपुत्र, गिरिव्रज, नालन्दा और चम्पा आदि क्षेत्रों के आगे अपनी चारिकाओं में गये थे। किन्तु जातक कथाओं में उनके

---

(१) वा.रा., द्वितीय, ७१वाँ अध्याय।

(२) वहीं, द्वितीय ६८वाँ अध्याय।

मुख से **अतीतवत्थु** अर्थात् पुरातन कथाओं के जो विवरण दिये गये हैं, उनसे भारतवर्ष का एक बहुत ही व्यापक भौगोलिक रूप प्रकट होता है और बाह्य भारत के सामुद्रिक छोरों के आगे के भी भौगोलिक दृश्य दिखायी देते हैं। उस आधार पर तत्कालीन व्यापारिक पथों का एक चित्र खींचा जा सकता है।

साहित्यिक परम्पराओं में भारतवर्ष के पाँच भौगोलिक विभाजनों (श्वान्-च्वाङ्ग् के फाइव इण्डीज़-पञ्च भारतों) अर्थात् उत्तरापथ, दक्षिणापथ, प्राची, प्रतीची और मध्यदेश के विवरण अनेकशः[1] प्राप्त होते हैं। पालि साहित्य में उत्तरापथ और मध्यदेश के विवरण तो बहुत ही अधिक हैं और इनके भौगोलिक आयत्त भी दिये गये हैं। उत्तरापथ का सर्वप्रसिद्ध स्थान था तक्षशिला, जो भरत के पुत्र तक्ष के नाम से अभिज्ञात है। जातकों में तक्षशिला एक विश्वविद्यालयीय केन्द्र के रूप में बहुशः वर्णित है, जहाँ काशी के राजकुमार भी पढ़ने जाया करते थे। भगवान बुद्ध के प्रसिद्ध भिषक् जीवक वहीं के स्नातक थे। काशी, कोसल, मल्ल, अवन्ति, लाट, कुरु, मगध और शिवि जैसे राज्यों से तक्षशिला के सीधे संचार सम्बन्ध थे।[2] तक्षशिला से मथुरा का रास्ता भद्रंकर (साकल), उदुम्बर तथा रोहितक (रोहतक) से होकर गुजरता था।[3] साकल (पाकिस्तान में स्यालकोट) उत्तरापथ के मार्ग पर व्यापारिक वस्तुओं का एक बहुत ही बड़ा केन्द्र था और आगे चलकर मिलिन्द (मिनैण्डर) के समय तो एक हाट-बाजार के रूप में इसका महत्त्व बहुत ही अधिक बढ़ गया था। वहीं उसकी राजधानी भी थी। वहाँ से एक मार्ग रोहितक से होते हुए मथुरा तक जाता था। **कुस जातक** की सूचना है कि ओक्काक नामक राजा ने अपनी राजधानी कुसावती (कुशीनगर) से साकल की यात्रा की थी[4] जो मद्रदेश की राजधानी थी। संभवतः यह मार्ग हस्तिनापुर से होकर जाता था। एक बार बुद्ध ने वेरञ्जा से सोरेय्य, संकास्य, कान्यकुब्ज और प्रयाग-प्रतिष्ठान (झूसी) होते हुए वाराणसी की यात्रा की थी।[5] सोरेय्य (सोरों) का व्यापारिक महत्त्व था जहाँ एक सेट्ठिपुत्र (श्रेष्ठीपुत्र) के बसे होने का उल्लेख प्राप्त[6] है। श्रावस्ती से तक्षशिला तक का मार्ग कदाचित् साकेत, प्रयाग, आड़वी (आलवी), कान्यकुब्ज, सोरेय्य, हस्तिनापुर और साकल होकर गुजरता था। प्रयास से हस्तिनापुर का मार्ग प्रायः गंगा नदी के दाहिने किनारे से होकर जाता था। वत्स राज्य की राजधानी कौशाम्बी बुद्धकालीन भारत की छह[7] महानगरियों में एक बतायी गयी है, जो उत्तर, उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणापथ को जोड़ने में स्थलसेतु का काम करती थी। कोसल, वैशाली और राजगृह (मगध) के लिए भी यहाँ से मार्ग निकलते थे।

सुत्तनिपात (सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईष्ट, जिल्द १०, ९७६-९७७वें श्लोक तथा १०११-१०१३वें श्लोक) में वावारि नामक ब्राह्मण के शिष्यों की उत्तर भारत के कोसल राज्य तक की यात्रा के जो विवरण हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने दक्षिण की गोदावरी

---

(१) जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, १९६७, पृष्ठ, २५५-२५६।
(२) गलालशेखर डिपापाने., जिल्द १, पृष्ठ ९८२।
(३) प्रिजिलुस्की, जर्नल एशियाटिके, १९२६, पृष्ठ ३; इण्डियन्, स्टडीज़, पास्ट ऐण्ड प्रेजेण्ट, पृष्ठ ७३३-७३६।
(४) फॉसबाल पाटेसो., जिल्द ५, पृष्ठ २७८।
(५) विनयपिटक, पाटेसो., जिल्द ३, पृष्ठ ११।
(६) डिपापाने., जिल्द २, पृष्ठ १३११।
(७) दीघनिकाय, मुम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग-२, पृष्ठ ११६; रॉकहिल, दि लाइफ ऑफ् दि बुद्ध, पृष्ठ १३६।

नामक नदी के किनारे बसे हुए आड़क नामक स्थान से प्रारम्भ कर प्रतिष्ठान (दक्षिण भारत का पैठन), माहिष्मती (महेश्वर), उज्जैन, गोनद्ध, विदिशा, वनसस्वय, कौशाम्बी और साकेत (अयोध्या के पास) होकर कोसल तक की यात्रा की थी। स्पष्ट है कि दक्षिणापथ को जाने वाला यह मार्ग सांस्कृतिक और व्यापारिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बहुप्रयुक्त था। बुद्ध को श्रावस्ती में न पाकर उन शिष्यों ने कपिलवस्तु और वैशाली होते हुए, कहीं राजगृह के पास, पासाणकचेतिय नामक स्थान जाकर उनके दर्शन किये थे। मार्ग में वे सेतव्या, कपिलवस्तु, कुसिनारा, पावा, वैशाली और राजगृह से गुजरे। स्पष्ट है, श्रावस्ती से पूर्व में वैशाली, पाटलिपुत्र और राजगृह से अंग जनपद की राजधानी चम्पा तक सड़कें जाती थीं, जो उस समय व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। वहाँ चम्पा और गंगा के संगम पर बसा हुआ एक बन्दरगाह था। पूर्व में चम्पा से आगे भद्दिदया, कजंगल और ताम्रलिप्ति नामक व्यापारिक केन्द्रों की भी बौद्ध साहित्य में चर्चाएँ मिलती हैं। ताम्रलिप्ति से गंगा के माध्यम से जाने वाला मध्यभारतीय माल आगे समुद्री जहाजों में भरकर पूर्व के उन सामुद्रिक छोटे-बड़े द्वीपों को भेजा जाता था, जिन्हें भारतीयों ने सुवर्णद्वीप के एक सामूहिक नाम से पुकारा था। प्रयाग, कौशाम्बी, सहजाति, वाराणसी, पाटलिपुत्र, चम्पा और ताम्रलिप्ति होते हुए सुवर्णभूमि तक के व्यापार के उल्लेख पालि साहित्य में भरे पड़े हैं।[१] इन सभी स्थानों को एक दूसरे से जोड़ने का प्रमुख माध्यम गंगा नदी ही थी। उस युग में व्यापारिक सार्थ चम्पा से वाराणसी होते हुए कौशाम्बी, मथुरा[२] और सिन्धु-सौवीर तक की यात्राएँ करते थे। रोरुक सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी थी, जिसको मथुरा से जोड़ने वाले दो मार्ग थे – एक द्वारिका[३] से होकर और दूसरा इन्द्रप्रस्थ और रोहितक (रोहतक) से होकर। आगे कदाचित् यही मार्ग कम्बोज होते हुए बैक्ट्रिया (बल्ख) को जाता था।

बौद्ध साहित्य में श्रावस्ती के उल्लेख सर्वाधिक हैं। तत्कालीन छह महानगरों में वह भी एक था। राजगृह से जो व्यापारपथ तक्षशिला तक जाता था, उसमें से एक तो वाराणसी से होकर और दूसरा श्रावस्ती से होकर निकलता था।[४] राजगृह-श्रावस्ती-तक्षशिला मार्ग की लम्बाई १६२ योजन थी। श्रावस्ती से उत्कल (कलिंग-उड़ीसा) के दन्तपुर नामक बन्दरगाह तक भी एक मार्ग दक्षिण-पूर्व में संभवतः समुद्र को जोड़ता था।[५] वास्तविक रूप में श्रावस्ती उत्तर भारत का एक अत्यन्त ही विकसित व्यापारिक केन्द्र था, जिसके नामकरण (सब्बं अत्थि = जहाँ सब कुछ प्राप्त है) के पीछे उसकी सम्पन्नता छिपी हुई थी।[६] श्रावस्ती एक ऐसे राजपथ पर स्थित था जो उसे भारतवर्ष की प्रत्येक दिशाओं में बसे हुए प्रायः प्रत्येक बड़े नगरों से जोड़ता था। श्रावस्ती से पूर्व में राजगृह को जाने वाला पथ सेतव्या, कपिलवस्तु, कुसिनारा, भोगनगर और वैशाली होकर गुजरता था।[७] दक्षिणापथ में प्रतिष्ठान (पैठन) को

(१) विनयपिटक पाटेसो., जिल्द २, पृष्ठ २६०।
(२) विमानवत्थु अट्ठकथा, पाटेसो पृष्ठ ३३२।
(३) रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ २२६।
(४) मलालशेखर, डिपापाने., जिल्द २, पृष्ठ ७२३।
(५) जातक, फॉसबाल, पाटेसो., जिल्द २, पृष्ठ ३६७, ३११, ३८६; जिल्द ३, पृष्ठ ३७६।
(६) बुद्धघोष, पपञ्चसूदनी जिल्द १, पृष्ठ ६०; विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४, पादटिप्पणी २।
(७) विनयपिटक, ओल्डेनवर्ग द्वारा सम्पादित, जिल्द २, पृष्ठ १५६ और आगे; सुत्तनिपात, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २१२-२१३।

जाने वाला मार्ग साकेत, कौशाम्बी, वनसस्वय, विदिशा, गोनद्ध और उज्जैन से होते हुए जाता था।[1] जौनपुर जिले के कीटागिरि (केराकत) से होकर जाने वाला मार्ग इसे वाराणसी से जोड़ता था।[2] श्रावस्ती के उत्तर में कुछ दूरी पर कुक्कुट नामक एक ऐसा छोटा नगर भी था जहाँ व्यापार हेतु व्यापारी पहुँचते थे। इस प्रकार श्रावस्ती काशी-कोसल जनपदों का वाराणसी की तुलना में ही एक प्रमुख नगर था, जहाँ सभी प्रकार से सन्तुष्ट और सम्पन्न ५७ हजार परिवारों का निवास था।[3] उन दोनों जनपदों की आय का वह केन्द्रबिन्दु था जो उनके ३०० योजनों में फैले हुए ८० हजार गाँवों से उत्पन्न होती थी।[4]

मेगास्थनीज़[5] ने प्यूकेलायोटिस् = पुष्कलावती (भरत के पुत्र पुष्कल द्वारा स्थापित) नामक नगर से प्रारम्भकर पूर्व में पाटलिपुत्र और आगे गंगासागर तक जाकर समुद्र को स्पर्श करने वाली उस विकसित सड़क का ब्यौरा उपस्थित किया है, जिसे आजकल ग्राण्डट्रंकरोड कहा जाता है और जिसके निर्माण का श्रेय बहुधा शेरशाह सूरी को दिया जाता है। यूनानी इतिहासकार इसे 'राजकीय पथ' की संज्ञा देते हैं जो मौर्ययुग का प्रधान वणिक्पथ था। पुष्कलावती से यह पथ तक्षशिला पहुँचता था, जिसके बीच में उद्धाण्डपुर (ओहिन्द, सिन्धु नदी पर स्थित) था। आगे झेलम नदी को पार करते हुए, पुनः व्यास और सतलुज को पारकर यह मार्ग यमुना नदी के किनारे को छूता था। आगे हस्तिनापुर होते हुए गंगापार जाता था। पुनः कान्यकुब्ज, प्रयाग, वाराणसी तथा पाटलिपुत्र होते हुए इसके पूर्वी छोर का गन्तव्यस्थल ताम्रलिप्ति बन्दरगाह था।[6]

दक्षिण भारतीय आन्तरिक पथ

कौटिल्य, अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के विपरीत, व्यापार हेतु समुद्री मार्गों की अपेक्षा स्थलीय मार्गों को अधिक महत्त्व देता है क्योंकि स्थलीय मार्ग वर्ष के बारहों महीनों तक खुले रहते हैं, समुद्र यात्राओं की अपेक्षा उनकी बाधाएँ कम होती हैं और जो बाधाएँ होती भी हैं, उनका सामना अपेक्षया आसानी से किया जा सकता[7] है। पुनः, हिमालय की ओर उत्तर की तरफ जाने वाले पथों की अपेक्षा कौटिल्य दक्षिण की ओर जाने वाले व्यापार मार्गों को अधिक महत्त्व देता है और उन्हें ग्राह्य इस कारण बताता है कि दक्षिण में बहुमूल्य रत्न-मोती, हीरे, सीपी और सोना प्राप्त होते हैं। यह मत भी, उसके अनुसार, पूर्ववर्त्ती

(१) सुत्तनिपात, उपरिनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१२-२१३।

(२) मज्झिमनिकाय, पाटेसो., जिल्द १, पृष्ठ ४७३; विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३५०।

(३) बुद्धघोष, समन्तपासादिका, पाटेसो., जिल्द ३, पृष्ठ ३१४।

(४) वहीं।

(५) मिक्रिण्डल्, मेगास्थनीज़ ऐण्ड एरियन्, पृष्ठ ४७-४८; रालिंसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४६।

(६) ब्यौरों के लिए देखें, प्लिनी, नेचुरल हिस्ट्री, षष्ठम् २१; स्ट्रैबो, ज्याग्रफी, १५वाँ, प्रथम और द्वितीय; मिक्रिण्डल्, ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, पृष्ठ १६।

(७) तत्रापि वारिस्थलपथयोर्वारिपथः श्रेयान्, अल्पव्ययव्यायामः प्रभूतपण्योदयश्च इत्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। संरुद्धगतिरसार्वकालिकः प्रकृष्टभययोर्निविघ्नप्रतीकारश्च वारिपथः। विपरीतः स्थल पथः। अर्थ, ७वाँ, १२वाँ अध्याय।।

आचार्यों के विपरीत[1] है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग आते-आते भारत का उत्तराभिमुख स्थलीय व्यापार दक्षिणाभिमुख स्थलीय व्यापार की अपेक्षा मात्रात्मक और लाभ दोनों ही दृष्टियों से अधिक हो गया था।

दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के उन समुद्रतटीय बन्दरगाहों का उल्लेख किया जा चुका है, जो भारतवर्ष को एक ओर पश्चिमी देशों-अरब, मिस्र, अफ्रीका और रोम से व्यापारिक रूप से जोड़ते थे और दूसरी ओर सिन्ध, अपरान्त, सुराष्ट्र, काठियावाड़, मलावार, द्रविड़प्रदेशों, सिंहल, पूर्वी समुद्रतट, गंगासागर और उसके उत्तर तथा पूर्व तक के देशों को जोड़ते थे। **पेरिप्लस्** इन विवरणों का एक खजाना ही है। साथ ही, ये समुद्रतटीय मध्यवर्ती और भीतरी भागों को भी आपस में जोड़ते थे, जिनकी चर्चा अनेक जातकों में प्राप्त होती है। बारवेरिकम् बन्दरगाह (सिन्धु नदी के मध्यवर्ती मुहाने पर स्थित) और मिन्नगर (संभवतः पटल) के बीच होने वाले व्यापार छोटी-छोटी नौकाओं से अनेक सामुद्रिक कठिनाइयों के बीच ही होता था। पश्चिमी समुद्रतट का सर्वाधिक उपयुक्त बन्दरगाह बैरिगज़ा (भृगुकच्छ = भरुच) था जिसे एक जातक पट्टनगाम बन्दरगाह (पत्तन) कहता[2] है और वहाँ से सिंहल (लंका) और सुवर्णभूमि तक जहाजों के जाने का उल्लेख करता है। वहाँ से एक व्यापारिक मार्ग उज्जैन नगर को जाता था। पीछे हम देख चुके हैं[3] कि किस प्रकार माहिष्मती और उज्जैन होते हुए प्रतिष्ठान (दक्षिणापथ का पैठन) से एक व्यापार मार्ग विदिशा, कौशाम्बी, साकेत श्रावस्ती और राजगृह तक चला जाता था। **चुल्लसेट्ठि जातक** (फॉसबाल, पाटेसो, जिल्द १, पृष्ठ ६२६) के अनुसार भृगुकच्छ वाराणसी से भी सड़क द्वारा जुड़ा हुआ था। भृगुकच्छ से प्रतिष्ठान (पैठन) तक सीधे भी एक मार्ग जाता था जो पूर्वाभिमुख होकर कृष्णागोदावरी के खाले में स्थित धन्नकटक (धान्यकटक) तक पहुँचता था। धान्यकटक आन्ध्र-सातवाहनों की राजधानी था और एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था।[4]

पश्चिमी तट पर ठाणे जिले में स्थित सूर्पारिक (सुपारक-सोपारा) भृगुकच्छ की दक्षिण की ओर का एक अन्य बन्दरगाह था जो कल्याण (कल्लियेन) नामक बाजारनगर का समुद्री पत्तन था। कास्मॉस् इण्डियोप्लूयेस्टस् (छठीं शताब्दी) कल्याण नगर को पश्चिम भारत के उन पाँच मुख्य बाजारों में गिनता है जहाँ से पीतल, कपड़ों, इमारती लकड़ी और साधारण लकड़ी का व्यापार होता था। वहाँ से श्रावस्ती नगर तक का एक सीधा मार्ग था जो १२० योजन लम्बा था।[5] कल्याण और माहिष्मती होते हुए वहाँ से एक अन्य मार्ग दक्षिणापथ को जाता था। सुदूर दक्षिण में टिण्डिस् नामक चेर देश का पश्चिम समुद्रीतट का वह बन्दरगाह था, जिसे **पेरिप्लस्** के अनूदक ने पोन्नामी नामक नगर से मिलाया जो उसी नाम की नदी के मुहाने पर बसा हुआ था। इस बन्दरगाह से वहाँ पैदा होने वाली काली मिर्च का व्यापार

---

(१) स्थलपथेऽपि हैमवतो दक्षिणपथाच्छ्रेयान् हस्त्यश्वगंधदन्ताजिनरुप्यसुवर्णपण्याः सारवत्तराः इत्याचार्यः। नेति कौटिल्यः। कम्बला जिनाश्व पण्यवर्ज्याः शंखवज्रमणिमुक्ताः सुवर्ण पण्याश्च प्रभूततराः। वहीं, ७वाँ, १२वाँ अध्याय।

(२) जातक, फॉसबाल, पाटेसो., जिल्द ३, पृष्ठ १३७।

(३) पीछे, पृष्ठ, १६७।

(४) नीलकण्ठ शास्त्री, मौर्यज़ ऐण्ड सातवाहनज, पृष्ठ ४३८।

(५) धम्मपद अट्ठकथा, हार्वर्ड ओरियण्टल् सीरिज, २६वाँ जिल्द; ज्याग्राफी ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२६।

अन्यान्य देशों को होता था।[1] पोन्नानी नदी के माध्यम से ही पश्चिमी घाट से पूर्वी घाट तक पालघाट होते हुए एक महद्मार्ग जाता था।[2] पाण्ड्य देश में नेलकान्द (नीलकण्ठ) और बकारे (बोक्कई) नामक दो बन्दरगाह पाण्ड्यराज्य की राजधानी मदुरे (मदुरा) से जुड़ते थे। वहाँ से पेरियार नदी के मुहाने पर बसे हुए वेंगी नगर के लिए व्यापार मार्ग जाते थे। मदुरे से चोल राज्य की राजधानी उरैयूर का मार्ग तिरुमलाई पहाड़ियों से होकर गुजरता था, जहाँ आम, नारियल और तालवृक्षों की हरियाली प्रभूत थी और जहाँ प्याज, केसर, बाजरा, पहाड़ी चावल, कन्दमूल और ईख की खेती बहुतायद से होती थी।[3]

आयात-निर्यात की वस्तुएँ

उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व दिशाओं की ओर होने वाले भारतीय व्यापार की अपेक्षा पश्चिमदिशायी व्यापार और आवागमन बहुत पहले ही (ईसा पूर्व २६वीं-२७वीं शताब्दियों में) प्रारम्भ हो चुका था। मिस्र के छठें राजवंश (२६०० ई.पू.) के समय के आसवान से प्राप्त हरखुफ के अभिलेखों में सर्वप्रथम मिस्र में नूबिया से लायी गयी व्यापारिक वस्तुओं में सुगन्धों, आबनूस की लकड़ी, अन्न, तेंदुआ तथा हाथीदाँत की गिनती की गयी है।[4] राजा सॉलोमन (८०० ई.पू.) की राजगद्दी हाथीदाँत की ही बनी हुई थी, जो सोने से आवेष्ठित थी। थार्सिस् की उसकी जलसेना प्रत्येक तीसरे वर्ष उसे सोने, चाँदी, बन्दरों और मोरों की भेंट दिया करती थी।[5] उपर्युक्त हाथीदाँत, (जिनसे मिस्र राजदरबार की बहुत सी वस्तुएँ-कुर्सी, टेबुल, आलमारी, कोडे और मूर्तियाँ बनी हुई थीं), संभवतः इथियोपियायी हाथियों से प्राप्त होते होंगे। किन्तु असंभव नहीं है कि कुछ वस्तुएँ भारतीय निर्यात के रूप में भी वहाँ पहुँची हों।

चौथी शती ईसवी (३३० ई.) में अबीसीनिया के लोगों ने ईसाईयत अपना लिया। किन्तु उसके पूर्व वे संभवतः बौद्धधर्म से प्रभावित थे। जेम्स् फर्ग्युसन् का कथन[6] है कि अक्जुम का प्रस्तरीय शिलास्तम्भ भारतीयता से प्रभावित है और बोधगया के मन्दिर के शिखर से उसकी बहुत ही साम्यता है। उनके शब्दों में "भारतीय और मिस्री कला का यह विचित्र विवाह . . . . दोनों देशों के लोगों के व्यापारिक सम्मिलन के प्रतीक स्वरूप" में उपस्थित है। ईसा की दूसरी शताब्दी (१८०-१९२ ई.) में भारत से प्राप्त होने वाली और यहाँ से फारस होकर रोम तक निर्यात होने वाली जो सर्वप्रमुख धातु थी वह थी लोहा। रोम के शासकों ऑरेलियस् (१६९-१८० ई.) और कोमान्डस् ने 'फेरस् इण्डिकम्' अर्थात् भारतीय लोहे और इस्पात की बनी वस्तुओं पर आयात कर लगा रखा था। ईसा पूर्व की चौथी सहस्राब्दी में भारतीय कपास और उसके बुने हुए कपड़े समुद्र के रास्ते फारस की

(१) पेरिप्लस्, स्कॉफ्, पृष्ठ २०४-२०५।
(२) कनकसभाई पिल्लै, तमिल एटीन हण्ड्रेड इयरस् एगो, पृष्ठ १५।
(३) शिलपद्दिकारम्, प्रथम, १.६०-१०७।
(४) ब्रीस्टेड, ऐंश्येण्ट रेकार्ड्स् ऑफ् इजिप्ट, पेरिप्लस् (स्कॉफ, पृ. ६१) से उद्धृत।
(५) वहीं।
(६) हिस्ट्री ऑफ् आर्किटेक्चर, जिल्द १, पृष्ठ १४२-१४३।

खाड़ी तक पहुँचते थे और वहाँ से उनका निर्यात मिस्र को होता था।[1] **पेरिप्लस्**[2] में दक्षिणी अरेबिया, सोकोट्रा और पूर्वी अफ्रीका में गेहूँ के मिस्र और भारतवर्ष से आयात का उल्लेख है। दूसरी ओर इटली और लावोडीसीया से भारतवर्ष में शराब का आयात होता था। यमन में बनायी जाने वाली अंगूरी शराब सहित अरब के अन्य स्थानों से भी शराब भारत में आयातित होती थी।[3] कन्नड़ से ट्रावनकोर तक की पश्चिमी घाट की निचली पहाड़ियों में उत्पन्न होने वाला कुमकुम रोम को निर्यात होता था।[4] रोम को निर्यात होने वाली किसी वृक्ष की ऐसी छाल का भी प्लिनी उल्लेख[5] करता है जो मधु में मिलाकर एक गोली अथवा अर्क के रूप में अतिसार की दवा का काम करती थी। मलावार क्षेत्र में इस वृक्ष की उत्पत्ति होती थी, जिस कारण पुर्तगालियों ने इसे **हर्बा मलाबारिका** नाम दिया। मलावार क्षेत्रों से दालचीनी का भी निर्यात होता था। ईसा की पहली शताब्दी में भारतीय व्यापारी पूर्व अफ्रीका से व्यापार करते थे, जहाँ अरब व्यापारी उसकी एक शताब्दी पूर्व से ही जमे हुए थे।[6] **पेरिप्लस्** में अबीरिया (ओफीरफारस की खाड़ी का समुद्रतटीय क्षेत्र) की चर्चा है जहाँ से अनेक भारतीय वस्तुएँ सोमालिया के बन्दरगाहों तक जाती थीं। इनको ढोने वाले जहाज भारतीय होते थे और खम्भात की खाड़ी से वे अपनी यात्राएँ प्रारम्भ करते थे। समुद्री किनारों को पकड़े हुए, कुछ दक्षिण की ओर और कुछ पश्चिम की ओर बढ़ते हुए, ये लाल समुद्र के मुहाने पर ओसेलिस् बन्दरगाह को पहुँचते थे, जहाँ वे अपना माल अरबों को सौंप देते थे। अरब जहाजी भारतीय नाविकों को ओसेलिस् से आगे (रोम तक) नहीं जाने देते थे और आगे के देशों से व्यापार को वे अपने ही हाथों में रखते थे। किन्तु लगभग २००० वर्षों तक ऐसी स्थिति रहने के बाद ईसा की पहली शताब्दी में रोमक लोगों ने अपना संचार भारतवर्ष से सीधे बढ़ा लिया। ओफीर (अबीरिया) से जो वस्तुएँ लाल सागर और उसके आगे तक व्यापारित होती थीं, वे सभी भारत में ही उत्पन्न होती[7] थीं – यथा सोना, चन्दन की लकड़ी, कीमती पत्थर, हाथीदाँत, चाँदी, बन्दर और मोर (शिखी)। यह व्यापार मिस्री शासक सॉलोमन (८०० ई.पू.) के काल के लगभग २००० वर्षों पूर्व से ही चला आ रहा था। ईसा की पहली शती में सोमालिया को भारतवर्ष से घी का भी निर्यात होता था। भारतीय निर्यातों में शर्करा अर्थात् चीनी भी थी। जंजीबार के समुद्रतटों तक भारत से नारियल के तेल का व्यापार होता था। वहाँ नारिकेल को नार्गिलिओस् कहा जाता था।

पेट्रा (वादी मुसा) फारस की खाड़ी के पूर्व वाले व्यापार पथों और यमन के उत्तर जाने वालो मार्गों को जोड़ता था और दोनों दिशाओं के व्यापार का केन्द्र होने के कारण अनेक शताब्दियों तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बना रहा। किन्तु बाद में अरेबिया। (यमन) को छोड़ते

---

(१) पेरिप्लस्, ६; स्कॉफ का अनुवाद, पृष्ठ ७१।
(२) वहीं, पृष्ठ ७६।
(३) वहीं, पृष्ठ ७७।
(४) प्लिनी, १२वाँ, ४४।
(५) १२वाँ, १६।
(६) स्कॉफ, पेरिप्लस्, पृष्ठ ८८।
(७) वहीं, पृष्ठ ८९ और १७५।

हुए भारतीय जहाज सीधे मिस्र तक पहुँचने लगे और इस प्रवृत्ति का मिस्र के टॉलेमी उपाधिधारी शासकों के समय बड़ा विकास हुआ। प्लिनी (१३वाँ, २) रोम को होने वाले भारतीय निर्यातों में केसर को मुख्य स्थान देता है जहाँ उसका प्रयोग भोजनसामग्री में खुशबू घोलने के अतिरिक्त रँगाई, औषधियों और सुगंधों में किया जाता था। भूमध्यसागर में उत्पन्न होने वाले लाल मूँगे की माँग भारत और चीन में बहुत अधिक थी और उसकी कीमत भी काफी लगती थी। रोम से उसका निर्यात, वारबेरिकम् (सिन्ध नदी के मुहाने पर), बैरीगज़ा (भृगुकच्छ) और मुजिरिस् के बन्दरगाहों (भारत में) को होता था। कनानेर बन्दरगाह में इसका आयात कर हिन्दुओं अथवा अरबों के जहाजों में इसे भारत को पुनः निर्यातित किया जाता था।[१] वहीं से भारत को शिलाजीत का भी निर्यात होता था। ओम्मन (ओमान) से भारतीय व्यापार बहुत अधिक मात्रा में होता था। भारतीय माल यहाँ से भूमिमार्ग (अरब के आगे जाने वाले कारवाँ मार्ग) से होते हुए भूमध्यसागर तक जाता था। भारतीय निर्यातों में फारस की खाड़ी को भेजा जाने वाला ताँबा, सागौन, चन्दन तथा शीशम की लकड़ी का उल्लेख **पेरिप्लस्**[२] में विशेष रूप से हुआ है। इसमें चन्दन का व्यापार तो छठी शताब्दी ईसा पूर्व से ही प्रारम्भ हो चुका था। इसी तरह मिस्र को भारतवर्ष से आबनूस (कोविदार) की लकड़ी का भी निर्यात सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व से ही होता था। **पेरिप्लस्** बैरीगज़ा (भृगुकच्छ) से ओम्मान और अपोलोगस तक इसे निर्यातित होना बताता है।[३] प्लिनी के[४] अनुसार आवनूस भारत और मिस्र दोनों ही स्थानों से रोम भेजा जाता था, जो पाम्पै महान् की एशिया की विजय के बाद संभव हुआ। बहरीन में प्राप्त होने वाले मोती भारतीय मोती की तुलना में कुछ पीले और अधिक चमकदार होते थे और भारत में उनकी बड़ी माँग थी। खजूर से निकलने वाली शराब भी भारत में आती थी। **पेरिप्लस्** में कश्मीर में उत्पन्न होने वाले कुश्थ (कूँठ) का उल्लेख है जो रोम साम्राज्य में भोजन के मसालों, सुगंध तथा कई प्रकार के मलहमों के रूप में प्रयुक्त होता था। हिमालय की मध्यवर्त्ती ऊँचाइयों पर झड़बेर की उत्पत्ति होती थी जो दारुहरिद्रा या हिमहरिद्रा के नाम से अभिज्ञात थी। इसी प्रकार की एक और कठघास थी (जटामासी) जो पश्चिमी पंजाब से बलूचिस्तान और फारस तक के क्षेत्रों में पायी जाती थी। 'भारत के पीछे वाले देशों' से एक विशेष प्रकार का नीलम प्राप्त होता था जो सिन्धु नदी के मुहाने के बन्दरगाहों में बिकने जाता था। लोहा अथवा इस्पात खम्भात की खाड़ी से मिस्र और सोमालिया की खाड़ी को भेजा जाता था।[५] चीन से जो रेशम भारतवर्ष में आयातित होता था उसका बहुत बड़ा भाग या तो सिन्धु तट के बन्दरगाहों अथवा गंगासागर (ताम्रलिप्ति) अथवा खम्भात की खाड़ी अथवा त्रावनकोर के तटीय बन्दरगाहों से विदेशों को भेजा जाता था।[६] पश्चिमी भारत में उत्पन्न होने वाली नील भी

---

(१) पेरिप्लस्, २८; स्कॉफ, पृष्ठ १२८।

(२) पेरिप्लस्, ३६; स्कॉफ, पृष्ठ १५१-१५२।

(३) स्कॉफ, पृष्ठ १५३।

(४) १२वाँ, ८-६।

(५) स्कॉफ, पृष्ठ १७२।

(६) वहीं।

रंगसाज़ी के लिए निर्यात की जाती थी। खम्भात की खाड़ी से तिल का तेल अरब और अफ्रीका को निर्यात किया जाता था, जहाँ से आगे वह रोम जगत को जाता था।[1] अफ्रीकी तट के देशों में घी की बहुत माँग थी। श्वाँस और दमा की दवा के रूप में काम आने वाली संखिया का भारत में आयात होता था जो फारस और कारमानिया से फारस के अनेक बन्दरगाहों से होकर आती थी। खम्भात की खाड़ी से होकर भूमध्यसागर तक के तटीय प्रदेशों तक भारत के जिन बहुमूल्य रत्नों = पत्थरों का निर्यात होता था, वे थे सुलेमानी पत्थर (गोमेद) तथा इन्द्रगोप (गोमेद)। उन पत्थरों से वहाँ फूलदान और कटोरी जैसी चीजें बनायी जाती थीं। खम्भात का क्षेत्र इन पत्थरों से जुड़े उद्योगों का प्रधान केन्द्र था। आभूषणों और सजावटी सामानों में उनका बहुविध प्रयोग होता था। प्रतिष्ठान कपड़े के व्यापार का एक प्रधान केन्द्र था। भारतवर्ष में जब युह्-ची शासकों – प्रथम कदफिसस्, द्वितीय कदफिसस् और कनिष्क का शासन स्थापित हुआ तो भारत और रोम के बीच का व्यापार बहुत तेजी से विकसित हुआ। अब गंगा से फरात (यूफ्रेटीज़) नदियों के बीच के क्षेत्रों में एक नियमित व्यापारिक मार्ग स्थापित हो गया। रोमक सिक्कों की तर्ज पर युह्-ची शासकों ने भी अपने सिक्के ढलवाये। प्रथम कदफिसस् के सिक्के तो कांसे के थे किन्तु रोम से उस समय मसालों और मलमल (मुख्यतः) के बदले जो सोने के सिक्के बहुत बड़ी मात्रा में दक्षिणी भारत में पहुँचे उनकी नकल पर द्वितीय कदफिसस् ने सोने के सिक्के चलाये। ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियों में पश्चिमी जगत से भारत का जो भी व्यापार होता था, उसमें रोम को होने वाले मसालों का निर्यात लगभग तीन चौथाई की मात्रा में था। दक्षिण भारत के नमी वाले विविध क्षेत्रों में पिप्पली (पीपर और सफेद मिर्च) की भरपूर खेती होती थी। रोमक लोगों द्वारा एशिया माइनर, सीरिया और मिस्र की विजय के बाद ये बहुत बड़ी मात्रा में रोम जाने लगीं। वहाँ की भोजन सामग्री में इसका प्रयोग और इसकी माँग इतनी अधिक थी कि इसकी एक पौण्ड की बाजार में कीमत लगभग १५ दीनार (ढाई पौण्ड) के आसपास[2] थी। रोम के सम्राट् कांस्टेन्टाइन ने एक संत के गिरजाघर में पूजा के हेतु जो चीजें चढ़ायीं उनमें सुगन्धयुक्त द्रव और मसाले, लोहबान जटिला कठघास, राल, शिलाजीत, मुर नामक सुगन्धित पौधा, दालचीनी, केसर और पिप्पली (पीपर अथवा मिर्च) शामिल थीं। मिर्च (लाल और काली) दोनों मलावार क्षेत्र में विशेषरूप से उत्पन्न की जाती थीं। इन मिर्च-मसालों के बदले रोम भारतवर्ष को जो सोना प्रतिवर्ष भेजता था, उसका रोना रोते हुए प्लिनी कहता है – "किसी भी वर्ष भारत ५५ करोड़ सेस्टेरेस् (दो लाख बीस हजार पाउण्ड) से कम नहीं खींचता और जो देता है, वह यहाँ सौ गुना अधिक कीमत पर हमारे बीच बिकता है।" प्लिनी के पूर्व रोम के सम्राट् टाइनेरियस् ने भी (२२ ई.) अपने एक सन्देश में रोम की सीनेट को इस विचित्र स्थिति से अवगत कराया था। रोम से भारतवर्ष को आने वाले धन (सोने) के प्रवाह का फल यह हुआ कि आगे वहाँ के शासकों को सोने के बदले चाँदी के सिक्के चलाने पड़े और वहाँ के सिक्कों का अवमूल्यन हो गया। दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाले रोमक सिक्कों (सोने के) की सर्वाधिक संख्या टिबेरियस्, कैलिगुला, क्लाडियस् और

---

(१) वहीं, पृष्ठ १७७।

(२) प्लिनी, १२वाँ

नीरो की हैं।

गुप्त साम्राज्य के पतन काल (छठीं शताब्दी के मध्य भाग) में भारत आने वाला कास्मस् इण्डिको प्लूयेस्टस् ने उस युग के भारतीय आयात-निर्यात का एक अच्छा परिचय उपस्थित किया है।[1] उस समय तक भारतीय व्यापार का एक बड़ा आयाम लंका (सिंहल) की ओर मुड़ चुका था जो भारतीय महासमुद्र के करीब-करीब बीचोबीच उस द्वीप की स्थिति होने के कारण सहज था। वहाँ जो भी माल आयातित होते थे उन्हें पुनः या तो पूर्व के द्वीपसमूहों में सीधे समुद्र से भेजा जाता था अथवा पश्चिम के समुद्री मार्गों से पश्चिमी देशों को निर्यातित किया जाता था। कास्मस् भारत के पश्चिमी तट के समुद्री बन्दरगाहों की गिनती करते हुए सिन्धस्, गुजरात तथा कल्याण का उल्लेख करता है। विशेषतः वह मलय क्षेत्र के पाँच बन्दरगाहों – परती, मंगलोर, (मंगारोथ), सालोपत्तन, नालोपत्तन् (**पेरिप्लस्** का नेलक्यिन्दा = नीलकण्ठ) और पोन्दोपत्तन (मंगलोर और कालीकट के बीच में) का उल्लेख करता है। सातवीं शती के प्रथमार्ध में भारत की यात्रा करने वाला चीनी यात्री श्वान्-च्वाङ्ग उड़ीसा के गंजामक्षेत्र में स्थित चरित्र नामक बन्दरगाह और कोंगोद क्षेत्र के लोगों की सुखसमृद्धि का वर्णन करता[2] है। कास्मस् द्वारा दी गयी सूची में भारत के पूर्वी तट से निर्यातित वस्तुओं में मुसव्वर = लवंग और धीकुमार तथा चन्दन की लकड़ी होती थी जो सिंहल होते हुए भारत के पश्चिमी तट, फारस और अफ्रीका के इथियोपियायी तटों तक पहुँचती थीं। मलावार के पाँचों बन्दरगाहों से काली मिर्च का निर्यात होता था, तिल के डंठ्ठल (कपड़ों के निर्माण हेतु), काष्ठ तथा प्रसाधन की सामग्रियाँ कल्याण से प्राप्त होती थीं और जटामासी = वालछड़ हिमालयी क्षेत्रों से सिन्धस् (संभवतः **पेरिप्लस्** का बारबेरिकम्) तक पहुँचती थीं। मलय तथा पाण्ड्य क्षेत्रों में चन्दन की लकड़ी, काली मिर्च तथा दालचीनी बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न होती[3] थी और वे भी बाहर निर्यात की जाती थीं। कश्मीर और कुलूत देश से केसर तथा औषधीय मूल, दालचीनी, जटामासी और कुष्ठ (कूंठ-एक सुगंधयुक्त काष्ठ वृक्ष) प्राप्त होते थे जो पश्चिम में रोम तक भेजे जाते थे।[4] **अमरकोश** के अनुसार मासपर्णि कम्बोज में तथा शिल्ह या शिल्हक और हींग तुरुष्क, बाह्लीक एवं रमठ देशों से प्राप्त होते थे। ये सभी भारतीय आयात थे। पारसीक, बाह्लीक और कम्बोज (अफगानिस्तान) देश से अच्छी नस्लों के घोड़े (वनायुज) भारतवर्ष में मँगाये जाते थे, जिनका उल्लेख गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रन्थों में तो प्राप्त होता ही है, **महाभारत** और **कौटिलीय अर्थशास्त्र** में भी मिलता है। गुप्तकाल में भारतवर्ष से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में पाण्ड्य क्षेत्रों से प्राप्त मोती, मलयकूट (श्वान् च्वाङ्ग द्वारा कथित) से प्राप्त प्रबाल या विद्रुम, रेशमी वस्त्र (चीन से आयातित) तथा हाथी-दांत की कारीगरी मुख्य थीं। यहाँ कास्मस् के उस उल्लेख[5] की ओर भी इंगित करना आवश्यक है कि भारतवर्ष में इथियोपिया (अफ्रीका

---

(१) क्रिश्चियन् टोपोग्राफी ऑफ् कास्मस् १९वाँ, पृष्ठ ३६६-३६७ और आगे; मिक्रिण्डल् का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १६१ और आगे।

(२) वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२८।

(३) रघुवंश, चतुर्थ सर्ग, ६७; अमरकोश, द्वितीय, ६.१२४; वाटर्स्, जिल्द १, पृष्ठ २२५, २३६, २६१।

(४) वाटर्स्, जिल्द १, पृष्ठ २६१, २९८।

(५) मिक्रिण्डल्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६४-१६५।

महाद्वीप) से भी हाथीदाँत का आयात होता था, क्योंकि वहाँ के हाथी भारतीय हाथियों की अपेक्षा बहुत ही ऊँचे और विशाल तथा बड़े और मोटे दाँतों वाले होते थे। संभवतः इसका कारण यह था कि बड़े हाथीदाँतों से अपेक्षया बड़ी चीजें निर्मित की जाती रही होंगी, जिनकी निर्यातित कीमत भी छोटी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होती रही होगी। स्वयं सिंहल (लंका) में उत्पन्न होने वाली वे कौन सी वस्तुएँ थीं जिनका भारत को निर्यात होता था, इसकी कोई विशेष जानकारी नहीं है। किन्तु वहाँ की सीपियों और उनसे उत्पन्न होने वाले मोती कदाचित् उनमें सर्वोपरि थे। चूँकि भारत में चाँदी की खानों का अभाव था और लंका में खाने थीं, अतः वहाँ से चाँदी भी मँगायी जाती रही होगी। कल्हण कश्मीर की रानियों द्वारा लंका में बने वस्त्रों के पहनने का उल्लेख करता[1] है। **पेरिप्लस्** वहाँ के मलमल की बात करता है। म्लेच्छ देशों से तांबा मंगाया जाता था (अमरकोश)। किन्तु कास्मस् के अनुसार कल्याण में भी वह उत्पन्न होता था। वह यह भी बताता है कि नीलम लंका से और मरकत इथियोपियायी लोगों द्वारा नूबिया के निवासिओं से प्राप्तकर भारतवर्ष में निर्यातित होता था। किन्तु श्वान् च्वाङ्ग का कथन है[2] है कि सोना, चाँदी, पीतल, शुभ्र हीरा और खुरदुरे शीशे भारत में बहुतायद से मिलते थे और उनके प्राप्ति स्थल थे गंगाखाले के ऊपरी क्षेत्र तथा नेपाल और उत्तरपश्चिमी भारत। बहुमूल्य और उत्तम पत्थरों का एक प्रमुख उत्पत्ति क्षेत्र दक्षिण भारत का द्रविड़ प्रदेश भी था।

गुप्त युग के आते-आते ताम्रलिप्ति बन्दरगाह के बढ़ते हुए महत्त्व के साथ, पूर्वकाल की अपेक्षा, चीन से भारत का होने वाला व्यापार बहुत बढ़ गया। लियांग वंश (५०२-५५६ ई.) के ऐतिहासिक वृत्तों से ज्ञात होता है, कि कश्मीर में उत्पन्न केसर सहित अनेक सुगन्धित द्रव्यों, काष्ठ तथा जड़मूलों का तिब्बत और चीन सहित भारत के कई भागों में निर्यात होता था।[3] केसर, हीरे और चन्दन की लकड़ी भारतवर्ष से कम्बुज (कम्बोडिया) और उसके आगे पड़ने वाले दक्षिण-पूर्वी द्वीपों को भेजी जाती थीं। टांगवंश के इतिहास से ज्ञात होता है कि केसर की उत्पत्ति कश्मीर के अतिरिक्त उड्डियान, जागुड (जाबुलिस्तान) और बाल्टिस्तान में भी होती थी।[4] किन्तु यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि रेशम के अतिरिक्त चीन से भारतवर्ष में कौन-कौन सी अन्य वस्तुएँ आयात की जाती थीं। तथापि चीनी रेशम का आयात यहाँ इतना अधिक था कि वह पुनः अरब, पार्थिया, पश्चिमी एशिया और बाइज़ेण्टियम् के रोम-शासित प्रदेशों को भी भारतवर्ष से ही निर्यातित होता था। कदाचित् रोमक लोगों द्वारा शासित प्रदेशों (कुस्तन्तुनियाँ आदि में) सीधे भारतीय व्यापारिओं द्वारा रेशम व्यापारित न होकर पार्थियायी व्यापारियों द्वारा पहुँचाया जाने लगा। इस प्रकार चीनी रेशम के व्यापार में प्रथमतः तो भारत और दूसरे पार्थिया के व्यापारी पड़ाव और बिचौलियों के रूप में उभरे।

उत्तरी भारत के गरम प्रदेशों (असम, खासी पहाड़ियाँ, बिहार, बंगाल और मलय द्वीप समूहों) में लाल मिर्च की खेती होती थी और इसका निर्यात (सूखे रूप में) फारस (सासानी

(१) वाटर्स, जिल्द १।

(२) राज., प्रथम, २६१, २६७।

(३) शचीन्द्रकुमार मैती, इकनॉमिक लाइफ इन् नार्दर्न इण्डिया इन् दि गुप्ता टाइम्स्, पृष्ठ १७३।

(३) वहीं, पृष्ठ १७४।

क्षेत्रों) को किया जाता था।

पीछे हम देख चुके हैं कि भारत का रोम से होने वाला व्यापार प्लिनी के दिनों में अपने चरमोत्कर्ष पर था और भारतवर्ष के पक्ष में उसका अनुपात दसगुना अधिक था। किन्तु गाथ और हूण जातियों के रोम पर आक्रमण तथा अनेक अन्य कारणों से जब रोम का मूल साम्राज्य अवनत हो गया (चौथी-पाँचवी शताब्दियों में) तो भी बाइज़ेण्टियम् (कुस्तुन्तुनिया) को राजधानी बनाकर उनकी एक शाखा तुर्की में स्थापित हो गयी और भारतवर्ष से उसका व्यापार सम्बन्ध चालू रहा। वहाँ के शासकों के ढेरों सिक्के भारतवर्ष के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं जो वहाँ से निश्चय ही भारतीय निर्यातों के बदले आये होंगे। जस्टिनियन् के समय वाइज़ेण्टिया के क्षेत्रों को भारतीय भेड़ों के ऊन, जंग न लगने वाले लोहे (कुतुबमीनगर के पास के लौह स्तम्भ जैसे), मोती, नारंगी गोमेद, हीरे, नीलम, अफीम, बड़े-बड़े कछुओं की पीठ की खालें, रेशम, अर्धरेशमी कपड़े, कच्चे रेशम, भारतीय हिंजड़े, लाल मिर्च, सफेद मिर्च, कूंठ (सुगंधित काष्ठ) जटमासी (बालछड़), सिर्का, दालचीनी तथा हाथीदाँत की वस्तुएँ निर्यातित की जाती थीं।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि रोम.को होने वाला भारतीय निर्यात पूर्व की अपेक्षा भले ही कम हो गया हो, उसकी मात्रा अब भी काफी थी और दोनों ओर का व्यापार संतुलन संभवतः बराबर बराबर का ही था।

व्यापार मार्गों की बाधाएँ तथा मार्ग नियन्त्रण

प्रागैतिहासिक और आद्यैतिहासिक कालों की मार्ग बाधाओं के केवल अनुमान मात्र लगाये जा सकते हैं और उनका निश्चित स्वरूप नहीं खींचा जा सकता। किन्तु वैदिक ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में न तो मार्ग चोर-डाकुओं और हिंस्र पशुओं (मृग) से बहुत सुरक्षित थे और न उनके ऊवड़ खाभड़, पहाड़ी, कँटीले भागों और झाड़झंखाड़ों को ही पूरी तरह साफ किया जा सका था। तथापि पथ, प्रपथ और महापथ जैसे शब्दों के प्रयोग इस क्षेत्र में किये गये विकास को रेखांकित करते हैं। **शतपथ ब्राह्मण**[2] जैसे अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में **आवसथ** (रात्रिनिवासयोग्य स्थान) जैसे उल्लेख यात्रिओं की सुख-सुविधा हेतु राजकीय प्रयत्नों की ओर निर्देश करते हैं। बौद्धकाल आते-आते यात्रा पथों के निर्माण, उनके रखरखाव और उनकी सुविधाओं में काफी वृद्धि हो चुकी थी। जातकों में विभिन्न प्रकार की सड़कों में भेदस्वरूप महामग्ग, महापथ, राजमग्ग और उपपथ जैसे शब्दों के प्रयोग हुए हैं। **वाल्मीकि रामायण** वार्ताकर्म में कुशल (वार्ताकर्मकोविद)[3] अर्थात् सड़कों के निर्माण में कुशल कारीगरों और मजदूरों का उल्लेख करता है। तथापि यह निश्चित सा लगता है कि मौर्ययुग के पूर्व की प्रायः सभी भारतीय सड़कें असुरक्षित तथा ऊबड़खाभड़ थीं और वे या तो घने-घने जंगलों से होकर गुजरती थीं या उन रेगिस्तानों से होकर जाती थीं, जहाँ पानी का बिल्कुल ही अभाव था।[4] यह स्थिति चोर-डाकुओं और यात्रिओं-व्यापारिओं को

---

(१) शचीन्द्र कुमार मैती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७७।

(२) १२वाँ, ४.४.६।

(३) वा.रा. द्वितीय, ८०.५।

(४) जातक, फॉसबाल, जिल्द १, पृष्ठ १६४।

गुमराह करने और उन्हें लूट लेने वालों के लिए बड़ी आसान सिद्ध होती थी। एक जातक[1] में इन डाकुओं और लुटेरों के अतिरिक्त मार्गों की कठिनाइयों में हिंस्र पशुओं, सूखों और अकालों की भी गिनती की गयी है। ऐसी दशा में **सार्थ** (व्यापारिओं के काफिले) का एक नेता (सार्थवाह) तो होता ही था, उसके मार्गदर्शन हेतु स्थानीय पथ प्रदर्शकों[2] की भी नियुक्ति की जाती थी जो अपनी सेवा के बदले वस्तुओं के रूप में ही वणिकों-यात्रिओं से कुछ पाते थे। राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि इन यात्रामार्गों और व्यापारिओं की सुरक्षा के पूरे प्रबन्ध किये जाँय।

कौटिल्य अपने **अर्थशास्त्र**[3] में सड़कों द्वारा होने वाले व्यापार के नियंत्रण हेतु **शुल्काध्यक्ष** नामक अधिकारी के कर्त्तव्यों का एक विशद चित्र खींचता है और साथ ही व्यापारिओं की मार्गजनिक हानियों की क्षतिपूर्ति की भी व्यवस्था देता है, जिनमें क्षेत्र, दूरी और हानि के स्वरूप के अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन अधिकारिओं द्वारा लोगों को दिये जाने वाले दण्डों के उल्लेख हैं। सार्थों की चोर-डाकुओं से रक्षा हेतु **अर्थशास्त्र**[4] में **अन्तपाल** और **चोररज्जक** नामक राज्याधिकारिओं की नियुक्ति के उल्लेख हैं। राजपथों के सुरक्षा का कर्त्तव्य समाहर्त्ता[5] का था।

कभी-कभी यात्रा मार्गों के रखरखाव में कमी या बीच में पड़ने वाले जंगलों के कारण अथवा मार्ग की अन्य कठिनाइयों (जैसे निशानदेही के अभाव) के कारण बड़े-बड़े सार्थ अपना मार्ग ही भूल जाते थे। रात्रि में केवल तारों की स्थिति को देखते हुए, यात्राओं के कारण मार्गों की भूल हो जाया करती थीं। इन कठिनाइयों से पार पाने के लिए स्थलनियामक लोगों की नियुक्ति की जाती थीं और भरपूर मात्रा में भोजन, पानी, लकड़ी, तेल, अन्न आदि साथ ले चलना होता था, जिसका बँटवारा साथियों से भी कमी-कभी नहीं किया जा सकता था। प्रायः नगरों में विश्रामालयों (सभा) की व्यवस्था रहती थी, जो कभी-कभी नगरद्वारों पर भी बनाये जाते थे।[4]

जहाँ सीधे नदी मार्ग आसानी से उपलब्ध थे, वहाँ व्यापारीगण स्थलमार्गों को छोड़कर उन्ही को ग्रहण करते थे। कौटिल्य का कथन है कि उसके आचार्यों के मत में जहाँ जल और स्थल दोनों ही मार्ग उपलब्ध हों, वहाँ जलमार्ग को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर[5] है। उन्हें प्रत्येक नदी के मुख्य स्थानों पर किराये पर नावें उपलब्ध होती थीं जो थोड़ी या बड़ी दूरियों को सीधे, विना रुके हुए, तय करती थीं। गंगा और यमुना तथा उनकी सहायक नदियाँ हिमालय अथवा विंध्य पर्वतों से निकलती थीं और एक दूसरे से मिलती हुई एक जाल जैसा बनाती हुई पश्चिम और उत्तर से दक्षिणपूर्व की ओर समुद्र में जा मिलती थीं और उस दिशा के सभी देशों से होने वाली व्यापार की संवाहिका थीं। वाराणसी से ताम्रलिप्ति बन्दरगाह तक

---

(१) नवाँ, ३.११ और चौथा १३.१६।

(२) समाहर्त्ता दुर्गराष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत्. अर्थ, द्वितीय ६.१।

(३) जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृष्ठ १०३।

(४) जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० ९५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, द्वितीय, १०, २५; धम्मपद अट्ठकथा, हार्वर्ड ओरियेण्टल् सीरिज, जिल्द ३०, भाग ३, पृष्ठ १७०।

(५) तत्रापि वारिस्थलपथयोर्वारिपथः श्रेयान्। अर्थ., ७वाँ अधिकरण, १२वाँ अध्याय।

का नदीमार्ग सर्वप्रमुख[१] था जिसे सार्थों द्वारा जमीनी मार्गों से भी अधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाता था। ये नदी मार्ग पर्वतों, जंगलों और मरुस्थलों से निकलने वाले स्थलमार्गों की अपेक्षा चोर-डाकुओं से अधिक सुरक्षित, सरल, निरापद और जल्दी जाने वाले मार्ग थे। अतः उनका प्रयोग अधिक था।[२]

समुद्री मार्गों की बाधाएँ और भय सर्वाधिक थे। फिर भी मनुष्य लाभ के लोभ में अपनी जान जोखिम में डालकर भी समुद्रयात्राएँ करता ही था। जातकों में समुद्र में जाने वाले जहाजों के मारे जाने = टूट जाने के उल्लेख[३] बहुविध वर्णित हैं जिनके कारण थे या तो उनमें छेद होकर पानी भर जाना अथवा जल के भीतर छिपी हुई चट्टानों से टकरा जाना, समुद्री जन्तुओं के आक्रमण का होना, डाइनों और राक्षसों से उपस्थित भय और आतंक तथा समुद्री सर्पों (नागों) के आक्रमण आदि।[४] **अर्थशास्त्र**[५] में कौटिल्य स्थल यात्रा की अपेक्षा समुद्र यात्रा को अधिक खतरनाक और दुःखद बताता है। **पेरिप्लस्** का नाविक लेखक[६] कच्छ और खम्भात की खाड़ियों की चर्चा करते हुए कहता है, "वे, जो बरक (द्वारिका) की खाड़ी के बीच में फँस जाते हैं, नष्ट ही हो जाते हैं क्योंकि वहाँ की लहरें बहुत ऊँची और बहुत तेज हैं, समुद्र हाहाकारी और भयावह है और उसमें बहुत ही भवरें और चकोहें हैं। कहीं-कहीं तो समुद्रतल बहुत ही ऊँचा-नीचा है, कहीं पर्वतीय है और कहीं कहीं पानी का बहाव इतना पैना है कि लंगर ही उखड़ जाते हैं।" वहाँ के बड़े-बड़े सर्पों का भी वह उल्लेख करता है। इसी प्रकार वह अरेबिया के पास के सामुद्रिक भयों का भी उल्लेख करते हुए कहता है कि वहाँ समुद्री किनारे के भीतरी भागों में रहने वाले लोग बदमाश, बनजारों की तरह तम्बुओं में रहने वाले हैं, जो समुद्र के बीच से जाने वालों को लूट लेते हैं और जो जहाज किसी कारणवश मारे जाते हैं, उनके नाविकों-व्यापारिओं को वहाँ के शासक और सरदार लोग गुलाम बना लेते हैं। सारे अरबीतट के किनारे का नौकायन खतरनाक है, वहाँ बन्दरगाह भी नहीं है; वहाँ खतरनाक चट्टानें हैं और वहाँ लंगर नहीं डाले जा सकते हैं।[७] ये तो समुद्र की प्राकृतिक विपत्तियाँ थीं। मनुष्यकृत विपत्तियाँ भी कम नहीं थीं। इन मानवीय विपत्तियाँ को जातकों में नाग की संज्ञा दी गयी है। वे नाग संभवतः वे डाकू लोग ही थे जो नावों-जहाजों को लूटकर ही अपनी जीविका चलाते थे। अफ्रीका और अरब के समुद्री किनारे तो "वहाँ के सरदारों के अधीन रहने वाले, लम्बी-चौड़ी कदकाठी वाले लुटेरों से भरपूर[८] थे।" टॉलेमी बम्बई के नजदीक स्थित चाल से बंगलोर तक के कोंकणी किनारे को

---

(१) जातक, फॉसबाल, जिल्द, ४, पृष्ठ १५-१७।

(२) जातक, फॉसबाल, जिल्द ३, पृष्ठ ४०३।

(३) वहीं, जिल्द २, पृष्ठ १०३; जिल्द, ३, पृष्ठ २६; जिल्द ४, पृष्ठ ६५।

(४) जातक, जिल्द २, पृष्ठ १२७ और आगे; जिल्द ३, पृष्ठ १४५; जिल्द ४, पृष्ठ १३६ और आगे; महाभारत, आदि पर्व, २०, २२।

(५) अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, १६वाँ अध्याय।

(६) ४०वाँ, स्कॉफ् का अनुवाद, पृष्ठ ३८।

(७) वहीं, २०वाँ, स्कॉफ् का अनुवाद, पृष्ठ २९-३०।

(८) वहीं, १६वाँ; २०वाँ।

समुद्री डाकुओं का प्रधान क्षेत्र कहता है। **अर्थशास्त्र**[1] की अनुशंसा है कि इन समुद्री डाकुओं को देखते ही मार दिया जाना चाहिए। बीच समुद्र में जहाज मारे न जाँय, इस हेतु जलनियामक (समुद्री मार्गदर्शक) की सेवाएँ भी व्यापारिओं द्वारा ली जाती थीं। सूर्पारक (सोपारा) नामक बन्दरगाह में वाणिज्यिकों का एक ऐसा समूह था जो ऐसे जलनियामक लोगों को हमेशा अपनी सेवा में रखता था और उन्हें पारिश्रमिक के बदले समुद्री व्यापारिओं को देता था। उनमें सुप्पारक कुमार[2] नामक एक ऐसा कुशल जलनियामक था, जिसके किसी जहाज पर रहते वह कभी डूबता ही नहीं था। समुद्र में जहाजों के डूबने का एक प्रमुख कारण समुद्री तूफानों का होना भी था। फा-श्येन् जब सिंहल से चीन तक की अपनी वापसी यात्रा में चला तो बीच समुद्र में एक ऐसे तूफान में उसका जहाज फँसा, जिस पर अन्य २०० और भी यात्री सवार थे। जहाज में पानी घुसने लगा और उसमें से उसने तथा अन्य साथियों ने अपना अपना सामान समुद्र में फेंकना प्रारम्भ कर दिया तथा उसका बोझ हल्का किया।[3]

मौर्य शासकों के अधीन समुद्री व्यापार और परिवहन का नियमन **नावाध्यक्ष** नामक अधिकारी करता था। जलयानों की रक्षा, समुद्री मार्गों की सुरक्षा तथा मौसम की मार से मारे गये जहाजिओं के प्रति पितृवत् करुणा दिखाना उसके कर्तव्यों में था।[4]

राजकीय नियन्त्रण

मौर्य युग (**अर्थशास्त्र**) के पूर्व व्यापार और वाणिज्य पर राजकीय नियन्त्रण कितना था, उसका प्रारम्भ कब हुआ और उसमें वृद्धि किस क्रम अथवा किस गति से हुई, इसका कोई बहुत स्पष्ट चित्र नहीं दिखायी देता। सिन्धु घाटी की पूर्ववर्त्ती और पश्चात्वर्त्ती सभ्यताओं को सड़कों और उनके निर्माण की जानकारी थी तथा उनके माध्यम से अथवा बन्दरगाहों सहित जलीय मार्गों से भी व्यापार का संचरण तो था, किन्तु पूरी जानकारी के अभाव में यह कहना कठिन है कि उनके पीछे कोई सामाजिक अथवा राजकीय नियन्त्रण था या नहीं। वैदिक युग के गाँवों में अपनी आवश्यकताभर की प्रायः सभी वस्तुओं की प्राप्ति आसानी से हो जाने के कारण और उनकी स्वयंपूर्ति तथा स्वतःपूर्ति के होते उनके क्रियाकलापों में किसी अन्य अथवा बाहरी तत्त्व के हस्तक्षेप की गुंजाइश कम ही थी। किन्तु उत्तरवैदिक युग में आन्तरिक और बाह्य व्यापार का स्वरूप पहले की अपेक्षा काफी विकसित हो गया और इन क्षेत्रों में शक्तिधारी संस्थाओं द्वारा कुछ हस्तक्षेप और नियन्त्रण अवश्य होने लगा। **वाल्मीकि रामायण** (अयोध्याकाण्ड, १००वाँ अध्याय) तथा **महाभारत** (शान्तिपर्व, ६८वाँ अध्याय) इस बात की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं कि राजा द्वारा व्यापारिओं को दी जाने वाली सुरक्षा के बदले ही वह उनसे कर (शुल्क), बिक्री कर, आने वाले सामानों पर कर, मुनाफे पर कर और भोग विलास कर वसूलता था। यदि व्यापारिओं द्वारा कोई भूलें की जाती थीं तो उन्हें दण्डित (अर्थदण्ड द्वारा) भी किया जाता था। स्पष्ट है कि व्यापार पर राजकीय नियंत्रण

---

(१) अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, २८वाँ अध्याय। वहाँ का उद्धरण-हिंसिका निर्घायेत्। अमित्र विषयातिगाः पण्यपत्तन वारित्रोपघातिकाश्च।

(२) जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृष्ट १३७।

(३) विशुद्धानन्द पाठक, पाँचवी-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृष्ठ २७; लेगी, पृष्ट, १११-११३।

(४) अर्थ., द्वितीय अधिकरण, २८वाँ अध्याय, ४५वाँ प्रकरण-कथित है - गूढ़वाताहतां तां पितेवानुगृह्णीयात्।

प्रारम्भ हो चुके थे।

धर्मसूत्रों में यह स्पष्ट विधान है कि स्वयं व्यापारिओं को ही अपने-अपने वर्गों के लिए व्यापारिक नियमों का विधान करना चाहिए।[1] ये कार्य अब श्रेणियों द्वारा किये जाने लगे, किन्तु विवाद की स्थिति में अन्तिम निर्णय राजा के हाथों में ही था। इन ग्रन्थों[2] में सूद कितनी हो, इसकी विभिन्न मात्राएँ बतायी गयी हैं। राजा को १/२० अथवा १/६० तक वस्तु कर लगाने की अनुशंसा की गयी है। व्यापारी को प्रत्येक माह अपने व्यापारिक माल की कोई एक वस्तु राजा को उस वस्तु के बाजार मूल्य से कम पर देने की भी व्यवस्था[3] है। बौधायन[4] का कथन है कि समुद्र के रास्ते लाये गये माल पर दस प्रतिशत कर लगाया जाना चाहिए तथा अन्य वस्तुओं पर उसके मूल मूल्य के अनुपात में कर लगना चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी निर्देश है कि व्यापारिओं का किसी भी दशा में उत्पीड़न नहीं होना चाहिए।

बुद्ध युग में व्यापार पर राजकीय नियंत्रण और खरीद-फरोख्त की आचार संहिता के व्यापक निर्देश हैं। **सुप्पारक जातक**[5] के अनुसार व्यापारिओं पर राज्य द्वारा जो कर लगाये जाते थे उनकी वसूली राज्याधिकारिओं के माध्यम से होती थी। दोषी व्यापारिओं पर लगाया जाने वाला राजकीय अर्थदण्ड[6]; व्यापारिओं द्वारा राजकीय उपयोग के लिए खरीदी जाने वाली वस्तुओं के लिए मूल्यनिर्धारक (अपघकारक) की नियुक्ति और व्यापारिओं के हितों की रक्षा के उद्देश्य से श्रेणीमुख्यों की राजदरबार में उपस्थिति जैसे अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि जनपद अथवा महाजनपद राज्यों में भी व्यापार नियंत्रण की प्रवृत्ति बद्धमूल हो चुकी थीं।

मौर्य युग भारतीय इतिहास के साम्राज्यवादी युग का एक महत्त्वपूर्ण काल था जब अफगानिस्तान से मैसूर तक तथा गुजरात से कलिंग तक का सारा क्षेत्र एक शक्तिशाली राजतंत्र के अधीन आबद्ध था। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** एक बृहद् साम्राज्य के आर्थिक ताने-बाने का चित्रण करता हुआ व्यापारिक और वाणिज्यिक नियंत्रणों का एक विस्तृत विवरण देता है। **अर्थशास्त्र** के अनुसार राज्य स्वयं भी अनेक वाणिज्यिक उपक्रमों तथा उद्योगों के जनक, नियामक, खरीददार और विक्रेता के रूप में उपस्थित होता था। अनेक क्षेत्र तो ऐसे थे जिन पर राज्य का एकाधिकार था। यहाँ कुछ थोड़े से ही व्यापारिक-व्यावसायिक और वाणिज्यिक क्षेत्रों के राज्य द्वारा नियंत्रण का उल्लेख किया जा सकेगा। इस नियंत्रण का मूल उद्देश्य यह था कि राज्य की आय में किसी प्रकार की कमी न होने पाये। राज्य का कोष सात स्रोतों पर निर्भर था – दुर्ग, राष्ट्र, खानें, सिंचाई के स्रोत (सेतु), वन, व्रज, और व्यापारपथ[7] (वाणिक्पथ) और उन्हीं के आधार पर राज्य का आय-व्ययक बनता था। इनसे

(१) गौतम, दसवाँ, ५-६; आपस्तम्ब, प्रथम, १०.१२; द्वितीय, १०, १७।

(२) आपस्तम्ब, १२वाँ, २६-४७।

(३) गौतम, दसवाँ, २५।

(४) प्रथम, १०.१८; प्रथम, १४.१५।

(५) जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृष्ठ १३२।

(६) जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृष्ठ ३३६; जिल्द ६, पृष्ठ ४३६।

(७) समाहर्त्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत्। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, ६.२४वाँ प्रकरण।

होने वाली आयकर या शुल्क से अधिक राजकीय उपक्रमों से प्राप्त होती थी। आय के सभी स्रोतों को मिलाकर उन्हें **आयशरीर** कहा गया है। पुनः उनके सात विभाग किये गये हैं जिन्हें **आयमुख**[1] की संज्ञा दी गयी है। वे थे मूल्य = राजकीय उपक्रमों से जनित वस्तुओं की बिक्री से होने वाली आय; भाग = प्रजाओं द्वारा उत्पन्न खेती से होने वाली आय; व्याजि = सभी प्रकार के विक्रयों पर लगाया जाने वाला कर; परिघ = राजकीय वस्तुओं को प्रतियोगिता से बचाने हेतु एक प्रकार का संरक्षण कर; क्लृप्त = नदियों के किनारों पर लगाया जाने वाला निश्चित मात्रा का एक देय; रूपिक = वस्तु निर्माताओं पर लगाया जाने वाला अधिभार और अत्यय = दण्डात्मक वसूली। आन्तरिक और बाह्य व्यापार पूरी तरह व्यक्तिगत हाथों में न होकर राज्य के हाथों में भी होता था और उसके नियमन के उपाय बहुत व्यापक और कठोर थे। राज्य जिन वस्तुओं का व्यापार स्वयं करता था, उन्हें राजपण्य कहा जाता था, जो या तो स्वभूमिज (अपने ही देश में उत्पन्न) अथवा परभूमिज (विदेशों में उत्पन्न) होते थे।[2] देशी माल एक ही स्थान पर संभवतः राजधानी में बेचें जाते थे, जहाँ सभी प्रकार की वस्तुओं का भण्डारण होता था। किन्तु विदेशी माल भिन्न-भिन्न स्थानों पर बेंचे जाते थे। दोनों ही जगह क्रेताओं के हित का ध्यान रखा जाता था। राजकीय वस्तुएँ राज्य के सेवकों द्वारा बेंची जाती थीं। इन सभी क्रियाकलापों के सबसे बड़े अधिकारी को **पण्याध्यक्ष** कहा जाता था और उसके अधीन अधिकारिओं द्वारा वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जाते थे कि राज्य की आय में कोई घाटा न हो।

बाजार के क्रियाकलापों पर राज्य का पैना नियंत्रण था। इस हेतु राज्य की ओर से **समाहर्त्ता** और **सन्निधाता** नामक केन्द्रीय **तीर्थ** नामधारी अधिकारिओं के अधीन अनेक विभागीय अधिकारिओं=अध्यक्षों की नियुक्ति की गयी थी। उदाहरणों के लिए, **लक्षणाध्यक्ष** (टकसाल की देखरेख करने वाला), **मुद्राध्यक्ष** (खजानची), **सुराध्यक्ष** (आवकारी विभाग का अधिकारी), **सूनाध्यक्ष** (वधशाला का अधिकारी), **वेश्याध्यक्ष** (वेश्याओं के नियमन हेतु नियुक्त अधिकारी), **सीताध्यक्ष** (खेतीबारी से सम्बद्ध अधिकारी), **नावाध्यक्ष** (नौकायन से सम्बद्ध अधिकारी), **विविताध्यक्ष** (गोचर भूमि के प्रबन्ध का अधिकारी) आदि की गिनती और उनके अलग-अलग कार्यों के उल्लेख किये गये हैं।[3] राज्य द्वारा उत्पन्न व्यापारिक वस्तुओं की बिक्री को आगे बढ़ाने वाले अधिकारी को **पण्याध्यक्ष** कहा जाता था। करों (शुल्कों) को विशेष-विशेष स्थानों, विशेषतः नगरद्वारों पर वसूलने वाले अधिकारी की संज्ञा थी **शुल्काध्यक्ष**। बाहर से व्यापारिक वस्तुएँ ले आने वाले लोगों को उन वस्तुओं का निरीक्षण और परीक्षण **अन्तपाल** (सीमाओं पर नियुक्त) से कराना होता था। खानों से खुदाई, उनके खनिजों का निर्माणात्मक उपयोग, उनसे उत्पन्न धातुओं की बिक्री, उनकी पूरी संगणना और हिसाव-किताब तथा उनका दोहन पूरी तरह राज्य के एकाधिकार में था और इन सबके प्रबन्ध के लिए **खन्यध्यक्ष** नामक अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी। बाजरों में साधारण

---

(१) मूलं भागो व्याजिः परिघः क्लृप्तं रूपिकमत्ययश्चायमुखम्। वहीं।

(२) अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, १६वाँ अध्याय, ३४वाँ प्रकरण।

(३) अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, ६ठाँ अध्याय, २४वाँ प्रकरण।

व्यक्तियों को ठगी, घटतौल और इस प्रकार की अन्य धोखेधड़ी से बचाने हेतु **संस्थाध्यक्ष** नामक एक अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी। प्रत्येक व्यापारिक चाल पर उसकी दृष्टि रहती थी और दोषिओं को दण्डित करने का उसे अधिकार प्राप्त था।

राज्य यह भलीभाँति समझता था कि वाणिज्य और व्यापार (वणिक्पथ) राजकीय आय का एक प्रधान स्रोत है। अतः उनमें लगे लोगों के हितों की रक्षा के प्रति वह सततरूप से जागरूक था। **अर्थशास्त्र** के चतुर्थ अधिकरण के कष्टकशोधन नामक प्रकरण में समाज के विभिन्न वर्गों की रक्षा, अनेक प्रकार के दोषों के दण्डविधान और राजकीय देखरेख के विशद विवरण प्राप्त होते हैं। व्यापारिओं के माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हुए यदि चोरी चले जाँय, नष्ट हो जाँय या चोरों-डाकुओं द्वारा लूट लिये जाँय तो ग्रामभोजक और मार्गनियामक सहित घटना के स्थान वाले अधिकारिओं को हानि अथवा दोष की मात्रा के अनुरूप दण्डित किया जाता था।

मनुस्मृति[१] का स्पष्ट निर्देश है कि व्यापारिओं पर कर लगाते समय उनके खरीद मूल्य, विक्रय मूल्य, सेवकों को दी गयी सेवाकाई, राहखर्च सहित अन्य खर्चों तथा उनके योगक्षेम का ध्यान रखते हुए ही कर का निर्धारण किया जाना चाहिए। यदि राजा मृयमाण भी हो तो भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से उसे कर नहीं वसूलना चाहिए।[२] भूमि में गड़ी हुई किसी भी सम्पत्ति, सोना-चाँदी आदि अन्य द्रव्य पर राजा का ही अधिकार होता है, यह सिद्धान्त कौटिल्य के समय से ही चला आ रहा था। **मनुस्मृति** भी इसका उल्लेख करते हुए इस बात की ओर अलग-अलग निर्देश करती है कि कौन सी प्राप्ति किसके द्वारा की गयी, उसका स्वरूप क्या है और उसे प्राप्त करने वाले की प्राप्ति के बाद नीयत कैसी रही, उसने राज्याधिकारिओं को कितनी सूचना दी अथवा नहीं दीं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ही उस धन के प्राप्तकर्त्ता को उसका कितना भाग दे दिया जाय और कितना भाग राज्य का हो जाय, अथवा उसे कितना दण्ड दिया जाय[३] आदि बातों का निर्णय किया जाता था। यदि कोई व्यक्ति राज्य के एकाधिकार वाली किसी वस्तु का अनधिकृत निर्यात करता हुआ पाया जाता तो उस पूरी वस्तु को राज्य को छीन लेने का अधिकार था।[४] मनु का कथन[५] है कि सभी पण्यों (व्यापारिक वस्तुओं) की जानकारी रखने वाले कुशल करनिरीक्षकों और संग्राहकों की निश्चित स्थानों पर नियुक्ति की जानी चाहिए। पुनः ज्ञात है कि क्रय-विक्रय[६] के सिद्धान्त में जिन स्थानों अथवा मार्गों की करवसूली की दृष्टि से मनाही थी उनसे चोरी-छिपे माल ले जाने पर दण्ड का निश्चित विधान था। आगम (आयात क्षेत्र), निर्गम (निगमन क्षेत्र), वृद्धि (लाभ), क्षय, (हानि) आदि बातों का विचार आवश्यक है।[७] बाजारों में अच्छे माल के साथ बुरे, खराब, सड़े-गले अथवा नकली माल के अपमिश्रण के अन्यायन्यस्वरूपों की चर्चा तथा

(१) क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वजिजां दापयेत्करान्। अध्याय ७.१२७।
(२) वहीं, ६, १३३-१३४।
(३) ७.३५.३६।
(४) राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानिच। तान् निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः।। ८.३६६।
(५) ८.३६८।
(६) शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रय-विक्रयी। मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्। मनु.।। ८.४००।
(७) ८.४०१।

उनके लिए राज्य की ओर से दिये जाने वाले अनेक प्रकार के दण्डों के विधान मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में विस्तृतरूप में दिये गये हैं।[1] इसी प्रकार घटतौली हेतु भी दण्ड विधान हैं।[2]

आगे शककुषाणों और आंध्रसातवाहनों के युग में भी देशी और विदेशी व्यापार अबाधगति से चलता रहा। किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उस समय किस प्रकार के राजकीय नियंत्रण वाणिज्य और व्यापार के क्षेत्रों में लागू थे। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि धर्मशास्त्रीय (स्मृतियों के) निर्देश यथावत् लागू रहे होंगे। गुप्त सम्राटों के समय लोगों के व्यक्तिगत, सामाजिक और व्यापारिक-वाणिज्यिक क्रियाकलापों में बहुत ही कम हस्तक्षेप था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय भारतवर्ष की यात्रा करने वाला चीनी धर्मयात्री फा-श्येन् का कथन[3] है कि न्यास, धरोहर, जमा धन और गिरवी आदि के सम्बन्ध में राज्याधिकारिओं के यहाँ न तो कोई निबन्धन होता था और न किसी की गवाही। लोग एक दूसरे का पूरी तरह विश्वास करते थे और धोखे का कोई भय नहीं था। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रीय विधानों का प्रचलन पूरी तरह व्याप्त था और व्यापार-वाणिज्य क्षेत्र में उनके उल्लंघनों के लिए राज्य की ओर से दण्डविधान थे। श्रेणियों और संघों को पूरी राजकीय मान्यता प्राप्त थी और वे अपने-अपने सदस्यों के लिए स्वयं ही नियम बनाते थे और उनका पालन कराते थे। इन नियमों को श्रेणीधर्म कहा जाता था और राज्य मुकदमों का निबटारा करते समय उन नियमों के आधार पर ही निर्णय सुनाता[4] था। गुप्त अभिलेखों में श्रेणियों की राजकीय मान्यता के स्पष्ट उल्लेख हैं और नगर के शासन में उनका प्रतिनिधित्त्व होता[5] था।

तथापि गुप्तयुगीन स्मृतियों-नारद और वृहस्पति – में व्यापार नियंत्रण के अनेक संदर्भ प्राप्त होते हैं। नारद का विधान है कि बाहर से व्यापार करके लौटे हुए व्यापारी का यदि अकस्मात् निधन हो जाय तो राज्य को उसके माल और धन की रक्षा करके उसके उत्तराधिकारिओं को सौंप देना चाहिए। उत्तराधिकारी के अभाव में व्यापारी के संबन्धिओं को देना और यदि कोई दावेदार न आये तो दस वर्षों तक उस सम्पत्ति को बचाकर रखते हुए उसे राज्य की सम्पत्ति के रूप में रख लेना चाहिए। व्यापारिओं के बीच वस्तुओं के क्रय विक्रय के संबंध में नारद स्मृति का कथन[6] है कि यदि कोई व्यक्ति एक निश्चित मूल्य पर किसी विक्रेता से कोई वस्तु खरीदे और पुनः उसे ठीक न समझे तथा उस वस्तु की बिना किसी क्षति किये उसी दिन उसे लौटा दे तो उसकी पूरी कीमत वापस पा जायगा; यदि दूसरे दिन लौटाता है तो उसके मूल्य का १/३० भाग उसे नहीं मिलेगा, तीसरे दिन वैसा करने पर १/१५ से उसे हाथ धोना पड़ेगा और तीन दिन के बाद तो क्रेता विक्रेता को विक्रीत वस्तु लौटा ही नहीं सकेगा। निष्कर्ष यह कि किसी भी वस्तु का क्रय करते समय पूरी तरह उसे

(१) मनु. ८.२०३; याज्ञ., व्यवहाराध्याय, २४५-२४६।

(२) याज्ञ., व्यवहाराध्याय, २४४।

(३) विशुद्धानन्द पाठक, पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों का भारत, पृष्ठ १५।

(४) जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्चधर्मवित्। निरीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्।। मनु., अष्टम ४१।

(५) एपि. इण्डिका, जिल्द १८, पृ. १५६, प्रथम अभिलेख।

(६) ६.२।

देखकर, उसकी परीक्षाकर और भलीभांति आश्वस्त होकर ही क्रेता को सौदा तय करना चाहिए। क्रय की गयी भिन्न भिन्न वस्तुओं की परीक्षा की अवधि भिन्न भिन्न बतायी गयी है।[१] किन्तु वृहस्पति का निर्देश है कि क्रेता को स्वयं और दूसरों को दिखाकर, पूरी तरह संतुष्ट होकर ही कोई वस्तु क्रय करना चाहिए क्योंकि एक बार खरीदी हुई वस्तु पुनः विक्रेता को लौटायी नहीं जा सकती।[२] किन्तु यदि कोई विक्रेता धोखे से, वस्तु दोष को छिपाकर कोई वस्तु बेंच दे तो उसे वस्तुमूल्य का दुगुना दण्ड देना होता था।[३] स्पष्ट है कि बाजार में बेइमानी, धोखाधड़ी और चोरी का अभाव नहीं था। **मृच्छकटिक** का उल्लेख है कि व्यापारी धोखेबाज न हो, सुनार चोर न हो और वेश्या लालची न हो, ऐसा तो असंभव है।[४] इस कारण मिलावट अथवा धोखेधड़ी द्वारा बिक्री को दण्डित करने के विधान उपर्युक्त दोनों ही स्मृतियों में दिये गये हैं। साथ ही बृहस्पति[५] का यह भी निर्देश है कि यदि कोई वस्तु उन्मत्त व्यक्ति द्वारा बेंची गयी हो, अथवा बहुत कम मूल्य पर बेंची गयी हो, अथवा ऐसे व्यक्ति द्वारा बेंची गयी हो जो उसका मालिक ही न हो, अथवा किसी जन्मजात मूर्ख द्वारा बेंची गयी हो, उसे क्रेता से बलपूर्वक भी छीन लिया जा सकता है। वस्तुओं के मूल्यनिर्धारण के सिद्धान्त भी प्राप्त होते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मौर्य युग की तरह राज्य की ओर से वस्तुओं का मूल्यनिर्धारण किया जाता था।

व्यावसायिक संघ

श्रेणी- श्रेष्ठिओं (सेठों) के उल्लेख समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य में भरे पड़े हैं। ऐसा स्पष्ट सा प्रतीत होता है कि व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में राजकीय नियंत्रण प्रारंभ होने के पूर्व भी ऐसे अनेक अराजकीय संगठन थे जो अपने अपने क्षेत्रों में व्यापार का स्वयं नियंत्रण करते थे। इन संगठनों में सर्वप्रमुख था **श्रेणी** नामक संगठन जो किसी एक ही व्यवसाय में लगे उन लोगों का समूह था जो एक जाति के न होकर विभिन्न जातियों के हो सकते थे। जातकों में १८ श्रेणियों के उल्लेख[६] प्राप्त होते हैं। **वाल्मीकि रामायण** में श्रेणी[७]-मुख्यों का उल्लेख है जो राजा अथवा युवराज के राज्याभिषेक के समय उस समय की धार्मिक क्रियाओं में उपस्थित होते थे। इन श्रेणी-मुख्यों ने राम की लंका से अयोध्या लौटते समय अगवानी की थी (वा.रा. युद्धकाण्ड)। स्मृतियों और बाद के अनेक ग्रंथों में **श्रेणी** की परिभाषाएँ दी गयी हैं। **मनुस्मृति**[८] के अनुसार वणिक्, शिल्पी, सूदखोर अथवा चार विद्याओं में निष्णत लोगों का संगठन **श्रेणी** कहलाता था। **नारद** और **याज्ञवल्क्य**[९] स्मृतियों के अनुसार

---

(१) वहीं, नवाँ, २, ३, ४, ५।

(२) वृहस्पतिस्मृति, १८वाँ, ६।

(३) वहीं, १८वाँ, ३।

(४) उद्धृत, शचीन्द्रनाथ मैती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १६४।

(५) बृहस्पतिस्मृति, २२वाँ, १३; नारद, सप्तम, २-३।

(६) मूगपक्ख जातक, फॉसबॉल जिल्द ६, पृष्ठ १४।

(७) अयोध्याकाण्ड ७६.४; १३०.१७।

(८) एक कार्यापन्ना वणिक्कारुकुसीद चातुर्विद्यादयः।। मनु. १.७; १०.२।

(९) आचाराध्याय, ३६१।

भी प्रायः प्रत्येक व्यवसाय की एक सामूहिक संस्था होती थी जो सामुदायिक और सहकारी सिद्धान्तों पर काम करती थीं। आगे चलकर **व्यवहारमयूख**[1] में भी कथित है कि किसी एक जाति का कर्म करने वाले नानाजातीय लोगों के समूह को ही **श्रेणी** कहा जाता है। **अर्थशास्त्र** में श्रेणी, श्रेणीमुख्य और श्रेणीबल की बहुविध चर्चाएँ की गयी हैं। **नारद** और **याज्ञवल्क्य** स्मृतियाँ **पूग, श्रेणी** और **कुल** नामक न्यायालयों का उल्लेख करती हैं और क्रमशः उन्हें व्यवहारविधि (न्याय) के क्षेत्र में अधिक अधिकार देती हैं।[2]

जातकों में लोहार, बढ़ई, चर्मकार, रंगरेज जैसे अपने-अपने रोजगारों में निष्णात लोगों[3] के संगठनों की चर्चाएँ आती हैं जिनके प्रधानों को या तो ज्येट्ठक (ज्येष्ठक) अथवा पमुख (प्रमुख) कहा जाता था। संभवतः ये ही ज्येष्ठक अथवा प्रमुख **वाल्मीकि रामायण** के श्रेणीमुख्य हैं। बुद्धकालीन नगरों में सेट्ठि (श्रेष्ठी=सेठ) नामक ऐसे अनेकानेक बड़े बड़े धनवान और हर तरह से सम्पन्न लोगों के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं जो किसी न किसी उद्योग अथवा व्यवसाय के प्रधान[4] थे। संभवतः श्रेणी का एक ज्येष्ठक अथवा प्रमुख हुआ करता था जो सेट्ठि कहलाता था। बड़े बड़े नगरों में अनेक श्रेणियों के होने के कारण अनेक ज्येष्ठक भी होते रहे होंगे। ऐसे अनेक ज्येष्ठकों के बीच कभी-कभी आपसी तकरार और मतभेद भी होते रहे होंगे, जिन्हें निबटाने का काम संभवतः महाजेष्ठक करता था। श्रावस्ती का सेट्ठि अनाथपिण्डिक ऐसा ही एक महाजेष्ठक[5] था, जिसे एक जातक में महासेट्ठि भी कहा गया है।[6] कदाचित् कोसल राज्य की राजधानी श्रावस्ती की सभी श्रेणियों के ज्येष्ठकों के ऊपर समान रूप से अधिकार रखने वाला व्यक्ति ही महाज्येष्ठक कहलाता था। इस तथ्य की इस उल्लेख से पुष्टि होती है कि जब उसने बुद्ध भगवान् को जेत राजकुमार से जेतवन का बगीचा खरीदकर भेंट करने का उपक्रम किया तो उसके साथ ५०० अन्य श्रेष्ठीजन भी सम्मिलित थे।[7] श्रेष्ठी लोग राजदरबार में प्रतिष्ठा पाते थे और वहाँ वे अपने वर्गों के हित का प्रतिनिधित्त्व करते थे। मगध राज्य में श्रेष्ठी लोग तो राजाओं के कोषाध्यक्ष भी हुआ करते थे।[8] श्रेणियों और ज्येष्ठकों के बारे में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए रिचर्ड फिक्[9] कहते हैं कि ज्येष्ठक श्रेणियों का एक समान रूप से स्वीकृत नेता होता था; राजदरबार में उसे आदर प्राप्त था तथा उद्योगों की एकस्थानीयता थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई न कोई संगठन विद्यमान था जो बुद्ध पूर्व युग से ही चला आ रहा था।

---

(१) नाना जातीयानामेकजातीयं कर्मकुर्वतां समूहाः श्रेणयः।

(२) नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथकुलानि च। पूर्व पूर्व गुरुज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्। याज्ञ, व्यवहाराध्याय, ३०।

(३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृष्ठ २०६।

(४) वही, पृष्ठ २०७।

(५) रा.कु. मुकर्जी, लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ ४६, ७६।

(६) वही, पृष्ठ ४६।

(७) जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृष्ठ ९३।

(८) निग्रोध जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृष्ठ ३७ और आगे।

(९) सु.कु. मैत्रे द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २८३-२८४।

राजदरबार में अपने अपने वर्गों का प्रतिनिधित्त्व करने वाले सेट्ठिवर्ग[1] (श्रेष्ठीवर्ग) कदाचित् पितापुत्र की परंपरा से ही वहाँ रहता था। सेट्ठि अथवा श्रेष्ठी लोगों के कार्यों के स्पष्ट विवरण कहीं भी प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु यह संभव है कि वे राजा को उसकी आर्थिक नीति के निर्धारण में सहायता करते हों। नरेन्द्र वाग्ले[2] के मत में सेट्ठि (श्रेष्ठी) लोगों का कार्य सक्रिय व्यापारिओं को आर्थिक सहायता देकर व्यापार के लिए प्रोत्साहित करना था। वे आधुनिक बैंकों का भी काम करते थे और लोगों को आवश्यकतानुसार कर्ज भी देते थे। सुत्तपिटककालीन प्रमुख सेट्ठियों में श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक के अलावा चम्पा के सोणकोट्टिविंश, साकेत के धनञ्जय और मृगारश्रेष्ठी (विशाखा के श्वसुर) के नाम ज्ञात[3] होते हैं,

व्यापारिक क्षेत्रों में श्रेणियों के अनेक कार्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रेणियों में जो विधान अथवा व्यापारिक नियम कालक्रमानुसार विकसित हुए, उन्हें राजकीय मान्यता प्राप्त थी। ज्येष्ठक अथवा श्रेणीमुख्यों की आज्ञाओं का पालन श्रेणी के सभी सदस्यों द्वारा आवश्यक था। अतः राजदरबारों में उनकी पहुँच और पूछ थी। श्रेणियाँ प्रायः बैंकों का काम करती थीं। उन कार्यों में कर्ज देना; साधारणजनों द्वारा दिये गये दान को प्राप्त करना तथा अपने पास रखे हुए धन पर सूद देना आदि सम्मिलित थे। हुविष्क के शक संवत् २८=११६ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि आटा बनानेवालों (समितकर) की एक श्रेणी के यहाँ बकन (बल्ख) के एक विदेशी द्वारा ब्राह्मणों को भोजन कराने हेतु ५५० पुराण (एक प्रकार का सिक्का) जमा कराया गया था। संभवतः उस जमा राशि के सूद से वह भोजनदान कराया जाता था।

गुप्त अभिलेखों में गुजरात और मालवा की श्रेणियों अर्थात व्यापारिक संघों के उल्लेख हैं। कुमारगुप्त और वन्धुवर्मन् के मन्दसोर अभिलेख में रेशमी वस्त्रों को तैयार करने वाले बुनकरों तथा समुद्रगुप्त के इन्दौर ताम्राभिलेख में तैलिकों की श्रेणियों के उल्लेख हैं जो अपने मूल स्थान (गुजरात) से अन्यत्र (मालवा) चले गये और जिन्होंने अपने गन्तव्य के नये स्थानों में मंदिर-निर्माण हेतु दान दिया। प्रथम कुमारगुप्त के गुप्त संवत् १२४ के दामोदरपुर अभिलेख में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के कोटिवर्ष विषय के नगराधिकारिओं में **सार्थवाह**, **प्रथमकुलिक** और **प्रथमकायस्थ** के साथ **नगरश्रेष्ठि** की नियुक्ति का उल्लेख इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करता है कि नगर शासन में श्रेष्ठिन् लोगों का प्रतिनिधित्त्व पूर्णतया स्थापित हो चुका था।

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** अनेक प्रकार की सेनाओं (बल) में श्रेणीबल की गिनती करते हुए बताता है कि उसे कब और कहाँ युद्ध के मोर्चे पर लगाया जाना चाहिए। कथित है कि

---

(१) सेट्ठानुसेट्ठिनमकुलानमुपुत्ता। महावग्ग, १.९.१।

(२) सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ् बुद्ध, पृष्ठ १४९।

(३) संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ८०-८२; जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ११६, १२१; विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १९९, २०४।

मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल अधिक अच्छा होता है।[1] स्पष्ट है कि श्रेणियों के पास अपनी अपनी सेनाएँ (बल) भी होती थीं, जो उनके स्थानीय प्रशासन सम्बन्धी अधिकारों की सूचक हैं। केन्द्र की शक्ति (राजा) आवश्यकता होने पर इन बलों का प्रयोग करती थी। श्रेणीबल के मुखिया को श्रेणीमुख्य कहा गया है और उसका वेतन हाथियों के सेनानायक (हस्त्यध्यक्ष) के बराबर होता था।

गण – गण नामक संघ कुल से, यहाँ तक कि श्रेणी से भी, बड़ा संघ था जो कई कुलों को मिलाकर बनता था। इसे कुलों का समूह कहा गया है।[2] **मनुस्मृति**[3] के अनुसार जाति, जनपद, श्रेणी और कुल के धर्मों अर्थात् विधियों की परीक्षा करने अर्थात् संज्ञान में लेने के बाद ही राजा को अपनी ओर से किसी विधि-विधान का प्रचलन अथवा निर्णय लेना चाहिए। **याज्ञवल्क्यस्मृति**[4] भी **मनुस्मृति** की इस अनुशंसा को यथावत् स्वीकार करती है। **याज्ञवल्क्यस्मृति** की अपनी टीका (मिताक्षरा) में विज्ञानेश्वर ने **गण** की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह "ग्राम आदि के लोगों का एक जनसमूह था।" अन्यत्र कथित है कि "शस्त्रकार्यों जैसे एक ही कर्म के द्वारा अपनी जीविका चलाने वाले" समूह को **गण** अथवा **व्रात** कहा जाता है। स्पष्ट है कि **गण** शब्द का तात्पर्य मूलतः उन जातियों अथवा किसी एक व्यवसाय में लगे हुए कार्मिकों से था जो सामुदायिक आधार पर इकट्ठे होकर अपने ही व्यापारिक और व्यावसायिक नियमों की परिधि में अपने क्रियाकलाप संचालित करते थे। उनके नियमों अथवा विधियों को राजकीय मान्यता प्राप्त थी और राजा न्याय वितरण में उनको संज्ञान में रखता था।

पूग- **कुल श्रेणी** तथा **गण** की तरह **पूग** भी एक सामुदायिक संगठन था। किन्तु इसके वास्तविक स्वरूप के बारे में मतभेद हैं। र. च. मजूमदार के मत में पूगों और गणों में कोई भेद नहीं था।[5] पाणिनि ने पूगों को "नानाजातीय अनियतवृत्तिवाले, अर्थ और काम की इच्छा से ही अपने कर्मों में लीन संघों" की संज्ञा दी है। पूर्व में वर्णित **कुल** अथवा **श्रेणी** नामक संघों की अपेक्षा **पूग** नामक संघ में भी यह विशेषता थी कि इसमें एक ही स्थान-ग्राम अथवा नगर- में रहने वाली एक ही जाति की नही अपितु सभी जातियों की भागीदारी थी और उनके व्यवसाय भी एक ही न होकर अलग-अलग होते थे, जिन्हें उसके सदस्य बदलते (अनियतवृत्तयः) रहते थे। यह एक मिश्रित समूह था जिसमें बाँधने वाला तन्तु न तो एक जाति का था और न एक व्यवसाय का, अपितु वह एक समान रूप से यह था कि पूग के सदस्य अपने धनोपार्जन के कार्यों में अलग-अलग होते हुए भी एकजुट होकर जुटे रहें। रा.कु. मुकर्जी के शब्दों में "पूग का आधार समान नागरिकता थी, एकभौमिकता थी" और

---

(१) जानपदमेयम् कार्योपगतं तुल्य संघर्षामर्षसिद्धि लाभं च श्रेणी बलं भिन्न बलाच्छे। वहीं।

(२) कुलानां हि समूहस्तु गणः संपरिकीर्तितः। कात्यायन स्मृति।

(३) उनष्टम् ४६।

(४) आचाराध्याय, ३६६।

(५) कारपोरेट लाइफ इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, प्रथम संस्करण १६२२, पृष्ठ १४२।

इसके भीतर एक वृहत्तर सामुदायिक स्वरूप छिपा हुआ था। चूँकि इसका आधार किसी एक जाति अथवा एक व्यवसाय में सीमित नहीं था, धर्मशास्त्रों ने इसे कुल और श्रेणी की अदालतों से विधि और निर्णय सम्बन्धी अधिक मान्यता दी, जिसे राज्य पूरी प्रकार स्वीकार करता था।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि **पूग** एक सीमित अधिकार और कर्तव्य वाला संघ न होकर गाँव अथवा नगर के सभी निवासिओं और उनके नाना प्रकार के व्यवसायों और व्यावसायिक हितों पर नजर रखने वाला, व्यापक विधीय और निर्णय सम्बन्धी अधिकारों से सम्पन्न संघ अथवा संस्था थी, जिसे शास्त्रीय और राजकीय मान्यता सर्वोपरिरूप में प्राप्त थी। इसके सदस्यों में सभी ग्रामवासी न होकर केवल ग्रामवृद्ध अथवा नगरवृद्ध मात्र हुआ करते थे।[2]

कुल – सामाजिक, व्यावसायिक और न्यायिक क्षेत्र में प्राथमिक इकाई कुल की थी।[3] कुलक शब्द का प्रयोग एक न्यायिक अदालत के रूप में हुआ है। उसे ही स्मृतियों में कुलमात्र कहा गया है। कुल न्यायालय के निर्णय, श्रेणी न्यायालय और पूग अदालत के निर्णय, पूग न्यायालय में क्रमशः निर्णय के लिए ले जाये जाते थे। **वृहस्पतिस्मृति**[4] कहती है कि कुल, श्रेणी और गण के न्यायालय सभी राजा के अधीन हैं। व्यवहार अर्थात् मुकदमों के निर्णय में प्रथम वर्णित कुल की अदालत (पूर्वेभ्यः) की अपेक्षा उत्तरवर्त्ती अर्थात् श्रेणी की अदालत अधिक अधिकार सम्पन्न है। उसकी अपेक्षा सबसे उत्तरवर्त्ती अर्थात गण की अदालत अधिक अधिकार सम्पन्न होती है। वहीं इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया[5] है कि कुल, श्रेणी और गणाध्यक्ष और राजा द्वारा अधिकृत अदालत को निर्णयकारक कहा गया है। जो कुल में विचारित नहीं हुआ, उसका विचार श्रेणी में होना चाहिए और श्रेणी के निर्णय को गण में नियुक्त न्यायधीशों द्वारा विचारित किया जाना चाहिए। उसके निर्णय में जो विचरित न हुआ हो वह राजनियुक्त सभ्यों (न्यायिक सभा) द्वारा देखा जाना चाहिए। सबसे ऊपर राजा की ही अदालत थी।

---

(१) नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथकुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरुज्ञेयं व्यवहाराविधी नृणाम्।। याज्ञ. व्यवहाराध्याय, द्वितीय ३०।

(२) बृहस्पति, १.२५-२७; मनु., ८.६२, २५८-२६२; याज्ञ., व्यवहाराध्याय, १५०-१५२; अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, नवाँ अध्याय।

(३) नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानिच।
पूर्वं पूर्वं गुरुज्ञेयं व्यवहारविधी नृणाम्। याज्ञ. व्यवहाराध्याय, द्वितीय, ३०।

(४) कुलानि श्रेणयश्चैव गणास्वाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां पुर्वेभ्यस्तुत्तरोत्तरम्।। बृहस्पतिस्मृति श्लोक ७५, स्मृतिचन्द्रिका, पृष्ठ १२।

(५) कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः।
विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम्।।
गणैश्च श्रेण्य विज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः।
कुलादिम्यो ऽधिका सम्यास्तेऽभ्योऽध्यक्षः स्मृतोऽधिकः।।
वृह. श्लोक ६२; स्मृतिचन्द्रिका, पृ. १५।

याज्ञवल्क्यस्मृति[1] की मिताक्षरा टीका में कथित है कि "ताम्बूलिक, कुविन्द, चर्मकार आदि ज्ञातियों-सम्बन्धियों और बन्धुओं के समूह" को **कुल** कहा जाता है। **अर्थशास्त्र**[2] में कुल के साथ ही कुलसंघ का भी उल्लेख है जो एक राजनीतिक संस्था – एक प्रकार के राज्य-का द्योतक है। का.प्र. जायसवाल ने **अर्थशास्त्र** में वर्णित इस **कुलसंघ** की समानता **महाभारत** के कुलसंघ से दर्शायी है तथा उसे उच्चकुलोत्पन्न अथवा अभिजातजनों के राज्य के रूप में बताया है।

०००

(१) ताम्बूलिक कुविन्दचर्मकारादीनां च कुलानि ज्ञाति-सम्बन्धिबन्धूना समूहाः। याज्ञ., व्यवहाराध्याय के श्लोक ३० की टीका में।

(२) कुलानां हिमवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः। अर्थ., प्रथम अधिकरण, ६वाँ अध्याय।

संक्षिप्त संदर्भग्रंथ सूची

मूल ग्रंथ

अँगुत्तर निकाय	पालिटेक्ट्स् सोसायटी लंदन से ५ जिल्दों में प्रकाशित, मूल पालि पाठ, १८८५-१९०९; अंग्रेजी अनुवाद, एफ.ए, वुर्डवर्ड और ई.एम. हेयर; हिन्दी अनुवाद, कलकत्ता

अर्थशास्त्र	कौटिल्य, संस्कृत पाठ और हिन्दी अनुवाद, उदयवीर शास्त्री पाटेसी; लाहौर, १९२५; सं० आर० शामशास्त्री, मद्रास, १९१२; आर० पी० कांग्ले, मुम्बई-१९६३-१९६६; मूल और हिन्दी अनुवाद; रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी

आपस्तम्ब धर्मसूत्र	सं० : चिन्नस्वामी शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९३२; सं० बूहलर, बाम्बे संस्कृत सीरीज़, तृतीय संस्करण, १९३२

ऋग्वेद	वैदिक यंत्रालय, अजमेर, वि०सं० १९५८

कामन्दक नीतिसार	खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, वि० सं० २००९

कात्यायनस्मृतिसारोद्धार	पा० वा० काणे, ओरियण्टल् बुक एजेन्सी, पुणे

गौतमधर्मसूत्र	सं० : बूहलर - सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट सीरीज़

छान्दोग्योपनिषद्	मूल और हिन्दी अनुवाद- विहारीलाल यमुनाशंकर लखनऊ, १९१३

जातक	पा० टे० सो० से मूल पालि पाठ का संस्करण, फॉसबॉल, छह जिल्दों में; अंग्रेजी अनुवाद, सं० कावेल, पा०टे०सो०, लंदन, छह जिल्दों में

दीघनिकाय	पा०टे०सो० द्वारा लंदन से प्रकाशित ३ जिल्दों में; हिन्दी अनुवाद सारनाथ, १९३६; मूल रोमक अक्षरों में, पाटेसो १८००-१९११

नारद धर्मशास्त्र	सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट सीरीज़, १९१८; पुनर्मुद्रित।

बुद्धचरित	अश्वघोष - मूल और हिन्दी अनुवाद; सूर्यनारायण चौधरी, वाराणसी

बौधायन गृह्यसूत्र — सं० : चिन्नस्वामी शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज़, १६३४

मनुस्मृति — सं० : गंगानाथ झा, राएसो, बंगाल, २ जिल्द, १६३२; अंग्रेजी अनुवाद बूह्लर द्वारा, सैक्रेड बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट सीरीज़, २५ वाँ, १८८६

मज्झिम निकाय — मूल और हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १६८३; रोमक अक्षरों में, पा०टे०सो० लन्दन, ३ जिल्दों में १८८८-१८६६; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, १६३३

महाभारत — शान्तिपर्व, नीलकण्ठ की टीका के साथ, चित्रशाला प्रेस, पूना, १६३६

मिलिन्दपञ्हो — टेंकनर द्वारा संपादित, लन्दन १८८०;

याज्ञवल्क्य स्मृति — संपादित, हरिनारायण आप्टे, पूना १६०३; संपादित, नारायण शास्त्री और जगन्नाथ शास्त्री, वाराणसी १६२४

ललितविस्तर — सं० : लेफ्मानू, हाले, १६०२; अंग्रेजी अनुवाद, राजेन्द्रलाल मित्र, बिब्लियोथिका इण्डिका, १८८६

विनयपिटक — पा०टे०सो० लन्दन द्वारा ६ जिल्दों में मूल पाठ, सं०, १८७७-१८८३; महाबोधि सोसायटी सारनाथ द्वारा १६३५ में हिन्दी अनुवाद

वाल्मीकि रामायण — पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी, मूल और हिन्दी अनुवाद, १६५१

विष्णुस्मृति (मूल और अंग्रेजी अनुवाद) — संपादित, जॉली, सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईस्ट, १६८०-१६८१

बृहस्पति स्मृति — सम्पादित, रंगस्वामी आंयगार, बड़ौदा, १६४१

शुक्रनीतिसार — अनुवाद, बी०के० भट्टाचार्य, इलाहाबाद, १६१४

संयुत्तनिकाय — पा०टे०सो० लन्दन द्वारा मूल पाठ, संपादित, १८८४-१६०४; हिन्दी अनुवाद, महाबोधि सभा, २ जिल्दों में, १६५४-१६५५

सुत्तनिपात — हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १६७७; मूल और हिन्दी अनुवाद, भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, १६५६; रोमक अक्षरों में, पा०टे०सो०, लन्दन, १८८५

आधुनिक ग्रंथ

अग्रवाल धर्मपाल — आर्केलॉजी ऑफ् इण्डिया, नयी दिल्ली १६८१

अग्रवाल ऐण्ड अग्रवाल — भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, १६७३

अग्रवाल वासुदेवशरण — इण्डिया ऐज् नोन टु पाणनि, लखनऊ १६५२; मोतीलाल बनारसीदास, १६७७

अल्तेकर अनन्त सदाशिव — स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १६४६; दिल्ली, १६५५

एरियन् — दि ऐनेवेसिस् ऑफ् अलेक्ज़ाण्डर, लन्दन, १६४६

कनिंघम् अलेक्ज़ाण्डर — क्वायन्स् ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, लन्दन १८६१, वाराणसी, १६६७

कांग्ले आर०पी० — दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग ३, मुम्बई, १६६५

कोसाम्बी डी०डी० — कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन् ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, १६७५

ऐन् इन्ट्रोडक्शन् टु दि स्टडी ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, मुम्बई, १६५६

खेर नरेन्द्रनाथ — ऐग्रेरियन् ऐण्ड फिस्कल् इकॉनॉमी इन दि मौर्यन् एण्ड पोस्ट मौर्यन् टाइम्स्, मोती लाल बनारसी दास, १६७३

गोपाल एच्०एम्० — मौर्यन् पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन, १६३५

गोयल श्रीराम — प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १६८२

गोर्डन डी०एच्० — प्री हिस्टॉरिक् बैकग्राउण्ड ऑफ् दि इण्डस् वैली

घोष अमलानन्द — दि सिटी इन् अर्ली हिस्टॉरिकल् इण्डिया, शिमला, १६७३

घोषाल उपेन्द्रनाथ — ऐग्ररियन् सिस्टम इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कोलकाता, १६३०, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कोलकाता- १६२६

चट्टोपाध्याय ब्रजदुलाल — एसेज इन् ऐंश्येण्ट इण्डियन् इकॉनामिक हिस्ट्री, मुंशीराम मनोहर लाल, १६८७

चाइल्ड गोर्डन् — न्यू लाइट ऑन् दि मोस्ट ऐंश्येण्ट ईस्ट, लन्दन, १६३४

चानना देवराज — स्लेवरी इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, १६५७

चार्ल्सवर्थ एम०पी० — ट्रेड एण्ड कामर्स ऑफ् दि अर्ली रोमन् इम्पायर, कैम्ब्रिज, १९२४

चौधुरी राधाकृष्ण — इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली १९८२

चौधुरी एस०पी० व अन्य (सम्पादित) — एग्रीकल्चर इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, १९६४

जॉली जूलियस् — नारदधर्मशास्त्र आर दि इन्स्टीटयूट्स् ऑफ् नारद, १९८१

झा चन्द्रधर — हिस्ट्री ऐण्ड सोर्सेज़ ऑफ् ला इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९८७

झा द्विजेन्द्रनारायण — प्राचीन भारत, नयी दिल्ली, २०००

रेवेन्यू सिस्टम इन् पोस्ट मौर्यन् एण्ड गुप्ता टाइम्स्, पुन्थी पुस्तक, कोलकाता, १९६७

दास सन्तोष कुमार — दि इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, १९४६

दीक्षित के० एन्० — दी हिस्टॉरिक सिविलाइजेशन् ऑफ् दि इण्ड्स् वैली,

दीक्षितार रामचन्द्र — हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स्, मद्रास, १९२९

टार्न डब्ल्यू० डब्ल्यू० — ग्रीक्स इन् इण्डिया एण्ड बैक्ट्रिया, कैम्ब्रिज, १९३८

डेविड्स् रिज़ — बुद्धिष्ट इण्डिया, कोलकाता, १९५०

पाटकर मधुकर — नारद स्मृति ऐण्ड कात्यायन, ए काम्परैटिव स्टडी इन् जुडीशियल प्रोसीड्योर, मुंशी राम मनोहर लाल, १९७८

पाठक विशुद्धानन्द — पाँचवी -सातवीं शताब्दियों का भारत, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९०

पिगॉट स्टुअर्ट — प्री हिस्टॉरिक इण्डिया, मिडिलसेक्स्, १९५२, १९६१

प्लिनी — नेचुरल हिस्ट्री, सं० : मेहाफ, लिज़्पिग, १८९२

फिक् रिचार्ड — सोशल् एण्ड रेलिजस् कण्डीशन्स् इन नार्थ इष्ट इण्डिया इन् बुद्ध'ज़् टाइम, कोलकाता, १९२०

फ्लीट जान् फेथफुल — कार्पस् इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग १ और २

बनर्जी प्रमथनाथ — पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया

बन्दोपाध्याय एन०सी० — इकॉनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, कोलकाता, १९२५, १९४५

बुच मगनलाल	इकॉनॉमिक लाइफ इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, २ जिल्दों में, १६२४
बोस अतीन्द्रनाथ	सोशल एण्ड रूरल इकॉनॉमी इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, २ भागों में, कोलकाता, १६४२-१६४५
मजूमदार रमेशचन्द्र और पुसालकर अनन्त दत्तात्रेय	दि वेदिक एज़; दि एज़ ऑफ् इम्पीरियल यूनिटी; दि क्लासिकल् एज़, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई
मजूमदार रमेशचन्द्र	कारपोरेट लाइफ् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, कोलकाता, १६२२ (हिन्दी अनुवाद, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, सागर, १६६६; क्लासिकल् एकाउण्ट्स् ऑफ् इण्डिया, कोलकाता १६८१, हिन्दू कॉलोनीज् इन् दि फार ईस्ट, कोलकाता, १६४४
मलालशेखर जी० पी०	ए डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स्, लन्दन, २ जिल्दों में, १६३७-१६३८
मिश्र सच्चिदानन्द	प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम जीवन, गोरखपुर, १६८४
मुखर्जी राधा कुमुद	हिन्दू सिविलाइजेशन, मुम्बई, १६५७
	लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, १६२०
मीराशी वा० विष्णु०	वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख
	कार्पस् इन्स्कृशनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ४
मेहता रतिलाल	प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, मुम्बई, १६३६
मैकडानेल ऐण्ड कीथ	वेदिक इण्डेक्स्, २ भागों में, पुनर्मुद्रित, वाराणसी
मैती शचीन्द्रकुमार	इकॉनॉमिक लाइफ् इन् नार्दर्न इण्डिया इन् दि टाइम ऑफ् दि गुप्तज़, कोलकाता; १६५७
मोरलैण्ड	एग्रेरियन् सिस्टम इन् मुस्लिम इण्डिया
रालिसन् एच्.जी.	इण्टरकोर्स बिटविन् इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, कैम्ब्रिज, १६१६
रामगोपाल	इण्डिया ऑफ् दि वेदिक कल्पसूत्रज़, दिल्ली, १६५२
रेनू लुई	दि सिविलाइजेशन ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, १६८७
रैप्सन ई० जे०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, लन्दन, १६२२
लाहा विमल चरण	हिस्टॉरिकल ज्याग्रफी ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पेरिस, १६५४
लेवी सिल्वाँ	सिनो इण्डियन् स्टडीज्

वाग्ले नरेन्द्रनाथ	सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ् दि बुद्ध
वाग्ची प्रबोधचन्द्र	इण्डिया ऐण्ड चाइना
वार्मिंग्टन् ई०एच्०	कामर्स बिटविन् रोमन् इम्पायर ऐण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज, १६२८
ह्वीलर डब्ल्यू०डब्ल्यू०	अर्ली इण्डिया ऐण्ड पाकिस्तान, मुम्बई, १६५६ फाइव थाउजैण्ड ईयर्स् ऑफ् पाकिस्तान
शाम शास्त्री आर.	इवोल्यूशन् ऑफ् इण्डियन् पॉलिटी
शर्मा गोवर्धन राय	भारतीय संस्कृति के पुरातात्त्विक आधार, वि०सं०, २०४०, नयी दिल्ली
शर्मा रामशरण	लैण्ड रेवेन्यू इन् इण्डिया, ए हिस्टॉरिकल स्टडी, नयी दिल्ली, १६७१ मैटिरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया; अर्बन् डिके इन् इण्डिया (३००-१००० ए.डी.), मुंशीराम मनोहर लाल, १६८७
श्रीवास्तव बलराम लाल	ट्रेड ऐण्ड कामर्स् इन् ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, १६६८
शास्त्री नीलकान्त	एज़ ऑफ् दि मौर्यज् ऐण्ड सातवाहनज्, वाराणसी, १६५२
स्काफ् डब्ल्यू० एच्	पेरिप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन् सी, लन्दन, १६१२; पुनर्मुद्रित, मुंशीराम मनोहर लाल, १६७४
समद्दर जे० एन०	इकॉनॉमिक कन्डीशन्स् ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, ईस्टर्न बुक हाउस, कोलकाता, १६२२; पटना १६८४
सेन विनयचन्द्र	इकॉनॉमिक्स् इन् कौटिल्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १६६७
सरकार दिनेश चन्द्र	सेलेक्ट इन्श्कृप्शन्स्, जिल्द २, कोलकाता, १६४२
सांकलिया एच्०डी०	इण्डियन् आर्केलॉजी टुडे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १६५२
त्रिपाठी प्रभा	प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, वाराणसी